संस्कृत काव्य-शास्त्र में ध्वनिकार
के
पूर्ववर्ती आचार्यों के रसविषयक-सिद्धान्त

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धात्री
पूनम राय

निर्देशिका
डॉ० (श्रीमती) किश्वर जबीं नसरीन
प्रवक्ता
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९२

भूमिका

अनुभूति का जन्म मानवप्राणी के साथ ही हुआ है । प्राणी का अन्तर्जगत असंख्य अनुभूतियों एवं मानव वृत्तियों का ही एक विशाल कोष है । अनुभूति ही जीवन है । काव्यशास्त्र एवं मानस शास्त्र दोनों का मूल लक्ष्य जीवन का अध्ययन करना ही है । अतः दोनों जीवन के ही शास्त्र हैं । मनोविज्ञान को आत्मा, मन, चेतना अथवा मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान कहकर लक्षित किया गया है । जिससे व्यक्ति के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक सभी प्रकार के तत्वों को इसके क्षेत्र के अन्तर्गत समावेश हो जाता है । काव्य शास्त्र में जिन विभिन्न भावनात्मक अनुभूतियों एवं चित्तवृत्तियों का विवेचन प्राप्त होता है, उनका विशुद्ध रूप काव्यात्मक होते हुए भी वे पर्याप्त रूप से मनोवैज्ञानिक आधारशिला पर आधृत प्रतीत होती हैं । संस्कृत काव्य शास्त्र में निरूपित रस संबंधी विवेचन मानव के भावनात्मक अनुभूतियों एवं चित्तवृत्तियों का ही विश्लेषण है ।

आरम्भ से ही साहित्यिक अभिरूचि होने के कारण स्नातकोत्तर उत्तरार्द्ध में साहित्य वर्ग का ही मैंने विशिष्ट अध्ययन विषय के रूप में चयन किया । इस एक सत्र के अध्ययन काल में ही मेरी रूचि संस्कृत काव्यशास्त्र की ओर विशिष्ट रूप से जागृत हुई । संस्कृत काव्यशास्त्र में भी रस-सिद्धान्त ने विशेष रूप से मेरा हृदयावर्जन किया था । इसीलिए रस-सिद्धान्त के ही किसी पक्ष को लेकर नवीन दृष्टि से शोध कार्य में प्रवृत्त होने की मेरी इच्छा थी । सौभाग्य से परम श्रद्धेया डा० के० जे० नसरीन ने 'संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आचार्यों का रस विषयक सिद्धान्त' इस मेरे मनोनुकूल विषय की उद्भावना कर सुरूचिपूर्वक शोध कार्य में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित

किया । उनके मीठे व्यवहार परन्तु तीखे विश्लेषण ने मेरे कठिन कार्य को सुरुचिपूर्ण एवं बोधगम्य बना दिया । मैं उनके ऋण से उऋण तो नहीं हो सकती परन्तु फिर भी अपनी श्रद्धा एवं नमन अर्पित करती हूँ ।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध के निर्बाध सम्पादन में परम पूज्य गुरुप्रवर प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के वचनामृत का यत्किंचित आस्वाद करते हुए मैंने इस विषय में जो थोड़ी बहुत योग्यता अर्जित की उसके लिए उनके प्रति मैं हार्दिक आभार एवं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ ।

इसी श्रृंखला में एक ऐसी कड़ी जो कि ज्ञान के धनी है ऐसे गुरुश्रेष्ठ प्रो० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्व - विद्यालय) के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ ।

इस शोध कार्य के सम्पादन में जिन गुरुजनों ने परम आत्मीयता एवं सद्भावना प्रकट की उन समस्त गुरुजनवृन्द के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ ।

पूज्य पितृमहाभाग से मिली मौलिक चिन्तन की प्रेरणा एवं मातृश्री से मिली भावानात्मक अभिप्रेरणायें मेरे शोध-प्रबन्ध के सफल सम्पादन में प्रेरणाश्रोत बनीं । साथ ही विवाहोपरान्त परिवार के सहयोगात्मक परिवेश जिसमें ज्येष्ठ श्री पी० के० राय एवं श्रीमती उषा राय के प्रोत्साहन समस्त परिवार जनों, समस्त स्निग्ध सहयोगियों जिनके आर्शीवादों, शुभकामनाओं एवं प्रेरणाओं का सम्बल इस काल में मुझे मिलता रहा है, उन सबके प्रति मैं अपना हार्दिक नमन एवं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ ।

शोध-कार्य को अन्तिम स्वरूप प्रदान करने में जिन महाभाग का विशेष सहयोग मिला वे हैं - डा० विजयकुमार राय [प्रवक्ता, राजनीति - विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय] । जिनके अपूर्व सहयोग एवं स्नेह की मैं आजीवन ऋणी रहूँगी, जिनके निरन्तर प्रोत्साहन से मैं यह शोध - प्रबन्ध प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकी हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त ग्रन्थों को उपलब्ध कराने में प्रयाग विश्वविद्यालय, गंगानाथ झा राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास के पुस्तकालय विभाग में कार्यरत विभिन्न कर्मचारियों के प्रति मैं अपना आभार प्रस्तुत करती हूँ, जिससे मेरा कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो सका ।

अन्त के पूर्व छन्द में मैं कुशलतापूर्वक एवं गुणवत्ता पूर्वक इस शोध कार्य को टंकित करने हेतु श्री उमा शंकर पाल को मैं धन्यवाद अर्पित करती हूँ ।

"विद्या अपार निधि है" अतः विषय के प्रस्तुतीकरण में कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गई होंगी । विषय की व्यापकता, विपुलता एवं बहुरूपता को देखते हुए मेरा यह शोध-प्रबन्ध अत्यल्प एवं अत्यन्त न्यून प्रतीत होता है, तथापि मेरी इस सारस्वत समर्चना से संस्कृत साहित्य जगत को यदि कुछ भी परितोष मिलता है तो इसे मैं अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानूँगी ।

अन्त में "त्वदीय वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पयामि" के अनुसार जिन कृपालु प्रभु की कृपा से यह कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ, उसे ही यह कृति समर्पित है । इसमें जो कुछ भी बन पड़ा है वह उनका कृपा प्रसाद है तथा जो कमियाँ हैं वह मेरी बालोचित्त बुद्धि का फल है ।

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।

सुरसरस्वतीसमुपासिका
पूनम राय
[पूनम राय]

विषय - अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

प्रथम अध्याय

संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य - स्वरूप

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्यशरीर और काव्यात्मा जैसे आलंकारिक शब्दों का महत्वपूर्ण स्थान है । ऋग्वेद मण्डल 7 वें सूत्र में वेद पुरुष के रूपक के आधार पर इसकी कल्पना की गई है । काव्य स्वरूप के प्रतिपादन में हमें प्राचीन काल से ही दो धारायें दिखाई देती हैं । व्यास, दण्डी, जयदेव, विश्वनाथ एवं पण्डितराज प्रभृति आचार्य शब्द को काव्य मानते हैं, तो भरत, भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोज, महिमभट्ट, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, वाग्भट, विद्याधर इत्यादि आचार्य शब्द - अर्थ उभय की समष्टि को काव्य स्वीकार करते हैं ।

भरतमुनि ने एक स्थल पर काव्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि गूढ़ शब्द और गूढ़ अर्थ से रहित काव्य होना चाहिए । इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शब्दार्थ समष्टि को काव्य मानने के पक्ष में हैं । दण्डी की काव्य परिभाषा पर व्यास का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । व्यास के अनुसार अभीष्ट अर्थ को संक्षिप में प्रकट कर देने वाले पद समूह को काव्य कहते हैं ।

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतम् ।[1]

संक्षेपाद वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।[2]

दण्डी भी इसी मत को स्वीकार करते हैं -

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।[3]

1- अ0 पु0 337/1

2- अ0 पु0 337/6

3- काद0 पृ0 9

दण्डी के लक्षणगत 'व्यवच्छिन्न का तात्पर्य परिमाप्य - परिमापक भाव से है तो काव्य में शब्द और अर्थ की समान स्थिति हो जाती है ।

आचार्य भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य माना है । राजशेखर वाक्य को काव्य मानते हैं और वाक्य तो पदसमूह ही है किन्तु राजशेखर के अनुसार पद का अर्थ शब्द नहीं अपितु शब्दार्थ उभय है ।

व्याकरणस्मृतिनिर्णीत: शब्दो, निरूक्तनिघण्टुवादिभिनिर्दिष्टप्रदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम् । पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकर: सन्दर्भो वाक्यम् । तदेव वाक्यं स्फुटालंकारगुणविशिष्टदोषवर्जितं काव्यम् । गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम् ।[1]

राजशेखर के आलंकारिक वर्णन के अनुसार शब्द तथा अर्थ काव्य - पुरूष का शरीर है, संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जंघा तथा कटि प्रदेश है पैशाची चरण है, वक्षस्थल निश्रित भाषाएँ हैं । भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ऐसा ही परिलक्षित होता है । इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि काव्य-पुरूष की वाणी उक्तिचणम् में समृद्ध है, काव्य रस उसकी आत्मा है, छंद उसके रोम हैं, प्रश्नोत्तर तथा प्रहेलिका उसके संलाप है, अनुप्रास तथा उपमा इत्यादि उसके अलंकार हैं । सबसे पहले वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था, परवर्ती लेखकों ने इसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया है । अलंकार इत्यादि काव्य के बाह्य अंगों को व्यवस्थित तथा नियमबद्ध किया जा सकता है, यही संस्कृत काव्यालंकार की एक उपलब्धि थी, किन्तु उसके साथ-साथ काव्य की अन्तर्वस्तु अर्थात काव्यात्मा के विविध रूपों की व्याख्या के लिए शास्त्रीय सिद्धान्त की भी अवहेलना नहीं की जा

1- का० मी० पृ० 54, 56, 62

सकती थी । इसलिए काव्य - शरीर के जीवन सिद्धान्त अर्थात् काव्यात्मा के विवेचन का प्रयत्न किया जाने लगा । भामह ने सम्भवतः इसी का अनुभव करते हुए वक्रोक्ति को काव्याभिव्यक्ति का मूलभूत सिद्धान्त कहा, किन्तु आचार्य दण्डी ने एक कदम आगे बढ़ कर गुणों को मार्ग अथवा रीति को प्राण कहा तथा उन्हें काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना । काव्य की आत्मा क्या है ? सम्भवतः सबसे पहले आचार्य वामन ने इस प्रश्न का सूक्ष्म तथा स्पष्ट विवेचन किया । अंत में ध्वनिकार ने काल्पनिक काव्य शरीर तथा काव्यात्मा के परस्पर सम्बन्ध की व्यवस्थित रूप से परिभाषा की । ध्वनि - कार के अनुसार 'व्यंग्यार्थ काव्य की आत्मा है, काव्य गुण साहस की तरह स्वाभाविक गुण है, काव्यालंकार, शारीरिक आभूषणों यथा कंकण-कुंडल के सदृश है । मम्मट ने उपर्युक्त कथन को स्वीकार किया है, तथा परवर्ती सभी लेखकों इसे प्रामाणिक माना है, किन्तु नमिसाधु ने अपनी टीका में इस विषय पर रूद्रट के मत का कथन करते हुए इसे प्रकाशित किया, किन्तु अशुद्ध व्याख्या की है । विश्वनाथ ने इस आलंकारिक संकल्पना को अंतिम रूप में प्रस्तुत किया है ।

क्रमशः विकसित भारतीय काव्य संकल्पना के सूचक इस रूपक अलंकार का मूल्य कुछ भी हो, यह बात स्पष्ट है कि भामह से लेकर जगन्नाथ प्रभृति सभी आचार्यों ने अंत में काव्य की आत्मा का अन्वेषण किया । एकान्त दृष्टि कोण से सभी सिद्धान्त शब्द तथा अर्थ की मीमांसा तथा विशेष रूप से काव्य शक्ति के विवेचन पर ही आधारित हैं ।

भरत के नाट्यशास्त्र के 16 वें अध्याय में काव्यशास्त्र की रूपरेखा के प्रथम बार दर्शन होते हैं । यह रूपरेखा सार रूप में, सम्भवतः प्राचीनतम उपलब्ध काव्य से भी पहले की है, भले ही इसका रचनाकाल इतना पुराना न हो । उक्त अध्याय में यदि काव्यशास्त्र का एक सिद्धान्त नहीं तो एक विकसित मत अवश्य परिलक्षित होता है, जिसमें काव्य के चार अलंकारों, दस गुणों, दस दोषों तथा छत्तीस लक्षणों का वर्णन है । अति प्राचीन काल में प्रत्यक्ष रूप में इस शास्त्र के यही अंग थे । संस्कृत काव्यशास्त्र इतिहास में अन्य सामग्री के अभाव के कारण इसी काल को प्रथम ज्ञात काल माना जा सकता है ।

भरत ने नाट्य शास्त्र में मुख्य रूप से नाट्य तथा तत्सम्बन्धी विषयों का ही प्रतिपादन किया है । परवर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में नाट्य को काव्यशास्त्र का ही अंग मान लिया गया है और तदनुसार नाटक को भी काव्य का ही भेद माना गया है ।

भरत ने काव्यशास्त्र विषयक इस अध्याय के आरम्भ में लक्षणों का निरूपण किया है । ये लक्षण आंशिक रूप से काव्य के औपचारिक तथा आवश्यक अंग प्रतीत होते हैं । भरत ने जिन लक्षणों का विवेचन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में अलंकार की अपेक्षा लक्षण अधिक महत्वपूर्ण थे । परन्तु काव्य शास्त्र के सिद्धान्त में इन लक्षणों को क्या स्थान दिया जाना चाहिए यह बात भरत के विवेचन से ठीक तरह से स्पष्ट नहीं हो पाती । किन्तु परवर्ती काव्य सिद्धान्त में काव्य अलंकारों तथा काव्य गुणों का ही उनके स्थान में प्रयुक्त कर लिया गया है । वी0 राघवन ने लक्षण - विचार पर विस्तृत इतिहास लिखा है ।[1]

किन्तु लक्षण पद्धति का बड़ी जल्दी लोप हो गया अथवा वह काव्यशास्त्र अथवा नाट्य के इतिहास का एक अनावश्यक अवशेष मात्र बनकर रह गई थी ।

भरत के मूलपाठ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लक्षण के सम्बन्ध में दस विभिन्न मतों का उल्लेख किया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षण अथवा भूषण को सामान्यत: काव्यरूपी शरीर का शोभाकार सहज साधन अथवा स्वयं ही काव्य मान लिया गया था । यद्यपि अलंकार की तरह लक्षण का धर्म भी काव्य शोभाकर होता है तथा उसका अपना पृथक अस्तित्व नहीं होता वह अपृथक् सिद्ध होता है, अर्थात् वह स्वयं काव्य को शोभित करता है, किन्तु अलंकार की तरह विशिष्ट शोभा हेतु उसे बाहर से जोड़ा नहीं जाता । इतनी बात तो स्पष्ट है कि आरम्भ से ही अलंकार और लक्षण में आंशिक समानधर्मिता थी । कालान्तर में लक्षण अलंकार में विलीन हो गये ।

भरतमुनि को ही भारत का आदि काव्य शास्त्री एवं नाट्यशास्त्र को काव्यशास्त्र का आदिग्रन्थ माना जाता है । आधुनिक विद्वान भरतमुनि को ईसा पूर्व पहली शताब्दी से ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी के बीच में होना प्रतिपादित करते हैं । भरतमुनि के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक किसी उल्लेखनीय आचार्य का नाम प्राप्त नहीं होता है । भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह का नाम इस क्षेत्र में अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है और भामह के पश्चात् काव्यशास्त्र की गति अद्यपर्यन्त अव्यवहित रूप से प्रवहमान है ।

किसी भी विधा की परिभाषा के लिए यह आवश्यक है कि वह त्रिदोषों (1) अव्याप्ति, (2) अतिव्याप्ति और (3) असम्भव से मुक्त हो तथा संक्षिप्त हो एवं मूल पार्थक्यकारी विशेषता से संवलित हो । वास्तव में किसी भी विधा की परिभाषा में 'क्या होना चाहिए' के स्थान पर 'वह क्या है' पर विचार होना चाहिए ।

काव्य शब्द और अर्थ का संघात होता है, जो भाव एवं कला का प्रतिनिधत्व करता है । समस्त वाङ्गमय में शब्द और अर्थ का संघात होता है । चाहे राजनीतिशास्त्र हो, चाहे भौतिकशास्त्र शब्दार्थ के संयोग के बिना इनका अस्तित्व नहीं है । रसमयता और मृदुललित शब्दावली ही काव्य को उक्त शास्त्र से भिन्न अस्तित्व प्रदान करती है । अत: भरत ने नि:सन्देह ऐसी पदावली को महत्त्व दिया है जो रसमयी {भावपक्ष} हो और मार्दव तथा लालित्य {कला पक्ष} से युक्त हो । अत: स्पष्ट है कि भरत ने काव्य में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों को समान स्थान देने के पक्षपाती प्रतीत होते हैं ।

मृदुललित पदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थ हीनं
जनपद - सुख बोध्यंयुक्तिमत नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरस - मार्गं सन्धि सन्धान युक्तं
भवति हि शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।।[1]

मृदु और ललित पदों से भरी हुई, गूढ़ शब्द और अर्थों से विहीन, जनता के लिए सुखपूर्वक बोधगम्य, युक्तियों से सम्पन्न नृत्य में प्रयुक्त होने योग्य, अनेक रसधाराओं की प्रवाहिका तथा संधियों के सन्धान से युक्त नाटक ही सर्वश्रेष्ठ काव्य होता है ।

1- ना० शा० 16/118

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को भामह निर्मित लक्षण कहकर उद्धृत कर दिया जाता है । परन्तु इस तथाकथित लक्षण में काव्यत्व के व्यवच्छेदक किसी भी धर्म का निर्देश नहीं है । शब्द और अर्थ के सहभाव मात्र को काव्य मानना वाणी के समस्त प्रपंच को काव्य मानना है और यह ऐसी अतिव्याप्ति है, जिसकी आशा भामह जैसे आचार्य से नहीं की जा सकती । दूसरी बात यह है कि 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' दो पूर्ववर्ती एवं परस्पर विरोधी मतों का समन्वय साधक वाक्य है ।

रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित: ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।।
रूपकादिमलंकार बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङ·ां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलङ्·कृतिम् ।।
तदेतदाहु: सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।। [1]

इन कारिकाओं में जो पक्ष उपस्थित किये गये हैं, उन्हीं के समाधान के रूप में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' आया है । इन कारिकाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भामह के समकालीन आलंकारिकों के दो वर्ग थे, जिनमें एक अर्थालंकार को महत्व देता था दूसरा शब्दालंकार को । इसका समर्थन कुन्तक के इस कथन से भी होता है ।

केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतिशय: शब्द एवं केवलं काव्यं इति केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यम् इति ।[2]

1- का0 13/14/15

2- व0 जी0 1/7 [वृत्ति]

कुछ लोगों का मत है कि कवि कौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशयशाली केवल शब्द ही काव्य है और कुछ लोगों का मत है कि रचना वैचित्र्य से चमत्कारी अर्थ ही काव्य है ।

अर्थालंकारवादियों की मान्यता थी कि रूपक, उपमा आदि अर्थालंकार काव्य शोभा के निष्पादक हैं कारण कि काव्य जनित आनन्दानुभूति वस्तुत: अर्थप्रतीति के अनन्तर ही होती है, अत: अर्थाश्रित चमत्कार ही उस आनन्दानुभूति का अव्यवहित उपकारक हो सकता है । स्वभावत: अर्थालंकार का महत्व असन्दिग्ध है ।

इसके अतिरिक्त शब्दालंकारवादियों का महत्त्व यह है कि जब शब्द श्रुतिगोचर हो लेता है तब अर्थ प्रतीति होती है, अत: हृदय पर पहला प्रभाव शब्द का ही पड़ता है और शब्द से ही हृदय आवर्जित और आह्लादित होता है । चूंकि अर्थालंकार की प्रतीति अर्थबोध के बाद होती है इसी से वह बाह्य या गौण है । दूसरा यह कि जिसे अर्थ तक पहुँचने की क्षमता नहीं है वह भी शब्द माधुर्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । अनुप्रास बहुल रचना को सुनकर बिना अर्थ समझे भी लोग फड़क उठते हैं । इस प्रकार सिद्ध है कि काव्य के रसास्वादन की भूमिका शब्दालंकार ही प्रस्तुत करता है, अत: काव्य में उसी की प्रमुखता स्वीकार करनी चाहिए ।

लक्षण के लिए यह आवश्यक है कि वह अव्याप्ति, अनतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से दूर हो । यथासम्भव संक्षिप्त हो तथा सुबोध हो अर्थात् पारिभाषिक शब्दावली से रहित हो, व्याख्या की अपेक्षा न रखता हो । संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास प्रारम्भ से मिलता है, किन्तु आदर्श लक्षण प्रस्तुत नहीं हो सका है ।

भामह के अनुसार शब्द और अर्थ का सहित भाव काव्य कहलाता है । स्पष्ट है कि यह लक्षण केवल काव्यपरक घटित नहीं होता प्रत्येक प्रकार के सार्थक कथन पर लोकवार्ता और शास्त्र-कथन पर भी घटित होता है । शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार के अलंकारों का चमत्कार अभीष्ट है ।

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - - - - - ।।[1]

इस मान्यता के अनुसार भामह सम्मत काव्य का लक्षण हुआ शोभित शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है, निःसन्देह यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है । भामह ने काव्य की परिभाषा को एकांगी बना दिया और उनकी दृष्टि काव्य के कला पक्ष पर ही केन्द्रित होकर रह गयी । भामह के अनुसार जो काव्य की परिभाषा दी गई है अपने आप में पूर्ण नहीं कही जा सकती । इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष स्पष्ट ही परिलक्षित किया जा सकता है । पहली बात तो यह है कि यह लक्षण ज्ञान की किसी भी विधा पर लागू किया जा सकता है क्योंकि दर्शन आयुर्वेद आदि सभी विधाएं शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही है और क्या है ? इन ग्रन्थों में प्रयुक्त पदावली भी अभिलषित अर्थ का बोध कराती है । फलतः समस्त वांगमय ही इस परिभाषा की सीमा में आबद्ध हो जाता है और इस प्रकार सभी विधाओं की काव्य संज्ञा हो जाती है जो कि उचित नहीं है । दूसरे यदि इस परिभाषा को अलग ढंग से व्याख्यायित किया जाये तो सालंकार पदावली ही काव्य संज्ञा से अभिहित होती है ।

1- का० 1/15

वर्णन शक्ति में निपुण कवि प्रतिभा के अनुप्राणन से ही सजीव काव्य लिखने में समर्थ होते हैं । कवि का कर्म ही काव्य है । भामह ने काव्य को कवि का कान्त शरीर ही मान लिया ।

काव्य में सत्ता तो दोनों {शब्दालंकार-अर्थालंकार} की सिद्ध हो गई । दूसरा प्रश्न यह है कि इनमें से किसी एक के द्वारा ही उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि सम्भव है ? भामह का उत्तर है 'नहीं' । न केवल शब्दा - लंकार के सन्निवेश से काव्य में रमणीयता आती है और न अर्थालंकार के सन्नि वेश से । उसके लिए दोनों की अपेक्षा है और इसी को इन्होंने स्पष्ट घोषित किया है कि -

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।[1]

यहाँ पर शब्द और अर्थ केवल शब्द और अर्थ के वाचक नहीं, उनके चारुत्व हेतुओं के भी प्रत्यायक है ।

निष्कर्ष यह है कि भामह ने यहाँ दो मान्यतायें रखीं । एक तो यह कि काव्य में {1} केवल अर्थालंकार ही रहता है, शब्दालंकार नहीं या {2} केवल शब्दालंकार ही रहता है, अर्थालंकार नहीं । यह कहना गलत है । अपितु दोनों रहते हैं । दूसरी मान्यता यह है कि शब्द और अर्थ दोनों पर समान ध्यान देना चाहिए और दोनों के सहभाव से ही उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि हो सकती है ।

यदि शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य होता है तो फिर शताब्दियों की गम्भीर मीमांसा की क्या आवश्यकता है ? अतः शब्द और

1- का0 1/16

अर्थ का सामान्य सहभाव काव्यत्व का निर्धारक नहीं हो सकता; क्योंकि शब्द-अर्थ का सम्बन्ध होने से उसमें साहित्य का कभी अभाव होगा ही नहीं । तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ में या उनके साहित्य में कुछ विशिष्टता अवश्य रहनी चाहिए, तभी वह काव्य कहलायेगा ।

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयो न कथाचिंदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् ।[1]

कुंतक ने कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सदा विद्यमान होने से उनमें साहित्य का कभी अभाव नहीं रहता । अत: साहित्य का अर्थ यहाँ विशिष्ट साहित्य ही अभिप्रेत है । इस वैशिष्टय का निर्देश अलंकारसर्वस्व की टीका में समुद्रबन्ध ने किया है -

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् ।[2]

काव्य शास्त्र का समग्र इतिहास इस वैशिष्टय के अनुसंधान और विश्लेषण का इतिहास है । रमणीयता, चारुत्व, सौन्दर्य, विच्छित्ति, चमत्कार आदि उस वैशिष्टय के पर्याय मात्र हैं और अलंकार गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस, औचित्य आदि उसके रूपभेद

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।[3]

भामह सम्मत काव्य-लक्षण यही है । वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार माना जाता है । यहाँ अलंकार शब्द शोभा या चमत्कार का वाचक है । तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ की वक्रता से वाणी में चमत्कार आता है । वाणी का चमत्कार अर्थात् चमत्कारपूर्ण वाणी ही तो काव्य है

1- व0 जी0 पृ0 25
2- अ0 पृ0 4 {टीका}
3- का0 1/36.

और उसका निष्पादक तत्व है शब्द अर्थ की वक्रता ।

वक्रता समन्वित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं । काव्य के प्राणभूत इस तत्व का निर्देश भामह ने अनेकत्र किया है ।

भामह के शब्दार्थों काव्यम् के आधार पर ही सम्भवत: काव्य को 'साहित्य' नाम से लक्षित किया गया था । सम्भवत: सबसे पहले मुकुल तथा उनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग किया है, शब्द तथा अर्थ के संयोग पर आधारित तथा काव्य साहित्य की पूर्वोक्त परिभाषा को लक्षित करने वाले इस साहित्य शब्द की राजशेखर ने प्राचीन व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है -

शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या ।[1]

कुंतक भी इस व्याख्या से सहमत है । एक मूल अभ्युपगम सिद्धान्त के रूप में शब्द तथा अर्थ का यह साहित्य अथवा संयोग यथोचित परिवर्तन सहित सभी काव्यमतों तथा आचार्यों ने अत्यन्त प्राचीन काल में स्वीकार किया है । दूसरे शब्दों में काव्य एक सार्थक शब्द-प्रबन्ध होता है तथा काव्यालंकारों अर्थात् अभिव्यक्ति के विशिष्ट शोभाकर साधनों द्वारा उसका अलंकरण किया जाता है ।

भामह के ग्रन्थ से काव्य शास्त्र के इतिहास में अनुमानमूलक तथा अनिश्चयमूलक अन्धकार युग की समाप्ति हो जाती है तथा काव्य-सिद्धान्त को एक व्यवस्थित तथा शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है, यद्यपि भामह तथा उनके मतानुयायी उद्भट के ग्रन्थों में शास्त्र का सूक्ष्म विवेक नहीं है ,तथापि कुछ

1- का० मी० पृ० 12.

निष्कर्ष अवश्य निकाले जा सकते हैं । सामान्यत: व्यवहारिक तथा आदर्श ग्रन्थ होने के कारण इनमें शुद्ध सिद्धान्त पक्ष की पर्याप्त मीमांसा नहीं की गई है, तत्कालीन अवस्था में इस प्रकार की मीमांसा की आशा करना व्यर्थ है । अतएव भामह ने कहीं भी काव्य की व्यवस्थित परिभाषा देने अथवा वक्रोक्ति तथावलंकार के सिद्धान्त को स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया है । उनके मतानुयायी वक्रोक्तिजीवितकार ने ही सबसे पहले स्पष्ट रूप में इनकी परिभाषा दी है । भामह के ग्रंथ के प्रथम अध्याय में काव्य के सामान्य लक्षणों तथा भेदों का कथन है, किन्तु अधिकांश में अभिव्यक्ति के सामान्य दोषों का ही वर्णन है ।

दण्डी के अनुसार इष्ट अर्थ से परिपूर्ण पदावली काव्य का शरीर है । दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत और उसके काव्य की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए लिखा है -

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादियन्मयम् ।। [1]

यह सेतुबन्ध प्राकृत भाषा में लिखा प्रवरसेन कवि का प्रबन्ध काव्य है । दण्डी ने उनके सेतुबन्ध काव्य को सूक्तिरत्नों का सागर कहा है अर्थात लोक में काव्य की प्रकृष्टता उसकी तीखी और मार्मिक सूक्तिओं से सिद्ध होती थी । सूक्तियां वाणी का रत्न है और ऐसे रत्नों का सागर वह प्रबन्ध था, जिसे दण्डी ने बिना प्रसंग के अपने काव्यादर्श में स्मरण किया ।

राजशेखर ने सूक्ति अथवा काव्य के अर्थ में सुभाषित शब्द का भी प्रयोग किया है ।

अनवस्थितपाक पुनः कपित्थपाकमामनन्ति ।
तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः ।[2]

भर्तृहरि ने आलोचकों के मात्सर्यग्रस्त और राजाओं के दम्भी हो जाने से सुभाषित (काव्य) के नष्ट होने की आशंका व्यक्त की है ।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ता प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगं सुभाषितम् ।[3]

1- का० द० 1/34

2- का० मी० पृ० 52

3- वैराग्य० 2

काव्य का रस तो निर्भर चित्त से पान के लिए होता था किन्तु काव्य की परीक्षा में उसकी सूक्तियाँ ही अपने भावों, विचारों और भव्य - भणिति के लिए कसौटी पर कसी जाती थी ।

आचार्य दण्डी ने काव्य के शरीर तत्व और उसके अलंकरण साधनों की चर्चा की है । ये अलंकरण साधन हैं गुण और अलंकार । काव्य अथवा काव्य परिभाषा में दण्डी ने स्पष्टतः अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल दिया है, क्योंकि दण्डी के अनुसार शब्द-समूह काव्य या काव्य-शरीर है । अर्थ की इष्टता उस शब्द समूह के काव्यत्व की रति मात्र है । अर्थ की इष्टता के साधन हैं गुण और अलंकार एवं दोषाभाव । क्यों कि गुणों और अलंकारों से समन्वित एवं दोषरहित अर्थ ही इष्ट अथवा हृदयावर्जक हो सकता है । दूसरी ओर पदावली विभिन्न काव्य मार्गों के रूप में स्वयं को प्रकट करती है । इस प्रकार दण्डी की काव्य परिभाषा व्यापक है । उसमें मार्ग विभाग गुणों एवं अलंकारों की स्थिति एवं दोषों के परिहार का अध्याहार स्वतः ही हो जाता है ।

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।।[1]

जगन्नाथ की काव्य परिभाषा दण्डी की काव्य परिभाषा से विशेष रूप से तुलनीय है । उनके अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है । दण्डी ने भी यह बात कही है । परन्तु जहाँ दण्डी का इष्ट

1- का० 1/10

अर्थ केवल हृद्य अथवा विवक्षित अर्थ है, वहाँ जगन्नाथ का रमणीय अर्थ अलौकिक आनन्द का हेतु है और रस सापेक्ष है । दण्डी की काव्य परिभाषा में रस का उल्लेख नहीं है, काव्य की आत्मा का संकेत भी उसमें नहीं है ।

दण्डी काव्य के शोभाकारी {आत्मा} धर्म को अलंकार कहते हैं ।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।[1]

दण्डी की परिभाषा भी भामह की परिभाषा के समान अतिव्याप्ति दोष से व्याप्त है । दूसरा दोष यह है कि शब्दार्थ अलंकार के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए और इस आधार पर काव्य के कला-पक्ष को महत्व देते हुए दृष्टिगत होते हैं । इनकी उक्त परिभाषा अभिव्यंजना की परिभाषा हो सकती है, काव्य की नहीं ।

दण्डी की परिभाषा में काव्य का व्यापक या सूक्ष्म रूप प्रदर्शित नहीं होता अपितु इसका धरातल अतिसाधारण है । फिर भी इस लक्षण का इस दृष्टि से महत्व असंदिग्ध है कि इसमें काव्य-लक्षणों के भावी बीज का वपन हो गया है । दण्डी शब्द अर्थात् पदावली को ही काव्य मानते हैं, शब्दार्थ को नहीं । 'शरीर' शब्द में काव्य-पुरुष रूपक का प्रथम सूत्र प्राप्त होता है । काव्य के स्वरूप का मीमांसन करते हुए दण्डी कहते हैं -

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाहयं ज्योतिरासंसारान्न दीपते ।।
अथ प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ।।[2]

1- काद० 2/1

2- काद० 1/4 - 1/9

यदि शब्द रूपी ज्योति अपना प्रकाश न प्रकाशित करे तो यह समस्त विश्व अन्धकार में डूब जाये । प्राचीन आचार्यों ने काव्य की क्रिया विधि का निबन्धन कर काव्य के शरीर एवं अलंकारों का पृथक-पृथक वर्णन किया है । इष्टार्थ से युक्त पदावली को ही काव्य कहते हैं ।

यद्यपि प्रस्तुत सन्दर्भ में दण्डी ने काव्य के शरीर का ही विवेचन किया है, किन्तु उनका उद्देश्य काव्य का लक्षण भी प्रस्तुत करना है । दण्डी द्वारा प्रस्तुत लक्षण भामह की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है । भामह ने जहाँ काव्य के लिए शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों को आवश्यक मानते हैं वहाँ दण्डी केवल अर्थालंकारों का ही समावेश करते हैं और रसवत् अलंकारों का विवेचन कर काव्य के लिए रस तत्व के प्रति भी आस्था प्रकट करते हैं । अग्राम्यता नामक गुण के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि सभी अलंकार अर्थ में रस का संचार करते हैं ।

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति ।[1]

दण्डी के काव्य लक्षण की सीमा संकुचित ही है । परन्तु भामह के काव्य लक्षण की सीमा से व्यापक है । उन्हें अधिक से अधिक एक उदार अलंकारवादी कहा जा सकता है, कवि होने के नाते जिनकी रसचेतना अपेक्षाकृत उदबुद्ध थी । किन्तु उनका इष्टार्थ अलंकारों से अधिक आगे नहीं बढ़ सका था ।

जहाँ तक काव्य - विषयक सामान्य बातों का सम्बन्ध है, दण्डी तथा भामह के विचारों में अधिक भिन्नता नहीं है । काव्य शरीर अथवा

1- काद0 1/62

शब्द तथा अर्थ के अलंकरण के सम्बन्ध में उनके विचार एक ही हैं । काव्य का सर्ग बंध इत्यादि का जातिभेद निरूपण भी लगभग समान ही है । उल्लेखनीय भेद कथा तथा आख्यायिका के विषय में ही है । दण्डी ने एकान्तिक भेद को स्वीकार नहीं किया है ।

ननु शब्दार्थौ काव्यम्[1]

शब्द तथा अर्थ [इन दोनों का संयोग] काव्य कहलाता है । रूद्रट सम्मत यह काव्यलक्षण भामह सम्मत 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' पर आधारित है । जिसका अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ के सहितभाव को काव्य कहते हैं । यद्यपि ये दोनों व्याख्यापेक्ष हैं, सुगम और सुबोध नहीं हैं, किन्तु फिर भी काव्य लक्षण के सन्दर्भ में शब्द, अर्थ और इनके परस्पर संयोग । भाषा के प्रसंग में शब्द और अर्थ का पारस्परिक संयोग एक अनिवार्य तत्व है । महाभाष्यकार पतंजलि का 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इसी तत्व का सूचक है । अर्थहीन शब्द को 'काव्य' नाम से तो क्या साधारण वार्ता के नाम से भी अभिहित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार अर्थ की सत्ता भी शब्द के अभाव में नितान्त आवश्यक है । जब तक कोई अर्थ शब्द का परिवेश धारण नहीं कर लेता तब तक उसे 'भाव' अथवा 'विचार' की संज्ञा मिलती है, अर्थ की नहीं । भाव अथवा विचार शब्द के माध्यम से ही, दूसरे शब्दों में, जब वे 'अर्थ' की संज्ञा धारण कर लेते हैं, तभी अभिव्यक्ति क्षमता को प्राप्त कर सकतेहैं , अन्यथा नहीं । यह अभिव्यक्ति कहीं साधारण वार्ता मात्र कहलाती है और कभी काव्य इसका आधार है । वक्ता अथवा लेखक की अभिव्यक्ति कला और कल्पना का तारतम्य । निष्कर्षत: सामान्य लोक-भाषा और काव्य दोनों के लिए शब्द और अर्थ का संयोग अनिवार्य है । इस संयोग के बिना इन दोनों का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है ।

रूद्रट के अतिरिक्त वामन, कुन्तक और मम्मट ने भी काव्य स्वरूप के प्रसंग में शब्दार्थौ का प्रयोग किया है -

---

1- का० ल० 2/17.

वामन- काव्यशब्दो यं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते भक्त्या तु शब्दार्थ मात्र वचनोऽत्र गृह्यते ।[1]

कुन्तक- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।[2]

मम्मट- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।[3]

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य पुरुष की चर्चा राजशेखर की काव्य मीमांसा में सम्भवतः सबसे प्रथम उपलब्ध होती है । शब्दार्थ को काव्य शरीर माना गया है । इसके उपरान्त इस रूपक को विश्वनाथ ने निम्नोक्त रूप में प्रचलित किया :-

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्-दोषः, काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानवत्:, अलंकारः कटककुण्डलादिवत् ।[4]

इस प्रकार काव्य स्वरूप के निर्धारण के प्रसंग में शब्दार्थों का प्रयोग किसी न किसी रूप में अनेक प्रख्यात आचार्यों द्वारा किया जाता रहा है । किन्तु कतिपय ऐसे आचार्य भी हैं, जिन्होने अर्थ को ससम्मान स्वीकृत करते हुए भी शब्द अथवा पदावली अथवा वाक्य को काव्यलक्षण प्रसंग में अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया । उदाहरणार्थ दण्डी, विश्वनाथ और जगन्नाथ के निम्नोक्त कथन लीजिए -

---

1- का० सू० 1/1/3

2- व० जी० 1/7

3- का० प्र० 1 उ०

4- सा० द० 1 परि०

दण्डी- शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।[1]

विश्वनाथ- वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[2]

जगन्नाथ- रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।[3]

जगन्नाथ ने इसी प्रसंग में प्रतिपादित किया है कि 'शब्द' को काव्य कहना चाहिए न कि शब्दार्थ को । किन्तु वस्तुतः अकेले 'शब्द' को काव्य कहना समुचित नहीं है । शब्द और काव्य का सहितभाव ही 'काव्य' नाम से अभिहित होने योग्य है । कुंतक के शब्दों में यह सहितभाव तभी संभव है जब वे समान सौन्दर्य को धारण करके एक दूसरे के मित्र रूप में एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं । इन दोनों के सहितभाव की सिद्धि के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, जो यथेष्ट अर्थ को -न इससे न्यून और न इससे अधिक अर्थ को -प्रकट कर सके ।

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदावेव संगतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ।।
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ।।[4]

1- का० द० 1/10

2- सा० द० । परि०

3- रसगंगाधर प्रथम आनन

4- व० जी० पृ० 26 ·

वस्तुत: इसी सहितभाव को लक्ष्य में रखकर काव्य का पर्याय साहित्य माना जाता है - हितेन सहितं साहित्यम्, सहितस्य भाव: साहित्यम् इसी आधार पर राजशेखर ने काव्यशास्त्र को 'साहित्यविद्या' नाम दिया है ।

काव्य लक्षण निर्माण की दृष्टि से रुद्रट का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं है । वे अलंकारवादी आचार्य हैं, फिर भी रुद्रट ने रस को महत्व दिया है ।

रुद्रट के 'शब्दार्थौ काव्यम्' लक्षण से ज्ञात होता है कि उनके समय में काव्य का स्वरूप विवादग्रस्त होगा कि काव्य शब्द में है अथवा अर्थ में ।

काव्यात्मा की समस्या के समाधान में भामह से लेकर रुद्रट तक काव्य तत्वानुसन्धान में एक विशेष प्रकार का क्रम दिखाई देता है और विकास की एक विशिष्ट धारा भी दृष्टिगोचर होती है । भामह एवं रुद्रट ने शब्दार्थ को काव्य का स्वरूप निर्धारित किया अर्थात वे काव्य के लिए शब्द एवं अर्थ दोनों को ही महत्व देते रहे । किन्तु दण्डी को काव्य का इष्ट या चमत्कार केवल शब्द मे दिखाई पड़ा , उन्होंने काव्य की सौन्दर्य चेतना का उदघाटन नहीं किया । इस ओर सर्वप्रथम वामन का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने काव्य के लिए सौन्दर्य तत्व को आवश्यक समझा । वामन ने बताया कि काव्य में सौन्दर्याधायक अलंकार एवं गुणों के ग्रहण एवं दोषों के त्याग को स्वीकार किया है, फिर भी इसके लिए वामन को ही अधिक महत्व दिया जा सकता है । ये सभी आचार्य काव्य के बाह्य तत्व तक ही दृष्टि दौड़ाते रहे उसके आन्तर पक्ष का विश्लेषण नहीं किया । संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में इन्हें शरीरधर्मी आचार्य के नाम से अभिहित किया गया है ।

अलंकृत शब्दार्थयुग्म का नाम है काव्य । सुन्दर शब्दार्थ युग्म भी कह सकते हैं । काव्य शास्त्र के इतिहास में इसकी महती परम्परा में काव्यलक्षण का यही व्यवस्थित रूप है और इसका प्रथम तथा अन्तिम श्रेय केवल वामन को है । मम्मट ने काव्य शास्त्र के तब तक बने प्रत्येक ग्रन्थ को निचोड़कर अपना काव्य-प्रकाश बनाया और इसमें काव्यलक्षण वामन से ही अपनाया । रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, महिमभट्ट, राजशेखर, क्षेमेन्द्र और भोज भी इसी लक्षण को अपनाते हैं । परवर्ती जयदेव, विश्वनाथ, और जगन्नाथ इसका खण्डन करना चाहते हैं, किन्तु वे यदा तदा तक ही सीमित ठहराते हैं । मम्मट का काव्य लक्षण पढ़कर काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी वामन को भुला देते हैं । किन्तु यह एक गम्भीर भ्रान्ति है । मम्मट का काव्य लक्षण वामन के काव्य लक्षण का विकृत प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है ।

मम्मट का काव्य लक्षण दो महान समीक्षकों की मुठभेड़ की मध्यवर्ती बने हुए हैं, एक समीक्षक आनन्दवर्धन और दूसरे कुन्तक । आनन्दवर्धन ध्वनि के समक्ष अलंकार को बिल्कुल नगण्य मानते हैं । कुन्तक का मत है कि अलंकार के बिना काव्य काव्य ही नहीं होता । उनका वाक्य है 'सालंकारस्य काव्यता'। मम्मट दोनों की टक्कर से घबराते हैं और एक समन्वयी क्रम अपनाते हुए, अपने काव्य लक्षण को एक पहेली, एक बन्द ताबीज पहना देते हैं - अनलंकृती पुनः क्वापि । अदोष और सगुण शब्दार्थ कहीं अलंकृत भी हो सकते हैं । कहीं का अर्थ क्या ? यही कि जहाँ ध्वनि, रस, गुणीभूतव्यंग्य आदि दूसरे चमत्कारक तत्त्व हों, वहाँ अलंकार न भी हो, यानि स्फुट न भी रहे तो शब्दार्थ काव्यत्वहीन नहीं होते । गुणों को मम्मट ने अभिनवगुप्त से प्रभावित

ही और आनन्दवर्धन से आगे बढ़ केवल रसधर्म माना था । यहाँ काव्य लक्षण में उन्हें शब्दार्थ धर्म मान लिया । शब्दार्थ गुणों के अभिव्यंजक हैं । इसीलिए शब्दार्थ भी सगुण कहे जा सकते हैं । अदोष कोई ऐसा शब्द नहीं जिसका कि शब्दार्थ युग्म में प्रवेश माना जा सके । इस प्रकार वस्तुतः 'गुणालंकार संस्कृत शब्दार्थ युग्म' में काव्यता की उपपत्ति ही वैज्ञानिक उपपत्ति है । वामन का दृष्टिकोण वस्तुवादी दृष्टिकोण है । इसीलिए वामन रस को रस न मानकर कान्ति नामक गुण मानते हैं । इस प्रकार वामन का चिन्तन संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्य शरीर' और उसके 'सौन्दर्याधायक तत्व' इन दोनों पक्षों की दृष्टि से पूर्ण, प्रथम और अन्तिम चिन्तन है । वामन के चिन्तन में एक इतिहास है, परम्परा है, शोध है और परिष्कार है । इसलिए इनका ग्रन्थ संस्कृत काव्य शास्त्र का एक अतीव महत्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

वामन की 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की कुछ और भी विशेषताएं हैं । प्राचीन सभी ग्रन्थ कारिकाओं तथा पद्यों में निर्मित थे । पद्यों में कभी-कभी अभिव्यक्ति उलझ जाती है क्योंकि उसमें छन्द एवं गीतितत्व का एक महान प्रतिरोध रहता है । यही कारण है कि भरत, दण्डी, भामह के अनेक तथ्य संदिग्ध रह गये हैं । कारिकाओं में लिखे ग्रन्थों को भारतीय वाङ्मय में उतना आदर नहीं दिया जाता था, जितना सूत्रवृत्ति रूप में लिखे ग्रन्थों को ।

आचार्य ने अपने सूत्रों का अर्थ भी स्वयं ही लिखा और तदर्थ सूत्रों पर वृत्ति का निर्माण किया । प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का आधार व्यापक नहीं प्रतीत होता, वह कल्पित है । वामन ने इसे बदला और अपनी स्थापनाओं के लिए भिन्न-भिन्न उदाहरण चुने । ये उदाहरण बड़े ही हृद्य एवं

समृद्ध है । काव्यालंकारसूत्र में आये उदाहरणों की आकर्षकता, अभिजातता और उज्वलता 300 वर्ष बाद कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में या 900 वर्षों के बाद अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द में दिखाई देती है ।

अपने ही पद्यों में उदाहरण प्रस्तुत करने से आचार्यों की जिस एक विशेषता का परिचय मिलता है वह है कवित्व । प्रतीत होता है कि वे कवि भी हैं और उन्हें काव्य निर्माण का उत्तम अभ्यास भी है । स्वनिर्मित पद्य उद्धृत करने वाले भामह, दण्डी को यह श्रेय मिल जाता है । परवर्ती पण्डितराज तो गर्वोक्ति में लिख बैठे हैं -

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित ।
किं सेव्यते सुमनसा मनसादि गन्धः
कस्तूरिका - जननशक्तिभृता मृगेण ।।[1]

भरत, दण्डी , भामह, रुद्रट, उद्भट और पण्डितराज कस्तूरी मृग हैं । देखना है कि वामन की स्थिति क्या है ? वे कोरे भ्रमर ही हैं क्या ?

वामन भी कुशल कवि हैं । अपनी स्थापनाओं के उदाहरण के रूप में तो कोई पद्य नहीं बनाया, किन्तु अपने सिद्धान्तों को कारिकाबद्ध करते समय अपने कवित्व का कौशल भली भांति दिखला दिया है ।

वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र ग्रन्थ में काव्य की परिभाषा में अपने आपको अव्याप्ति दोष से बचाने का सफल प्रयास किया है । किन्तु वे भी काव्य

1- र0 गं0 का मंगल पद्य।

के अन्तस्तत्व तक पहुँचने में सफल नहीं हो पाये । हाँ, वहाँ तक पहुँचने का उपक्रम अवश्य है । वास्तविकता तो यह है कि वामन चाहते हुए भी तात्कालिक परिवेश के कारण अलंकारवाद का सशक्त परिहार और गुणों का स्पष्ट मण्डन नहीं कर पाये और इस प्रकार अपने मन्तव्य में अस्पष्ट रह गये ।

वामन ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है कि 'गुणों तथा अलंकारों से भूषित शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

काव्यशब्दो यं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोवर्तते [1]

उक्त परिभाषा अव्याप्ति दोष से तो मुक्त हो गयी किन्तु गुण और अलंकार को समान स्तर प्रदान कर उन्होंने पहली गलती की और थोड़ी ही देर में वे अलंकार को गुण से श्रेष्ठ मानने की त्रुटि कर बैठे । जब वे कहते हैं 'काव्य अलंकार के द्वारा ग्राह्य होता है ।

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।[2]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य में गुणों का समावेश होते हुए भी यदि उसमें अलंकार नहीं है तो वह ग्राह्य नहीं होता । इससे स्वतः ही अलंकार की प्रधानता सिद्ध हो जाती है । कुछ स्थलों पर ये विरोधाभास से ग्रस्त दिखाई देते हैं । एक ओर तो ये स्पष्ट कह देते हैं कि अलंकार ही सौन्दर्य है और साथ ही यह भी कहते हैं कि सौन्दर्य का काव्य में समावेश दोषों के बहिष्कार तथा गुण और अलंकार के आदान से होता है । यहाँ पर

1- का० सू० 1/1

2- का० सू० 1/1

यह स्पष्ट नहीं कि 'सौन्दर्य' अलंकार का ही नाम है अथवा गुण और अलंकार दोनों की समष्टि का है । वामन 'काव्य शोभा' और 'काव्य 'सौन्दर्य' शब्दों को समानार्थक मान कर चलते हैं अथवा भिन्नार्थक और यदि भिन्नार्थक है तो दोनों शब्दों के अर्थों में क्या और कितना अन्तर है ? वस्तुत: वामन रीति सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण अलंकारों का पल्ला छोड़ने में पूर्णत: सफल नहीं हो पाये । एक ओर तो वे कहते हैं कि 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है' तो दूसरी ओर कह डालते हैं कि अलंकार तो काव्य शोभा के अनित्य धर्म है । केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलंकार नहीं ।

अन्तत: वामन के अनुसार काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो दोष रहित हो तथा जिसमें गुण नित्य रूप से और अलंकार अनित्य रूप से विद्यमान है और इसकी आत्मा है रीति ।

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्', 'सौन्दर्यमलंकार:' । 'स च दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् काव्य शब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोर्शब्दार्थयोर्वर्तते, भक्तया तु शब्दार्थमात्रवचनो - ऽत्र गृह्यते । पूर्वे नित्या: ।[1]

काव्य की आत्मा रीति है । इसे छोड़कर शेष मान्यताओं का परवर्ती आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण पर स्पष्ट प्रभाव है । रीति शब्द व्याख्यापेक्ष है तथा काव्य के अधिकांशत: बाह्य पक्ष का ही द्योतक है । अलंकार और गुणों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वामन लिखते हैं कि -

---

1- का0 सू0 1·1·1, 2, 3, 3·13

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवहीनमगनायाः
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानिसंश्रयन्ते ।।[1]

काव्य यदि केवल गुणों से ही युक्त है तो स्वादु होता है । वामन कहते हैं जैसे ' युवति का रूप' । जो अपने आप में ही स्वादु होता है । यदि इस रूप में 'सदलंकारविकल्प कल्पना' हो तो और भी आकर्षक हो जाता है । इस उक्ति में शृंगार रस है ; अनुप्रास है, उपमा है, छन्द भी बड़ा ही ललित है औपछन्दरसिक । उसमें भी जो पदावली छाँट कर रखी गई है वह प्रवाहपूर्ण और स्वाभाविक है । उसमें अग्राम्यता भी है और स्वयं वामन के अनुसार ओज मिश्रित शैथिल्य भी है । पदों की नृत्यप्रायता भी इसमें है ।

वामन श्लेष में भी सिद्धहस्त हैं । कहा जा चुका है - यमक के भंग से उत्कृष्टता आती है और भंग के तीन क्रम है - शृंखला, परिवर्त्तक तथा चूर्ण । वामन चूर्ण भंग का महत्व बतलाते हुए लिखते हैं ।

जो यमक चूर्ण भंग को प्राप्त नहीं होते वे - यथा स्थान स्थित रहने पर भी अच्छे नहीं लगते । इसमें श्लेष दिखाई पड़ता है । जो यमक चूर्ण भंग को प्राप्त नहीं होते वे अलकों के समान सुशोभित नहीं होते । अलक उन केशों का नाम है, जिनमें सिन्दूर रेखा विराजित रहती है और जिनके कुछ केश लहराते हुए कपाल या कपोल पर बिखरे रहते हैं । चूर्ण का अर्थ है

1- का० सू० 3/1/2 - 1 - 2

सिन्दूर चूर्ण तथा भंग का घुंघरालापन या वक्रता । अवश्य ही इस द्व्यर्थकता पर ध्यान का जाना वामन में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों की अधिष्ठता प्रमाणित करते हैं । इस आशय का उनका पद्य श्लोक निर्माण के अभ्यास में उन्हें पटु बतलाता है

अप्राप्तचूर्णभंगानि यथास्थानस्थितान्यपि ।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति ।।[1]

छन्द अनुष्टुप किन्तु उसमें भी कसावट है । कोई भी पद इसमें व्यर्थ नहीं है । निश्चित ही वामन कवित्व और कविकर्म में अवामन है । इतने पर भी वे उदाहरण अन्य कविओं से लेते हैं । क्यों ?

वयं तु लक्ष्यसिद्धौ परमतानुवादिन: ।
न चैवमतिप्रसंग: लक्ष्यानुसारित्वान्न्यायस्य ।।[2]

गुण तत्व को काव्य में वास्तविक उपादेय ठहरा कर काव्य चिन्तन को भामह - दण्डी से बहुत आगे बढ़ा दिया ।

ये खलु काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणा: ते चौज: प्रसादादय:
न यमकोपमादय: । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् ।
ओज: प्रसाददीनां तु कैवलानागस्ति काव्यशोभाकरत्वम् ।[3]

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है -

रीतिरात्मा काव्यस्य विशिष्टपदरचनारीति: ।

1- का० सू० 4/1/7 {वृत्ति}

2- का० सू० 5/1/17 {वृत्ति}

3- का० सू० 3/1/1

विशिष्ट का अर्थ है गुण युक्त । रीति का अर्थ है गुण से युक्त पद रचना । फलत: वामन के अनुसार गुणयुक्त पद रचना ही काव्य की आत्मा है ।

वामन की प्रशंसा करते हुए देशपांडे ने कहा है कि वामन का नाम लेते ही 'रीतिरात्माकाव्यस्य' इस वचन का स्मरण हो जाता है । भामह रस विरोधी हैं ऐसा कहकर आधुनिक अभ्यासकों ने जिसप्रकार भामह के साथ अन्याय किया है । उसी प्रकार वामन की 'रीति' शब्दार्थों की रचना मात्र है, ऐसा कहकर वामन के साथ भी अन्याय किया है । वास्तव में काव्य - चर्चा के इतिहास में वामन का स्थान बहुत ऊँचा है । सौन्दर्य प्रतीति ही काव्य का रहस्य है, ऐसा वामन ने कहा है । गुण तथा अलंकारों का स्पष्ट विवेचन करते हुए उन्होंने काव्य चर्चा को आगे बढ़ाया । काव्य लक्षण के क्षेत्र में वामन केवल अन्तिम पद में कुण्ठित हुए ।

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य उस शब्दार्थ रूप शरीर को कहते हैं जिसकी आत्मा ध्वनि {व्यंगार्थ} है । यद्यपि यह लक्षण काव्य के आन्तरिक तत्व ध्वनि की ओर सर्वप्रथम संकेत करता है, किन्तु स्वयं शब्द व्याख्यापेक्ष है ।

ध्वनिरात्मा काव्यस्य ।[1]

भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में लिखा है कि 'कवि का काव्य दोषरहित, गुण सहित अलंकारों से अलंकृत तथा रसात्मक होता है कवि को उससे कीर्ति और प्रीति मिलती है ।

कुन्तक वक्रोक्तिवाद सम्प्रदाय के प्रणेता माने जाते हैं । किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति भामह के वक्रोक्ति अलंकार से अधिक विस्तृत सीमारेखा वाली है, कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का मूल बताया और काव्य की इस प्रकार परिभाषा की - वक्रोक्ति युक्त पद रचना में सहभाव से व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है । वह वक्रोक्ति सामाजिकों को आह्लादित करती है ।

वह शब्द जो रमणीयता का प्रतिपादक है, काव्य कहलाता है । ये उद्गार पण्डितराज जगन्नाथ का है । 'रमणीयता' शब्द न केवल रस का {जो कि अपनी शास्त्रीय परिधि में सीमित है} वाचक है, अपितु काव्य के किसी भी तत्व, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति से प्राप्त आनन्द, आह्लाद, चमत्कार आदि सब का वाचक है । इस प्रकार 'रमणीयता' शब्द रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है । इसके अतिरिक्त यह रस के समान पारिभाषिक भी नहीं है, अतः व्याख्यापेक्ष भी नहीं है । फिर भी इस लक्षण

1- ध्व0 1/1.

में एक दोष है - काव्य में रमणीयता {चमत्कार, आह्लाद, आनन्द, रस} का प्रतिपादक केवल शब्द नहीं हो सकता, अपितु शब्द {वाचक} और अर्थ {वाच्य} का समन्वित रूप हो सकता है । अत: यदि उक्त लक्षण को निम्न संशोधित रूप में प्रस्तुत करें तो यह कहीं अधिक ग्राह्य एवं आदर्श बन सकता है। रमणीयता का प्रतिपादक शब्द और अर्थ का समन्वित रूप काव्य कहलाता है ।

विश्वनाथ प्रस्तुत काव्य लक्षण है - ' वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात ऐसा वाक्य जिसकी आत्मा रस है काव्य कहलाता है । यहाँ रस से आशय है - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति'। यह सत्य है कि काव्य का बहुभाग इन आठ तत्वों में समाविष्ट हो सकता है, फिर भी काव्य का पर्याप्त भाग ऐसा बच रहता है जो रस की शास्त्रीय परिधि में समाविष्ट नहीं हो सकता ।

अत: यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है । इसमें दूसरा दोष यह है कि ' रस ' शब्द भी रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति के समान व्याख्या की अपेक्षा रखता है । तीसरा दोष यह कि रसात्मक वाक्य या पदसमूह को काव्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि रसात्मकता की स्थिति पद समूह में नहीं हो सकती, शब्दार्थ में अर्थात् वाचक तथा वाच्य के समन्वित रूप में हो सकती है ।

मम्मट प्रस्तुत काव्य लक्षण है - ' तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि' अर्थात् दोषरहित, गुणसहित अलंकृत पुन: क्वापि शब्दार्थ काव्य काव्य है ।

मम्मट की परिभाषा में ' शब्दार्थ' भामह की देन है । गुण, युक्तता और दोषाभाव का विचार वामन से लिया गया है । हाँ इतना अवश्य है कि काव्य में अलंकार की महत्ता का शंखनाद मम्मट की परिभाषा से मन्द पड़ने की सम्भावना का श्रीगणेश हुआ ।

भरतकृत नाट्यशास्त्र के टीकाकार भट्टलोल्लट भी काव्य का मुख्य उद्देश्य रस-विशेष का उन्मीलन ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में रसवत् अर्थ अर्थ का निबन्धन ही युक्त है, नीरस का नहीं। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में इसकी मार्मिक व्याख्या की है और अलंकारों को रस-परिपोष का सहायक कहा है।

द्वितीय अध्याय

ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आचार्यों का कालक्रम निर्धारण

भरत :-

साहित्य-शास्त्र में जितनी कृतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भरतकृत नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है । नाम्ना यद्यपि यह नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु यह विविध कलाओं का आकर ग्रन्थ है । इतिहास में इस ग्रन्थ को इतना महत्व प्राप्त हुआ कि इसकी महिमा के प्रकाश में सजातीय ग्रन्थों की खद्योतमाला ऐसी निष्प्रभ हो गई कि काल की गति उन्हें सर्वथा विस्मृति के गर्त में धकेल गयी ।

पिछले एक शतक से नाट्य शास्त्र के रचयिता भरतमुनि के व्यक्तित्व के विषय की तरह नाट्य शास्त्र की रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों ने श्रमपूर्वक अन्वेषण किया और उनका यह प्रयास अनेक निष्कर्षों पर निकालने पर भी फल - प्रद ही रहा । इस क्रम में प्रथम उद्योग नाट्यशास्त्र के 1 - 14 अध्याय के सम्पादक पी0 रेग्नों तथा जे0 ग्रासे ने किया तथा नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इसके काव्य शास्त्रीय तथा छन्द शास्त्रीय स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए ईसवीसन से कम से कम एक शती पूर्व निर्धारित किया । हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्य शास्त्र के विभिन्न तत्वों के विश्लेषणों के उपरान्त इसका निर्माण काल पी0 रेग्नो की तरह ईसा पूर्व दो शती निर्धारित किया । कर्नल श्रीजेकेबी ने नाट्यशास्त्र की प्राकृतभाषा के अंशों का विश्लेषण करते हुए नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की तीसरी शती निर्धारित कर डाला । प्रो0 सिल्वा लेवी ने नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय निश्चित करने का उद्योग किया । इनके मत में स्वामी सुगृहीतनामा आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय निश्चित होता है, क्योंकि इन शब्दो का प्रयोग नहपाण तथा चष्टन क्षत्रपों के शिलालेखों में आया है । अतएव शिलालेखों में प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दों के साम्य तथा शक आदि जातियों के उल्लेख के कारण नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसवी दूसरी शती अर्थात् इन क्षत्रपों के स्थितिकाल के आसपास का समय है । नेपाल

शब्द का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त प्रशस्ति में तथा महाराष्ट्र शब्द का महावंश ईसा पूर्व 5 वीं शती तथा ऐहोल अभिलेख ई0 634 में मिलता है, काणे ने इसी आधार का निषेध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि ऐसा क्यों न माना जाए कि इन देशों का प्रथम उल्लेख नाट्यशास्त्र में ही हुआ है , क्योंकि प्रथम उल्लेख होने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि इन देशों के इसके पूर्व ये नाम ही नहीं थे तथा इन शिलालेखों में इन देशों के पश्चाद्वर्ती काल में उल्लेख होने से नाट्यशास्त्र का रचना काल आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है । सेतुबन्ध काव्य प्रवरसेनप्रणीत में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप में प्रयोग हुआ है उससे महाराष्ट्री प्रयोग करने वाले जनपद का इन शिलालेखों के रचना काल के सदियों पूर्व अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सका है । काणे के अनुसार नाट्यशास्त्र में उल्लिखित विश्वकर्मा, पूर्वाचार्य, कामसूत्र आदि के उल्लेख से नाट्यशास्त्र का काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्वभावीकाल की ओर अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता किन्तु इसके बाद की तिथि को ही अधिक निश्चय के साथ स्वीकार किया जा सकता है । कालिदास ने स्पष्ट रूप से विक्रमोर्वशीय में भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का आचार्य स्वीकृत कर उनके द्वारा स्वीकृत आठ रसों की चर्चा की है । बाण ने भरतप्रवर्तित संगीत का उल्लेख किया है । नाट्य - शास्त्र में केवल चार ही अलंकारों का उल्लेख मिलता है जब कि दण्डी, भामह आदि द्वारा इसकी संख्या को तीस तक पहुँचाया गया था । इन सबसे यही सिद्ध होता है कि छठी शती तक नाट्यशास्त्र का पाठ स्थिर हो चुका था ।

श्री कीथ तथा श्री रैप्सन ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तीसरी शती मानते हुए इससे अधिक उत्तरभाविता का प्रतिषेध किया । डॉ0 श्री मनोमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अंग्रेजी भाषान्तर की भूमिका में भाषा वैज्ञानिक, छन्दः शास्त्रीय भौगोलिक, जाति आदि सामग्री के आधार तथा काव्य शास्त्र

संगीतशास्त्र, कामशास्त्र एवं बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक साक्ष्य तथा अभिलेखों के सामग्री के प्रकाश में नाट्यशास्त्र के रचनाकाल पर विस्तार से विचार किया है । इनका मत है कि प्रवृत्तियों के साथ भौगोलिक अभिधानों की संयोजना महाभारत एवं अन्य पुराणों के अनुकरण पर नाट्यशास्त्र में संयोजित की गई है ।

श्री मनोमोहन घोष ने क्षत्रपादि के अभिलेखों में विद्यमान नाट्यशास्त्रीय समताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बतलाया कि इनमें प्रयुक्त गान्धर्व, सौष्ठव तथा नियुद्ध शब्द नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अधिक अनुकूल है । अतः नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल दूसरी शती से पूर्वभावी तो है ही ।

कालिदास तथा भास भी नाट्यशास्त्र से परिचित अवश्य थे इसका कारण कालिदास ने अंगहार, वृत्ति, सन्धि, वस्तु , मायूरी आदि नाट्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है तथा भास ने विदूषक, प्रस्तावना, सूत्रधार, भद्रमुख जैसे नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होना । भास का समय ईसा से पूर्वभावी कौटिल्य से भी प्राचीन माना है, इसलिए नाट्यशास्त्र का समय भास से निश्चित ही पूर्ववर्ती है ।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के स्थिति काल के विनिश्चय में प्रत्येक विवेचक विद्वान ने पर्याप्त ऊहापोह किया है परन्तु इसे निश्चित काल विशेष में निर्भ्रान्त स्थिर करना कठिन है । यह निश्चित है कि नाट्यशास्त्र कालिदास तथा भास के पूर्ववर्ती है । इस संदर्भ में हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र की उपरली सीमा पर ही पहुँचाती है जिसके प्रभाव की परिधि में भास तथा अश्वघोष जैसे प्राचीन नाटककार आते हैं ।

यदि नाट्यशास्त्र के सूत्रभाष्य शैली के स्वरूप पर विचार करें तो इसकी अतिप्राचीनता स्पष्ट होगी सूत्रकाल के आस-पास रचित होने के कारण कदाचित्

सूत्ररूप नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहकर वेद सदृश सम्मान भी दिया गया है । यदि नाट्यशास्त्र के सूत्रमय स्वरूप में उत्तरकाल में कुछ आर्याएँ तथा पद्यात्मक विवरण तथा यत्नादि जुड़ते गये होंगे तो केवल इतने आधार को लेकर समग्र नाट्यशास्त्र को अर्वाचीन नहीं माना जा सकता । क्योंकि इसके प्रतिपाद्य के महत्त्वपूर्ण तथा अधिक विस्तृत भाग की रचना ईस्वी पूर्व पाँचवी शती हो गयी थी । यदि इसमें कुछ प्रक्षिप्तांश का समायोजन हुआ भी हो तो वह एक दो शती में यत्र तत्र हुआ होगा जैसा कि अनेक पुराणों, महाभारत आदि में भी हुआ है । मनोमोहन घोष तथा रामकृष्णकवि दोनों नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान तथा समग्र नाट्यशास्त्र के सम्पादक तथा अनुवादक भी थे । दोनों के विस्तीर्ण मनन का एक ही परिणाम है - नाट्यशास्त्र का ईसा पूर्व पाँचवी शती में स्थिति काल निर्धारण, जो स्वीकार्य ही प्रतीत होता है ।

इन सभी निष्कर्षों को दृष्टि में रखने पर यह अनुमान सहज ही लगता है कि ईसा से पाँच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोक-प्रसिद्ध अर्जित कर चुका जिसमें भाव, रस, प्रेक्षागृह, रूपक-विभेद आदि का विवरण था तथा जिसका ज्ञान भास, अश्वघोष, कालिदास जैसे नाट्यकारों को था । इसके बाद तो ऐसा कोई भी काव्य अथवा नाट्यशास्त्रीय आचार्य कृतिकार नहीं था जो इसके प्रभाव क्षेत्र में अपनी रचना का निर्माता न हुआ हो । इस प्रकार स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व पाँचवी शती से पूर्व ही जब नटसूत्रादि के रूप में नाट्य - विधा के प्रतिपादक ग्रन्थ पाणिनी की अष्टाध्यायी [समय 800 ईसा पूर्व की रचना] के समय बन चुके थे तो इससे भी पूर्ववर्ती नाट्य प्रयोग किसी शाश्वत परम्परा से अनुप्राणित थे । अतएव पाणिनी के तीन सौ वर्ष पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचना काल माना जाये तो यह प्रामाणिकता के अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप में ईसा से पाँच शती पूर्ववर्ती है ।

भरत का "नाट्यशास्त्र" रस-सिद्धान्त का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है । नाट्यशास्त्र शताब्दियों से प्रवर्तित काव्य-शास्त्र का विकसित रूप कहा जा सकता है न कि इस परम्परा का प्रवर्तन करने वाला आदि ग्रन्थ । नाट्य - शास्त्र से पता चलता है कि भरत से पूर्व रस का विवेचन प्रौढता को प्राप्त हो गया था और उन्होंने पूर्वाचार्यों की समस्त उपलब्धियों का उपयोग कर अपने विवेचन को पूर्ण बनाया था ।

विभिन्न ग्रन्थों में भरत-पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें वासुकि सदाशिव, अगस्त्य, व्यास, नन्दिकेश्वर, वृद्ध भरत, आजनेय आदि मुख्य हैं । जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर रस के और भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य माने गये हैं । राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा काव्य पुरुष के जन्म की कथा दी है, जिसमें कहा गया है कि काव्य-पुरुष ने काव्य शास्त्र के अठारह अधिकरणों को लिखने के लिए अपने अठारह शिष्यों को नियुक्त किया था उनमें नन्दिकेश्वर ने रस और भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया ।

रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः ।[1]

भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे एवं सातवें अध्याय में रस का विस्तार के साथ विवेचन किया है जो नाटक और रंगमंच को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत किया गया है । उक्त ग्रन्थ के दोनों अध्याय 'रसविकल्प' एवं 'भावव्यंजक' के नाम से प्रसिद्ध हैं । नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन अत्यन्त ही व्यापक एवं व्यवस्थित है, जिसे देख कर उससे पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की प्रौढता का भी ज्ञान होता है कि नाट्यशास्त्र कोई आकस्मिक कृति नहीं है । इन्होंने आठ ही रस माने हैं तथा प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी भाव तथा सात्त्विक भाव का भी परिचय दिया है ।

1- का० मी० पृ० 4

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।[1]

नाट्यशास्त्र में मुख्य चार ही रस माने गये हैं – श्रृंगार, रौद्र, वीर, एवं वीभत्स । इन्हीं चार रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति हुई । जैसे – श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक की ।

श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ।।[2]

इन्होंने रसों के रंगों का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रृंगार का श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत वर्ण, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का काला, वीभत्स का नीला, एवं अद्भुत का पीत वर्ण होता है । श्रृंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रमथ, रौद्र के रुद्र, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल वीर के महेन्द्र एवं अद्भुत के देवता ब्रह्मा हैं ।

इन्होंने भावों की संख्या 49 बताई है । स्थायी भाव – 8, व्यभिचारी भाव – 33 एवं सात्विक भाव – 8 है । इस प्रकार भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है अर्थात स्थायी भाव अन्य 41 भावों के साथ मिलकर रसत्व को प्राप्त होता है –

विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।[3]

भरत ने बताया है कि अन्य भावों के साथ स्थायी भाव का सम्बन्ध राजा एवं उसके सहचारी जैसा है । जिस प्रकार नरों में नृपति एवं शिष्यों में गुरु

1– ना० शा० 6/15

2– ना० शा० 6/39

3– ना० शा० 6/32

का स्थान होता है उसी प्रकार सभी भावों में स्थायी भाव की महत्ता है ।

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।[1]

भरत ने कवि के आन्तरिक भावों या मानसिक आवेगों को भाव की संज्ञा दी है । विभाव को इन्होंने रस का कारण माना है, इसीलिए विभाव को कारण, निमित्त एवं हेतु का पर्याय कहा है । नाटक में वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनय का विशेष रूप से ज्ञान कराने वाले तत्व को विभाव कहते हैं ।

विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनया इत्यतो विभावः ।[2]

रस के स्वरूप का विचार करते हुए भरत ने कहा है कि जिसका आस्वादन किया जाय वह रस है ।

जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न को खाने वाला व्यक्ति अन्न के रस का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों एवं अभिनयों के द्वारा किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सामाजिक आनन्द प्राप्त करते हैं ।

रसं इति कः पदार्थः - - - - - - पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः[3]

तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् - - - 'सुमनस' इत्यभिव्याख्याताः[4]

1- ना० शा० 7/8

2- ना० शा० 7/3

3- ना० शा० पृ० 286

4- अ० भा० पृ० 497

भरत ने विभिन्न रसों के कई भेदों का उल्लेख किया जिनमें से कुछ तो परवर्ती आचार्यों द्वारा ग्रहीत हुए और कुछ अप्रचलित रहे।

श्रृंगार रस के इन्होंने दो भेद किये – सम्भोग एवं विप्रलम्भ । ये दोनों प्रचलित भेद हैं । परवर्ती साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में इन्हीं दोनों भेदों का विवेचन किया गया है । श्रृंगार के अन्य भेद, जो अप्रचलित है वाङ्नेपथ्य क्रियात्मक ।

श्रृंगार का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि संसार में जो कुछ पवित्र शुद्ध, उज्ज्वल एवं दर्शनीय होता है उसकी श्रृंगार से उपमा दी जाती है । यह रति स्थायी भाव से उत्पन्न होता है और उज्ज्वलवेषात्मक होता है । उज्ज्वल – वेष वाला पुरुष ही श्रृंगारी पुरुष होता है ।श्रृंगार रस परस्पर अनुरक्त स्त्री – पुरुष में ही उत्पन्न होता है, इसमें आलस्य, जुगुप्सा एवं उग्रता के अतिरिक्त शेष तीस संचारी भाव होते हैं ।

तत्र श्रृंगारो नाम – – – – – – – – – प्रयोक्तव्यः ।
व्यभिचारिण – – – – – – – – – – – अभिनेतव्यः ।[1]

हास्य के प्रचलित भेद छः है । जो उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी के पात्रों के आधार पर निरूपित किये गये हैं । वीर रस के भरत कृत तीन भेद हैं – दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर । हास्य, रौद्र एवं वीर के अन्य तीन भेद हैं – अंग, नेपथ्य, वाक्यात्मक । ये भेद अप्रचलित हैं ।

भरत का रस विवेचन लौकिक आधार पर अधिष्ठित है एवं इसमें व्यवहारिकता का अधिक समावेश है । इसमें मुख्यतः रस का विवेचन रंगमंच की दृष्टि से किया गया है, इसलिए इसमें व्यवहारिकता है तथा सामाजिक तत्व

1– ना0 शा0 पृ0 300 – 308

का समावेश हो गया है । भरत ने रस की ऐसी परिभाषा दी जो काल के प्रवाह की गति को तोड़कर आज भी उसी रूप में समादृत है । रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की प्रक्रिया से साम्य रखता है ।

उस समय तक किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आविष्कार नहीं होने पर भी भरत ने भावों एवं रसों का ऐसा विश्लेषण किया है जो बहुत कुछ अधतन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से मेल रखता है । भरत कृत रस की व्याख्या दार्शनिक न होकर नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल है तथा उसमें लौकिकता एवं सामाजिकता के बीज वर्तमान है ।

कालान्तर में नाट्यशास्त्र के विभिन्न व्याख्याताओं ने विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर रस की व्याख्या उपस्थित की किन्तु भरत के विवेचन में किसी प्रकार का दार्शनिक पूर्वाग्रह नहीं दिखाई पड़ता । भरत प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने दर्शन को लौकिक भावभूमि पर बैठाया एवं उसमें नैतिक तत्वों का संस्पर्श कराया । सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी होने के कारण ही इन्होंने शान्त - रस का विवेचन नहीं किया, क्योंकि रंगमंच पर इसका अभिनय संभव नहीं है । इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत का विवेचन अत्यधिक वैज्ञानिक, लौकिकतापूर्ण एवं नैतिक धरातल पर आधारित है, तथा उसमें आलोचना शास्त्र के शाश्वत गुण वर्तमान हैं, जिसे युग की आँधी कभी भी डिगा नहीं सकती है ।

भरत कृत रसमीमांसा नाटक पर आधारित है । अतः इनका प्रधान उद्देश्य है प्रेक्षक के मन में रस का संचार कर उसे आनन्दमग्न करना । नाटक के तीन तत्व वस्तु, नेता एवं रस में, रस एक प्रमुख तत्व है, अन्य तत्व तो रस के ही उपकारक हैं । वस्तुतः भरत के अनुसार नाटक का मुख्य लक्ष्य रस की निष्पत्ति ही है । जिससे सामाजिक के हृदय में अपूर्व आह्लाद की अनुभूति हो सके । रस की उत्पत्ति भाव से ही होती है ।

भरत ने रसास्वादन की विधि पर विचार करते हुए पाक - रस की प्रक्रिया को ही उपस्थित किया है । उपभोक्ता की तरह सामाजिक या दर्शक को नाट्यरसों का आस्वादन होता है एवं उससे हर्षादि की प्राप्ति होती है । भरत के अनुसार सामाजिक में विशेष प्रकार की योग्यता होनी चाहिए, तभी वह रस का सम्यक रूप से आनन्द ले सकता है । उसे 'सुमनस' होना आवश्यक है , अर्थात् वह काव्य-रस के नियमों से परिचित हो । रसास्वादन एवं उससे हर्ष की प्राप्ति दोनों भिन्न तथ्य हैं क्योंकि रसास्वादन कारण है एवं हर्ष की प्राप्ति कार्य ।

भामह

भामह के परिचय के विषय में हमें काव्यालंकार में अधोलिखित श्लोक मिलता है -

> अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म् ।
> सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसुनुनेदम् ।। [1]

अपना नाम भामह और अपने पिता का नाम 'रक्रिलगोमी ' बताया है । विद्वान उन्हें काश्मीरी मानते आये हैं । उनके समय को लेकर पण्डितों के बीच अनेक मत हैं ।

इत्सिंग ने अपने बौद्ध धर्म सम्बन्धी अभिलेखों[2] में काशिका का वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि जयादित्य की मृत्यु 30 वर्ष पूर्व हो चुकी थी । इत्सिंग ने अपनी पुस्तक 691 ई0 में लिखी । अतः जयादित्य की मृत्यु 661 - 62 में हुई होगी । काशिका ने अष्टाध्यायी 1, 3, 23 पर भारवि कृत किराता - र्जुनीय का उल्लेख किया है - संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः [3]

1- का0 6/64

2- डा0 टक्कुकृत अनुवाद, पृ0 175, आक्सफोर्ड, 1896

3- किरातार्जुनीय 3/14

यह उल्लेख उपरोक्त तिथि का समर्थक है । न्यासकार का कथन है कि काशिका की अनेक प्रतिलिपियाँ की गईं थीं उनमें तत्कालीन लिपिकारों ने बहुत से ऐसे उदाहरण जोड़ दिये जो मूल काशिका में नहीं थे - अष्टाध्यायी 6,3,79 पर मुद्रित काशिका ने तीन उदाहरण दिये हैं - सकलम् सुमुहूर्तम् और ससंग्रहम ।

इस पर न्यास (पृ0 489) का कथन है - 'ससंग्रहमित्येतदुदाहरणं प्रमाददिदानींतनैः लेखकैर्लिखितम्' । यहाँ इदानींतनैः शब्द महत्वपूर्ण है ।

कम से कम एक या दो पीढ़ियों का अन्तर अवश्य होना चाहिए । अतः न्यास की तिथि 700 ई0 के पूर्व नहीं हो सकती । न्यासकार जयादित्य का समकालीन नहीं हो सकता । भामह ने न्यास का उल्लेख किया है अतः उसे 700 के पश्चात् तथा 750 के पूर्व रखना होगा ।

भामह ने दिङ्नाग का लक्षण उद्धृत किया है और उसकी व्याख्या भी की है । उत्तरार्द्ध में कल्पना शब्द का अभिप्राय प्रकट करते हुए उसने कहा है - वस्तु के साथ नाम, जाति आदि का सम्मिश्रण । दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'कल्पनापोढम्' किया था । धर्मकीर्त्ति ने उसके साथ अभ्रान्तं जोड़ दिया । ततोऽर्थात् में प्रत्यक्ष के वसुबन्धु कृत लक्षण का उल्लेख है । वाचस्पति सरीखे प्रौढ़ और प्राचीन दार्शनिकों ने भी भामह द्वारा प्रस्तुत लक्षणों को वस्तुतः दिङ्नाग तथा वसुबन्धु (ततोऽर्थात्) का माना है । दिङ्नाग की दोनों रचनायें 557 - 559 ई0 के मध्य चीनी भाषा में अनुदित हुईं[1] अतः दिङ्नाग 550 ई0 के पूर्ववर्ती है वे वसुबन्धु के शिष्य थे, इस आधार पर डा0 विद्याभूषण ने उनकी पूर्वसीमा 450 ई0 स्थिर की है । डा0 रैण्डल (इण्डियन लौजिक इन अर्ली स्कूल्स, पृ0 31 - 32) का कथन है कि वसुबन्धु की तिथि

1- डा0 विद्याभूषण, मिडेविल स्कूल, इत्यादि पृ0 80 - 81 तथा हिस्ट्री आफ इण्डियन लौजिक, पृ0 272

अनिश्चित है और उनके शिष्य होने के कारण दिङ्नाग की तिथि भी सन्दिग्ध है । सम्भवतया वे 420 – 500 ई0 के मध्य हुए । अतः भामह द्वारा दिङ्नाग का उल्लेख उसके तिथि निर्णय में विशेष सहायक नही है । भामह का तर्कशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । संस्कृत, तिब्बत अथवा चीनी भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थ का कहीं उल्लेख या उद्धरण भी नही मिलता । धर्मकीर्त्ति बौद्ध परम्परा के प्रमुख तार्किक है । उनकी तुलना केवल दिङ्नाग के साथ हो सकती है । प्रो0 बटुकनाथ ने भामह की प्रस्तावना में अपनी निष्पक्षता प्रदर्शित करने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि हो सकता है, धर्मकीर्ति भामह के ऋणी हों ।

डा0 विद्याभूषण के अनुसार [हिस्ट्री आफ मिडविल इण्डियन लौजिक पृ0 103 और हिस्ट्री आफ इण्डियन लौजिक पृ0 303 – 305] धर्मकीर्ति 635 – 650 ई0 के लगभग हुए । यह उल्लेखनीय है कि ह्वेनसांग भारत में सं0 629 – 645 ई0 तक रहे, फिर भी उन्होंने कहीं पर धर्मकीर्ति का उल्लेख नहीं किया । इसके विपरीत इत्सिंग ने 671 से लेकर 695 ई0 तक भारत की यात्रा की तथा 691 ई0 में अपना ग्रन्थ रचा । उसमें इस बात का वर्णन है कि धर्मकीर्ति ने तर्कशास्त्र का किस प्रकार परिष्कार किया । इत्सिंग ने बौद्ध आचार्यों को तीन युगों में विभक्त किया है – नागार्जुन, देव तथा अश्वघोष को प्राचीन युग में, वसुबन्धु, असंग, संघभद्र, और भवविवेक को मध्य युग में तथा जिन धर्मपाल, धर्मकीर्ति एवं शीलभद्र आदि को उत्तर युग में । धर्मकीर्ति धर्मपाल के शिष्य थे, अतः उनका समय 650 अथवा 660 मानना चाहिए । भामह ने धर्मकीर्ति से उद्धरण लिये हैं । अन्य प्रमाणों के आधार पर यह स्थापित किया जा चुका है कि भामह 700 ई0 के पूर्ववर्ती नहीं है । अतएव उनका समय

अधिकांश विद्वानों द्वारा प्रायः विक्रम की षष्ठी शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है । भरत के बाद रस-मीमांसा के क्षेत्र में शताब्दियों तक कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो सका । आगे चलकर अलंकार-वादी धारा का प्राबल्य हुआ और रस का वेग अवरूद्ध हो गया । भरत से लेकर ध्वनि सम्प्रदाय के उदय तक पाँच नाम महत्वपूर्ण है - भामह, दण्डी, उद्भट, वामन एवं रूद्रट । इनमें प्रथम तीन अलंकारवादी तथा वामन एवं रूद्रट की स्थिति रस एवं अलंकार दोनों के मध्य की है । यद्यपि पाँचो आचार्यों की मान्यतायें समान नहीं है , फिर भी रस के प्रति इनके दृष्टिकोण में साम्य दिखाई पड़ता है ।

भरत के नाट्यशास्त्र के बाद भामह के 'काव्यालंकार' का महत्वपूर्ण स्थान है । रस-सिद्धान्त के प्रति भामह का दृष्टिकोण एक विरोधी विचार के जैसा है । ये रस-सिद्धान्त के पोषक न होकर उसके विरोधी है । इनके अनुसार उत्तम काव्य के लिए अलंकार एक आवश्यक तत्व है । उन्होंने काव्य में रस को गौण स्थान दिया ।

इन्होंने रस की सीमा को संकीर्ण कर उसे कतिपय अलंकारों में अन्तर्भुक्त कर दिया है । ऐसे अलंकारों में प्रेयस, रसवत् एवं उर्जस्वी है ।

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा ।
देवी समागमद्धर्मस्करिण्य तिरोहिता ।।[1]

अर्थात रसवत् अलंकार वहाँ होता है जहाँ श्रृंगारादि स्पष्ट रूप से दिखाये गये हों ।

फिर भी महाकाव्य के विवेचन में भामह ने रस के महत्व को स्वीकार किया है । महाकाव्य के लिए वे समस्त रसों के विधान की अनिवार्यता सिद्ध

1- का० अ० 3/6

करते हैं । जिस प्रकार महाकाव्य के लिए सर्गबद्धता, शब्द एवं अर्थ सौष्ठव, पंचसंधियों का गठन तथा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग आवश्यक है उसी प्रकार सकल रसों का समावेश भी अनिवार्य है ।

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।[1]

इतना होने पर भी भामह का दृष्टिकोण रसवादी नहीं कहा जा सकता । वे भरत-विरोधी आचार्य हैं तथा विभाव को ही रस मानते हैं । इन्होंने रसवत् अलंकार के वर्णन में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उससे यही सिद्ध होता है कि वे विभाव को ही रस स्वीकार करते हैं । इस प्रकार अलंकारों के अन्तर्गत रस का समावेश करने के कारण भामह अलंकारवादी आचार्य ही कहे जा सकते हैं । इस सम्बन्ध में डा० राम लाल सिंह के कथन में औचित्य दिखाई पड़ता है । भामह ने अलंकार के माध्यम से काव्य के कल्पना पक्ष पर सबसे अधिक बल दिया, इससे भाव से सम्बन्ध रखने वाले रस-तत्व की उपेक्षा उससे हो गई ।[2]

दण्डी
====

दण्डी के जीवन-परिचय के विषय में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है । स्वर्गीय आचार्य विश्वेश्वर ने उन्हें भारवि का प्रपौत्र माना है और उनका समय बाण और मयूर के पश्चात् अर्थात् आठवीं शताब्दी स्वीकार किया है । दण्डी के विषय में अधोलिखित उक्ति है -

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।।[3]

1- का० अ० 1/121

2- र० सि० का० उ० वि - आलोचना त्रैमासिक

3- शा० प०, पृ० 174

शार्ङ्‌गधर , जह्‌लण तथा अन्य सुभाषितकारों ने विज्जका नामक कवयित्री का यह श्लोक उद्धृत किया है -

नीलोत्पलदल श्यामां विज्जकां मामजानता ।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ।।[1]

उसने काव्यादर्श प्रथम श्लोक के अन्तिम चरण का उल्लेख किया है । शारंगधर धनदेव कृत ... कवियों की गणना को उद्धृत किया है, जिसमें विज्जका भी है । उपरोक्त श्लोक में अजानता शब्द से यह निष्कर्ष निकलता है कि दण्डी को उसका ज्ञान नहीं था और वह दण्डी की समकालीन नहीं थी । किन्तु उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि दण्डी ने उसे प्रत्यक्ष नहीं देखा था किन्तु उसके श्याम वर्ण से अपरिचित थे । यदि यह निष्कर्ष निकाला जाये कि वह दण्डी की समकालीन, सम्भवतया अल्पवयस्का मानी जा सकती है । राजशेखर ने उसका संस्कृत रूप विजया कर दिया और अन्य विद्वानों ने विद्या । अतः बहुत सम्भव है कि विज्जका और विजया एक ही हों । यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाये, तो सरस्वतीव श्लोक के आधार पर कहा जा सकता है कि विज्जका कार्णाटी [कर्णाटक की राजकुमारी या वहाँ की निवासिनी] थी । तथा उसने वैदर्भी रीति में काव्य लिखा जो कालिदास के समकक्ष है । किन्तु उनके द्वारा विरचित कोई काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ । विजया भट्टारिका चन्द्रगुप्त द्वितीय की महारानी थी, जो सत्याश्रय पुलकेशिन द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र तथा विक्रमादित्य का सहोदर था । यह उल्लेख नेरूर के दानपत्र

1- इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली भाग 16, पृ0 343 - 560 में विज्जा तथा मोरिका नामक संस्कृत की कवयित्रियाँ शीर्षक डा0 जे0 बी0 चौधरी का लेख ।

जो शक सं0 581 (659 ई0) में लिखा गया था । कोकरिम् के तत्कालीन ताम्रपत्र में उसे विजयमहादेवी कहा गया है । ताम्रपत्र के आधार पर इनका समय 659 ई0 मानना होगा और दण्डी को तदनुसार 660-680 ई0 के बीच रखना होगा ।

बहुत से विद्वान दण्डी का समय छठी ई0 मानते हैं । मैक्समूलर (इण्डिया, व्हाट कैन इट टीच अस : प्रथम संस्करण पृ0 332), वेबर (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर पृ0 232 टिप्पण), प्रो0 मैकडोनल (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर पृ0 434) तथा कर्नल जैकेब (जरनल आफ रॉ0 ए0 सो 1897 पृ0 284) अब अन्य सभी मत का परित्याग करके यही मानना चाहिए कि दण्डी का रचनाकाल 660 से 680 ई0 है ।

भामह के बाद दूसरे प्रधान आचार्य दण्डी को बलदेव उपाध्याय ने सप्तम शतक के उत्तरार्द्ध का आचार्य स्वीकार किया है,[1] दण्डी भामह की भांति अलंकार को ही काव्य का मुख्य तत्व मानते हैं, वैसे वे गुण का ही अधिक समर्थन करते हैं । रस के प्रति इनकी दृष्टि भामह से साम्य रखती है अर्थात ये भी रसों को अलंकारों के भीतर समाहित कर देते हैं । फिर भी ये कविता में रसों के महत्व को स्वीकार करते हैं । वे गुणों को कविता का सार अथवा प्राण कहते हैं, स्वयं कवि होने के नाते रस के प्रति दण्डी की सहानुभूति है अत: रस विवेचन के क्षेत्र में ये भामह की भांति अनुदार नहीं कहे जा सकते । काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में श्लोक 275 से 291 तक इन्होंने रसों के विवेचन में अधिक स्थान दिया है । इन्होंने काव्यादर्श में भरत - वर्णित

1- भा0 सा0 शा0, पृ0 34

आठ रसों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इनके उदाहरणों की मधुरता रस के प्रति आकर्षण का परिचायक है। गुणों को काव्य की आत्मा मानते हुए भी कवि होने के नाते वे रसों के महत्त्व को समझकर उन्हें गुणों के समान ही काव्य का आवश्यक अंग मानते दिखाई पड़ते हैं।

प्रेय: प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम् ।
ऊर्जस्विरूढाहङ्कार युक्तोत्कर्ष च तवत्त्रयम् ।।[1]

उन्होंने बताया कि रसवद् रचना में माधुर्य गुण का समावेश रहता है। इन्होंने प्रकारान्तर से रस एवं गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्वीकार किया है। दण्डी ने काव्य के दो मार्ग माने हैं - वैदर्भ एवं गौड़। वे वैदर्भ मार्ग को अपनाकर श्लेष, प्रसाद, समता आदि दश गुणों को उसका प्राण मानते हैं। इसके अन्तर्गत मधुर गुण का सम्बन्ध रस से है।

अस्त्यनेको गिरां मार्ग सूक्ष्मभेद: परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ।।
श्लेष : प्रसाद: समता माधुर्य सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्ति समाधय: ।।[2]

मधुर गुण का सम्बन्ध रस से बताते हुए दण्डी ने कहा है कि रसवद् वाक्य ही मधुर होता है अतएव रस एवं माधुर्य एक ही पदार्थ है। जिस शब्दार्थ जन्य आह्लादकता से सहृदयगण मस्त हो जायें उसे रस कहते हैं। इस प्रकार दण्डी माधुर्य को रस का स्थान देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

1- का० द० 2/275, पृ० 161

2- का० द० 1/140-41, पृ० 27

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।।[1]

दण्डी के अनुसार 'प्रत्येक अलंकार अर्थ में रस सिंचन' की क्षमता रखते हैं ।

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति ।[2]

दण्डी को रस प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान है । उन्होंने स्थायी भाव एवं रस के भी भेद को समझा है । इन्होंने रसवद् आदि अलंकारों के वर्णन में जो उदाहरण उपस्थित किये हैं, उनमें प्रायः सभी रसों एवं भाव आदि के स्वरूप प्रदर्शित किये गये हैं तथा रस के प्रति अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट की है । विभाव, अनुभाव एवं संचारी से पुष्ट स्थायी भाव को ही रस मानकर दण्डी ने उदाहरण प्रस्तुत किये हैं -

इत्यारुह्य परां कोटिं रौद्रात्मतां गतः ।
इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।।[3]

दण्डी के उदाहरणों में रस-प्रक्रिया का पूर्ण वैभव दिखाई पड़ता है जो भरत के विवेचन से साम्य रखने वाला है । सभी रसों एवं भावों का उदाहरण उपस्थित कर भी दण्डी यह समझ नहीं पाते कि वे वस्तुतः रस का ही वर्णन कर रहे हैं । इसका कारण यह है कि वे युग की सामान्य विचारधारा से इस प्रकार प्रभावित हो चुके थे कि इन्होंने अलंकारों के अन्तर्गत ही रसों को अन्तर्भुक्त कर दिया । दण्डी के विवेचन पर भरत एवं भामह दोनों का संयुक्त प्रभाव है । रस को रसवद् अलंकार के भीतर मानने के कारण जहाँ वे भामह के निकट पहुँचते हैं, तो विभावादि का सम्यक वर्णन करने के कारण भरत की परम्परा को दु

1- का० द० 1/51, पृ० 35
2- का० द० 1/62, पृ० 40
3- का० द० 2/281, पृ० 164

लेते हैं । रस का अलंकार के अन्तर्गत वर्णन कर के भी वे भरत के विपरीत नहीं [illegible]ते और न भामह की भांति मात्र विभाव को ही रस मानते हैं । कुल मिलाकर दण्डी का दृष्टिकोण भामह की भांति रस के प्रति हठधर्मिता का नहीं है । वे रस के प्रति उदार दृष्टि रखते हैं इसका मुख्य कारण उनका रस सिद्ध कवीश्वर होना ही है ।

वामन

'वामन' ने भवभूति और माघ के पद्य उद्धृत किये हैं अत: उन्हें ई0 750 के बाद का माना जाता है क्योंकि ये दोनों कवि लगभग 750 ई0 के पहले ही है । भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन के सभाकवि थे, जिनका समय 725 ई0 था । इस प्रकार वामन के स्थिति काल की ऊपरी सीमा आठवीं शती का प्रथम चरण ठहरता है । आखिरी सीमा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में आए वामन के सन्दर्भों से 850 ई0 ठहरती है । आनन्दवर्धन अति उदार आचार्य थे, किन्तु उन्होंने वामन का नामत: उल्लेख नहीं किया, जब कि भामह का दो बार उल्लेख किया है ।[1] उन्होंने दण्डी से भी पर्याप्त सामग्री ली है किन्तु उनका नाम भी नहीं लिया । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दवर्धन दण्डी और वामन से अनभिज्ञ हैं । 'रीति' शब्द का प्रयोग और वैदर्भ आदि मार्गों के लिए 'वैदर्भी' आदि संज्ञाओं का निर्माण संस्कृत काव्य शास्त्र में सर्वप्रथमतया वामन ने ही किया है । भरत से भामह तक न रीति शब्द का उल्लेख था और न उनके लिए वैदर्भी आदि शब्दों का । आनन्दवर्धन वामन का नाम लिये बिना ही क्यों न लिखें परन्तु जब रीति की बात -

---

1- ध्व0 पृ0 119

रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतय: ।[1]
अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।[2]

इस प्रकार करते हैं तो वे वामन के ही ऋणी सिद्ध होते हैं ।

यह तो एक उज्ज्वल प्रमाण है कि रीतियों को दण्डी और भामह से आगे बढ़कर और पाञ्चाली को जोड़ कर तीन संख्या तक वामन ने ही पहुँचाया है । आनन्दवर्धन लिखते हैं -

एतद ध्वनिप्रवर्त्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वम्
अस्फुटितस्फुरितं सत् अशक्नुवद्भि:
प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली
चेति रीतय: सम्प्रवर्त्तिता: ।[3]

फिर भी वे रीतिप्रवर्त्तक आचार्य 'रीतिलक्षणविधायी' कहते हैं, ।रीति का लक्षण भी पहले पहल वामन ने ही किया है । बहुवचन का प्रयोग इस तथ्य का सूचक है कि आनन्दवर्धन वामन के प्रति अतिशय श्रद्धापूर्ण हैं ।

ध्वन्यालोक के प्राचीनतर टीकाकार अभिनवगुप्त के मन में तो कम से कम यह अभिप्राय है कि वामन आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती हैं । आक्षेपालंकार के उल्लेख पर वे वामन के मत को भी पूर्वपक्ष रूप में स्वीकृत मानते और लिखते हैं -
'अनुरागवती सन्ध्या' वामनाभिप्रायेणायमाक्षेप:
भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये
गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयो: युक्त्यैवेदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत ।

1- ध्व0 पृ0 20

2- ध्व0 3/46 पृ0 517

3- ध्व0 पृ0 517

वे आगे यही लिखते हैं कि यह बात उनके परमगुरु भी मानते थे। स्पष्ट ही वामन आनन्दवर्धन से पुराने हैं और आनन्दवर्धन उनसे भलीभांति परिचित हैं। इससे सिद्ध है कि वामन ई0 850 के बाद के नहीं हैं।

इस प्रकार आचार्य वामन का आविर्भाव काल सं0 800 और 900 वि0 के मध्य जान पड़ता है आचार्य बलदेव उपाध्याय इनका समय सन् 800 ई0 (सं0 850 वि0) मानते हैं जो उचित ही है। राजतरंगिणीकार कल्हण ने वामन को राजा जयापीड का मंत्री बतलाया है।

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥[1]

आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। रस के प्रति वामन का मत बहुत कुछ दण्डी से मिलता-जुलता है। दण्डी एवं वामन दोनों ने ही अपने-अपने ग्रन्थों में रस-विवेचन के लिए कुछ स्थान दिया है, किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। जहाँ दण्डी ने अलंकार प्रकरण के अन्तर्गत रस का विवेचन किया है, वहाँ वामन ने गुण के भीतर वामन ने गुणों का वर्णन करते हुए रस को उसका एक आवश्यक तत्व बतलाया है एवं कान्ति गुण के अन्तर्गत रस का समावेश किया।

दीप्तरसत्वं कान्तिः।[2]

इन्होंने काव्य के दो धर्म माने हैं, नित्य एवं अनित्य। अलंकार काव्य के अनित्य धर्म है एवं गुण नित्य धर्म। इस प्रकार काव्य के अनित्य धर्म-अलंकार में रस का समावेश न कर, इन्होंने काव्य के नित्य धर्म में रस का अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रकार का स्थान निरूपित कर इन्होंने रस के महत्व को स्वीकार किया है।

1- रा0 त0 4/497

2- का0 सू0 3/2/15, पृ0 116

इनका यह महत्व भामह एवं दण्डी को ही ध्यान में रखकर स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा इनके द्वारा भी रस को उचित प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकी है । भामहादि की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण अधिक उदार है । समस्त काव्यभेदों में इन्होंने नाटक को श्रेष्ठ माना है -

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः ।[1]

इस प्रकार नाटक को श्रेष्ठ बतलाकर प्रकारान्तर से रस के महत्व को स्वीकार किया है ।

नाटक को श्रेष्ठ कहने का यही अर्थ था कि रस की अभिव्यक्ति नाटक से अच्छी तरह से होती है । अतः रस का पूर्ण वैभव नाटक में दिखाई पड़ता है । इस प्रकार का विचार स्पष्टतः रस के प्रति महत्व का सूचक है ।

कुल मिलाकर वामन का रस-विवेचन संतोष-प्रद नहीं कहा जा सकता । उनका महत्व इसी दृष्टि से आंका जा सकता है कि इन्होंने रस को अलंकार के फँदे से निकाल कर गुण में लगा दिया ।

अतएव विद्वानों ने इन्हें दण्डी से अधिक भरतवादी कहा है । इन्होंने अन्य रसों का उल्लेख न कर मात्र श्रृंगार का ही वर्णन किया है । इनका कहना है कि जिस रचना में श्रृंगारादि रसों की दीप्ति हो वहाँ कान्ति गुण होता है । इन्होंने केवल श्रृंगार का ही उदाहरण देकर अन्य रसों के सम्बन्ध में यह कह कर छुट्टी ली है -

एवंरसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्

दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

दीप्ता रसा श्रृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः ।

तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः ।।[2]

1- का० सू० 1/3/30 पृ० 41

2- का० सू० 3/2/15 पृ० 117

इनके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने ठीक कहा है -

'वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण - अर्थगुण कान्ति का आधार तत्व माना । इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अंग मात्र है । रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है - यही रस की सार्थकता है । अर्थात् रस अंग है और रीति अंगी ।'[1]

उद्भट

उद्भट के तिथि निर्णय में अधिक कठिनाई नहीं है । इन्होंने भामह पर टीका लिखी है, जिनका समय सप्तम शताब्दी अथवा उसके कुछ पश्चात् है । अतः उद्भट का समय 750 ई० से पूर्व नहीं माना जा सकता । ध्वन्यालोक (नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ने अनेक स्थानों (पृ० 116, 131) पर उद्भट का आदरपूर्वक निर्देश किया है । अतः उनका समय 850 ई० के पूर्व मानना होगा । काश्मीर की परम्परा में माना जाता है कि यह वही प्रसिद्ध उद्भट है जो जयापीड़ (779 - 813 ई०) का सभापति था ।

इनका पूरा नाम भट्टोद्भट था । कल्हण की राजतरंगिणी में उनके विषय में अधोलिखित श्लोक आया है -

विद्वान दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ।।[2]

1- का० की० भू० पृ० 184

2- रा० त० 4/495

यदि इस परम्परा को स्वीकार किया जाय तो उद्भट का समय 800 ई० मानना होगा । यदि इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया जाता तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, प्रत्येक स्थिति में उद्भट का समय 750 - 850 ई० सिद्ध होता है ।

महाराजा जयापीड का शासन काल सं० 836 से 8?? वि० तक माना गया है, अतः उद्भट का भी यही काल होना चाहिए । उद्भट अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी रस के पृष्ठपोषक हैं । उद्भट एक ओर तो अलंकारमत के अनुयायी दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर ये भरत के भी निकट हैं । इस प्रकार इनका व्यक्तित्व दुहरा दिखाई पड़ता है । इन्होंने भामह विवरण लिखकर भामह के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है तो दूसरी ओर भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखकर भरत के अनुयायी भी बने हैं । दोनों पुस्तकें अभी तक अनुपलब्ध हैं । अपने ग्रंथ काव्यालंकारसार -संग्रह में अलंकारों का ही प्रशस्ति गान करते हैं । इस प्रकार भरत एवं भामह दोनों से प्रभावित होने के कारण उनके विवेचन में यह प्रभाव लक्षित होता है ।

इन्होंने भामह एवं दण्डी से अपेक्षाकृत विस्तृतरूप से रस का विवरण प्रस्तुत किया है दोनों आचार्यों ने केवल रसवद्, प्रेयस एवं ऊर्जस्वी अलंकारों का ही वर्णन किया था किन्तु उद्भट ने एक नवीन अलंकार समाहित की कल्पना की । उद्भट के अनुसार समाहित वहाँ होता है जहाँ भाव, रसाभास, भावा - भास की शान्ति का ही उल्लेख हो किन्तु दूसरे रसों के अनुभाव आदि का वर्णन न हो ।

रसाभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभाव निःशून्यरूपं यत्तत् समाहितम् ।।[1]

1- का० सा० 4/7

रस के क्षेत्र में इन्होंने अत्यन्त महत्व की बात कही है । शान्त रस को नाटक में स्थान देकर इन्होंने पहले-पहल यह बतलाया कि शान्त-रस का भी नाटक में अनुभव किया जा सकता है - नव नाट्ये रसाः स्मृताः - इन्होंने दण्डी प्रभृति से कहीं अधिक रसवत् आदि अलंकारों का वर्णन किया है एवं रसों के अनुभव के लिए भाव का चित्रण स्पष्ट रूप से उपस्थित किया । उद्भट ने रसों के पाँच साधनों का निर्देश किया है -

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ।।[1]

स्वशब्द की व्याख्या करते हुए उद्भट के प्रसिद्ध टीकाकार ने कहा है - श्रृंगार आदि रसों, स्थायी भाव एवं संचारी भावों की स्वशब्द वाच्यता ।

प्रेय का लक्षण निरूपण करते हुए उद्भट ने कहा है कि रति आदि भावों को सूचित करने वाले अनुभावों द्वारा जिस काव्य की रचना हो वह प्रेय अलंकार युक्त काव्य है, अर्थात जब स्थायी भाव रसावस्था को न पहुँचे तो वहाँ प्रेयस्वत् अलंकार होगा । जिसे रसवादी आचार्यों ने भाव कहा है ।

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।।[2]

इन्होंने ऊर्जस्वी अलंकार वहाँ माना है जहाँ काम, क्रोध आदि के कारण रस एवं भावों का अनुचित ढंग से वर्णन हो ।

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ।।[3]

1- का० सा० 4/3

2- का० सा० 4/2

3- का० सा० 4/5

यहाँ रसवादी आचार्यों एवं उद्भट में यही अन्तर है कि रसवादी अंगरूप रसाभास एवं भावाभास को ऊर्जस्वी अलंकार कहते हैं तो उद्भट अंगीभूत को।

इस प्रकार के विवेचन से यही पता चलता है कि उद्भट अलंकारमत के साथ ही साथ रसवाद के भी समर्थक थे।

रुद्रट
===

रुद्रट ने काव्यालंकार ग्रन्थ में 5 शब्दालंकारों और 57 अर्थालंकारों अर्थात् कुल 62 अलंकारों का निरूपण किया है। अर्थालंकारों में से चार अलंकार दो-दो बार वर्णित हुए हैं। इन अलंकारों को कम कर देने पर अर्थालंकारों की संख्या 53 रह जाती है। इनमें से केवल 26 अलंकार ही ऐसे हैं, जो इनसे पूर्व - वर्ती आचार्यों, भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके थे। शेष 27 अलंकार सर्वप्रथम इन्हीं के ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इनकी आविष्कृति का श्रेय रुद्रट को दिया जाए या किसी अन्य अप्रख्यात आचार्य अथवा आचार्य वर्ग को, इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि रुद्रट उक्त पाँचों आचार्यों के परवर्ती थे। रुद्रट वक्रोक्ति नामक काव्य तत्व के आधार पर भी भामह, दण्डी एवं वामन के परवर्ती ठहरते हैं क्योंकि रुद्रट से पूर्व वक्रोक्ति अभीष्ट व्यापक एवं सर्वसामान्य काव्यतत्व की प्रतिपादिका थी, इसे संकुचित एवं विशिष्ट रूप रुद्रट द्वारा ही मिला।

वामन को भामह और दण्डी से परवर्ती माना जाता है। इनका समय आठवीं शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। रुद्रट वामन से परवर्ती

हैं, अतः रुद्रट का समय आठवीं शती के बाद का मानना चाहिए । यह इनके समय की उच्चतम सीमा है । अर्थात् इससे पहले इनके अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।

रुद्रट के समय निर्धारण के प्रसंग में कतिपय तथ्य भी उल्लेख्य है -

शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में यह संकेत किया है कि उन्होंने रुद्रट प्रणीत एक अलंकारग्रन्थ की भी टीका प्रस्तुत की है ।[1]

हैल्श के अनुसार उक्त टीका में उद्धृत अनेक पद्य ऐसे हैं जो वस्तुतः रुद्रट के काव्यालंकार से ग्रहीत हैं [2]

इसके अतिरिक्त उद्भट प्रणीत काव्यालंकार के टीकाकार प्रतिहारेन्दु - राज ने भी रुद्रट की कम से कम तीन कारिकाओं एवं उदाहरण उद्धृत किये हैं ।[3]

वल्लभदेव और प्रतिहारेन्दुराज दोनों का समय दशम शती का पूर्वार्ध माना जाता है, अतः रुद्रट के समय की यही निम्नतम सीमा स्वीकृत की जानी चाहिए अर्थात् इसके बाद उसका जीवन नहीं समझना चाहिए ।

इस प्रकार उक्त दोनों सीमाओं 8 वीं शती का उत्तरार्द्ध और 10 वीं शती का पूर्वार्द्ध को देखते हुए रुद्रट का समय नवीं शती का मध्य भाग मानना चाहिए । किन्तु यहीं एक शंका उत्पन्न होती है कि आनन्दवर्द्धन ने जो कि रुद्रट का समकालीन माना जाता है न तो इनके किसी सिद्धान्त का उल्लेख किया है और न उनके ग्रन्थ काव्यालंकार से कोई कारिका या उदाहरण प्रस्तुत किया है, इसका कारण क्या

1- शिशुपालवध (काशी संस्कृत सीरीज, सन् 1929, 4•2, 6, 28 टीकाभाग

2- काव्यालंकार 2•44, 48, 55

3- काव्यालंकार 7/35-36, 12/4

हो सकता है ? इसका एक तो सम्भव कारण यह है कि उन्होंने रुद्रट के इस ग्रन्थ को नहीं देखा होगा, शायद उन्हें यह उपलब्ध ही न हुआ हो । दूसरा कारण यह कि उन्होंने इसे अपने ध्वनिसिद्धान्त से किंचित अलग सा पाकर अथवा रुद्रट की कुछ एक धारणाओं से असहमत होते हुए इसे उद्धृत करने की आवश्यकता ही नहीं समझी । किन्तु दूसरा कारण मनस्तोषक प्रतीत नहीं होता , क्योंकि आनन्दवर्धन जैसा मर्मविद् एवं प्रबल आचार्य रुद्रट की विरोधी धारणाओं को उद्धृत करने के उपरान्त उनका खण्डन अवश्य करता, विशेषतः उस स्थिति में जबकि उन्होंने अनेक पूर्ववर्ती मान्यताओं का खण्डन किया है, [illegible] ग्रन्थों [illegible] ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है, जबकि उन्हें अपने ग्रन्थ की वृत्ति में ऐसे प्रसंगों को उद्धृत करने का पर्याप्त अवसर भी प्राप्त था, और जबकि रुद्रट का काव्यालंकार कोई सामान्य कोटि का ग्रन्थ भी नहीं है कि जिसे उद्धृत करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी हो । अस्तु उपर्युक्त पहला कारण ही मान्य है कि उन्होंने इस ग्रन्थ का किसी कारण से नहीं देखा होगा । रुद्रट का समय विक्रमीय नवम शताब्दी का मध्यकाल जान पड़ता है । ये रसमत से प्रभावित होकर भी अलंकारवादी आचार्य हैं । इन्होंने सभी अलंकारवादी आचार्यों से रस का विस्तार के साथ विवेचन किया है । इन्होंने अपने काव्यालंकार में सबसे पहले रस का स्वतन्त्र रूप से विवेचन प्रस्तुत किया है । काव्य में रस के महत्त्व की अनेक प्रकार से घोषणा की है -

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।।[1]

तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।[2]

1- का० ल० 12•1 पृ० 372

2- का० ल० [illegible] पृ० 372

रस के विभिन्न भेदों के साथ ही साथ नायिका-भेद का भी वर्णन इन्होंने किया है जो काव्यालंकार के चार अध्यायों ‖ 12 से 15 ‖ में समाप्त हुआ है । इनका रस विवेचन विस्तृत एवं वैज्ञानिक है । इन्होंने भरत के आठ रसों की संख्या दस कर दी है तथा शान्त एवं प्रेयान को रस के अन्तर्गत स्थान दिया है ।

श्रृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः ।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ।।[1]

रुद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस का विवेचन काव्य को दृष्टि में रख कर किया है । भरत की रस-मीमांसा नाटक पर आधारित थी, किन्तु रुद्रट रस - सिद्धान्त काव्य की दृष्टि से निर्मित हुआ है । रस का महत्व बताते हुए रुद्रट ने कहा है कि रस के अभाव में कोई भी काव्यशास्त्र की भाँति नीरस हो जाता है, अतः कवियों को रस-निरूपण सतर्क होकर करना चाहिए । रुद्रट के इस कथन में स्पष्ट रूप से रस के प्रति आकर्षण का भाव प्रकट होता है और यह भी सूचित होता है कि वे रस को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं ।

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।।[2]

रस को काव्य का सर्वाधिक उपयोगी तत्व मानते हुए रुद्रट ने बताया है कि रस के समावेश से काव्य में मोहकता आ जाती है और पुरुष उसमें रमण करने लगते हैं ।

1- का० ल० 12•3 पृ० 373
2- का० ल० 12/14 पृ० 379

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः सम्यग्विभज्यरचिताश्चतुरेणचारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ।।[1]

रुद्रट ने कहा है कि जिस प्रकार का आनन्द श्रृंगार एवं करुण रस से प्राप्त होता है, उसी प्रकार की आनन्दानुभूति शान्त रस के द्वारा भी हो सकती है । इस प्रकार का विचार प्रकट कर इन्होंने शान्त रस की महत्ता सिद्ध की है एवं भरत के प्रतिकूल विचार भी प्रकट किया है ।

इस प्रकार के विवेचन में रुद्रट की स्वतन्त्र मेधा का परिचय प्राप्त होता है ।

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ।।[2]

रुद्रट ने परम्परागत चार वृत्तियों के बदले वृत्तियों की संख्या पाँच मानी है - मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा ।

मधुरा प्रौढ़ा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च ।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थ नाम फलाः ।।[3]

इन्होंने विभिन्न रसों के आधार पर रीतियों के सदुपयोग का निर्देश किया है और रीतियों का स्थान रस से गौण माना है । प्रेय, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में वैदर्भी एवं पांचाली का एवं रौद्र रस में लाटी और गौडी का प्रयोग होना चाहिए, शेष रसों के लिए कोई नियम नहीं है ।

1- का० लं० 15/21 पृ० 412

2- का० लं० 12/4 पृ० 374

3- का० लं० 12/19 पृ० 380

वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयो: ।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ।।[1]

श्रृंगार रस की उत्पत्ति पुरुष और स्त्री की परस्पर कामानुवृद्धि प्रकृति के कारण होती है । इसके दो भेद हैं - संयोग एवं विप्रलम्भ । सतत् साथ रहने को संयोग एवं वियोगावस्था को विप्रलम्भ कहते हैं । पुन: श्रृंगार के दो भेद हैं :- प्रच्छन्न और प्रकाश ।

व्यवहार: - प्रकाशश्च ।[2]

इन्होंने विप्रलम्भ श्रृंगार के चार भेदों का उल्लेख विस्तार के साथ किया है - प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण । शान्त रस का वर्णन करते हुए रुद्रट ने कहा है कि इसका स्थायी भाव सम्यक ज्ञान है तथा विषययुक्त शब्दादि विभाव एवं जन्म, जरा और मरणजन्य त्रास अनुभाव होते हैं । शान्त रस सम्यक ज्ञान के स्फुरण होने से होता है जिससे नायक विगतेच्छ या वीतराग हो जाता है ।

सम्यग्ज्ञानप्रकृति: - - - - - - - - - - - - - - - - तत्र जायन्ते ।[3]

रुद्रट की रस-मीमांसा भरत से प्रभावित है । इन्होंने रस का विवेचन स्वतन्त्र - रूप से किया है, उसे अलंकार, रीति अथवा गुण में अन्तर्भावित नहीं किया । रुद्रट का आविर्भाव ऐसे सन्धि-स्थल में हुआ था जब अलंकार, गुण एवं रीति सिद्धान्तों की तूती बोलती थी एवं ध्वनि सम्प्रदाय विकास के गर्भ में अँगड़ाई ले रहा था । ऐसे सन्धि युग में रुद्रट का रस-विवेचन उनकी आधारभूत

1- का० ल० 15/20 पृ० 411

2- का० ल० 12/6 पृ० 375

3- का० ल० 15/15-16 पृ० 410

दृढ़ता का परिचायक था । यद्यपि इनका रस विवेचन बहुत भरत का आधार ग्रहण किये हुए हैं । भरत के बाद उद्भट ने नव रसों को स्वीकार किया था किन्तु सर्वप्रथम रुद्रट ने ही दसवें रस प्रेयान् का वर्णन किया । विद्वानों ने इन्हें मूलतः अलंकारवादी कहा है और अपने कथन की पुष्टि के लिए अलंकार सर्वस्वकार राजानक रुय्यक के कथन को भी उद्धृत किया है, किन्तु समग्ररूप से विचार करने पर रुद्रट रसमत के अधिक निकट जान पड़ते हैं ।[1]

रुद्रट ने वस्तुतः ध्वनिकार के रस-विवेचन का मार्ग सुगम कर दिया था ।

भट्टलोल्लट :-

लोल्लट के विषय में संस्कृत के विद्वान अधिक से अधिक इतना ही अनुसंधान कर पाये कि वे उद्भट के परवर्ती तथा अभिनव के पूर्ववर्ती थे और कदाचित प्रसिद्ध काश्मीरी दार्शनिक कल्लट के समसामयिक थे ।[2]

काव्य शास्त्र के अतिरिक्त दर्शन के भी वे पण्डित थे और कदाचित कविता के प्रति भी उनका अनुराग था । भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या के अतिरिक्त उन्होंने काव्य-रचना भी की थी और संभव है दर्शन पर भी कुछ लिखा हो । उनके केवल दो ही उद्धरण प्राप्त है - भरत सूत्र की व्याख्या का अंश और अभिधा विषयक मन्तव्य । लोल्लट ने अपने छोटे से उद्धरण में जिस मनोयोग के साथ भरत सूत्र की व्याख्या की है और रस को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, उससे उनके रसवादी होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता । राजशेखर ने उनका उद्धरण देकर अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इनके मत की पुष्टि की है ।

1- एस0 पी0 ओ0 एस0 पी0 पृ0 187

2- इण्डियन ऐस्थेटिक्स [कम्परेटिव ऐस्थेटिक्स, भाग 1] डा0 कान्ति चन्द्र पाण्डे, पृ0 28

अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः ।

रसवद् एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य इति अपराजितिः ।[1]

अर्थात अपराजित के पुत्र भट्टलोल्लट का मत है कि अर्थसमूह भले ही असीम हो, किन्तु काव्य में सरस अर्थ का निबंधन होना अत्यावश्यक है, नीरस विषय का नहीं । लोल्लट ने अपनी व्याख्या में भरत के पश्चात पहली बार रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, और भाव के साथ उसका प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है । इस प्रकार अपने युग के अन्य आचार्यों के असमान रस को शब्दार्थ का अंग न मानकर मानव भावों की परिणति रूप मानकर उन्होंने रस-सिद्धान्त के उत्कर्ष में निश्चय ही योग दिया -

तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः[2] ।

इसके अतिरिक्त लोल्लट ने रस के विषय में दो और महत्वपूर्ण स्थापनाएं की है ।

{1} वासना के आवेश के कारण नट में भी रस तथा भावों की अनुभूति सम्भव होने से नट को भी रसास्वादकर्त्ता मानना चाहिए ।

रसाभावानामपि वासनावेशेन नटे सम्भवादनुसन्धिकत्वाच्च - - - - - ।[3]

{2} मुक्तः रस अनन्त है, किन्तु नटों में प्रसिद्ध होने के कारण नाटक में आठ रसों का ही प्रयोग करना चाहिए ।

------ तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्या एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितम् - - - - - - - - - - - - - - ।[4]

1- का० मी० पृ० 110

2- अ० भा० पृ० 443

3- अ० भा० 418

4- अ० भा० पृ० 529

शङ्कुक

भरतसूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार शंकुक हैं, नाम से ये काश्मीरी आचार्य प्रतीत होते हैं । डा0 कान्ति चन्द्र पाण्डे के अनुसार इनका सम्बन्ध भी शैव दर्शन से था । किन्तु इनकी चिंतन पद्धति भी, लोल्लट की चिंतनपद्धति के समान, शैव दर्शन के अधिक अनुकूल नहीं पड़ती । अतएव पुष्ट प्रमाणों के अभाव में केवल प्राप्त उद्धरणों के आधार पर तो इन दोनों को शैव दार्शनिक मानने में सामान्यत: संदेह ही होता है । इसके विपरीत शंकुक के विषय में यह नवीन अनुसंधान अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है कि उन पर बौद्ध न्याय का प्रभाव था । सम्भवत: नवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ समय तक वे लोल्लट के समकालीन रहे होंगे । अभिनवभारती आदि में प्राप्त शंकुक से सम्बद्ध उद्धरणों में रस के प्रति आग्रह सर्वथा स्पष्ट है - शंकुक ने रस के स्वरूप, निष्पत्ति और स्थान आदि का अनुसन्धान जिस उच्चतर दार्शनिक भूमिका पर किया है, इसे रस-सिद्धान्त के तात्त्विक विकास में निश्चय ही सहायता मिली है । वस्तुत: शंकुक की दार्शनिक पृष्ठभूमि भट्टलोल्लट से भी अधिक सुदृढ़ और गंभीर है - और रस को शब्दार्थ - धर्म की निरंतर भूमिका से ऊपर उठाकर 'अनुमान' आदि मन की क्रिया के रूप में उपस्थित कर उन्होंने रस सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा में मूल्यवान योग दिया है । लोल्लट की भांति शंकुक ने भी रस को नाट्य रस के अर्थ में ही ग्रहण किया है, किन्तु लोल्लट जहाँ अनुकार्य और अनुकर्त्ता पर ही रुक जाते हैं, वहाँ शंकुक रस को सहृदय तक पहुँचा देते हैं ।

रुद्रभट्ट :-

रुद्रभट्ट का आविर्भाव दसवीं शताब्दी के पूर्व सम्भव नहीं है । आचार्य हेमचन्द्र ने बारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में सर्वप्रथम रुद्रभट्ट के 'श्रृंगारतिलक' का उल्लेख किया है । इनके पूर्व इस ग्रन्थ का उल्लेख न मिलने से इन्हें हेमचन्द्र के बहुत पहले का आचार्य नहीं कहा जा सकता । रुद्रभट्ट ने 'श्रृंगारतिलक' के तीन परिच्छेदों

में रस - निरूपण किया है । प्रथम परिच्छेद में नव रस, भाव एवं नायिका भेद की विस्तार से चर्चा है । द्वितीय परिच्छेद में विप्रलम्भ शृंगार एवं तृतीय परिच्छेद में अन्य रसों एवं वृत्तियों का वर्णन है । रुद्रट की अपेक्षा इन्होंने रसों का विस्तार के साथ वर्णन किया है, विशेष रूप से शृंगार का । इन्होंने रसहीन काव्य की चन्द्रमा रहित रात्रि से उपमा देकर रस की महत्ता प्रतिष्ठित की है ।

यामिनीवेन्दुना मुक्ता नारीव रमणं बिना ।
लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा ।।[1]

इन्होंने नव रसों में शान्त को भी स्थान दिया । शृंगार रस के उदाहरण में स्वकीय मधुर पदों को रखा है जो महाकवि अमरु से टक्कर लेने वाले हैं । रूद्रभट्ट ने वृत्तियों का वर्णन परम्परागत ढंग से किया है और वृत्तियों के चार ही प्रकार माने हैं - कौशिकी, भारती, सात्वती एवं आरभट ।

कैशिक्यारभटी चैव सात्त्वती भारती तथा ।
चतस्त्रो वृत्तयो ज्ञेया रसावस्थानसूचिका: ।।[2]

शृंगार तिलक में ग्रन्थ रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि इसकी रचना पूर्ववर्ती आचार्यों के इस मत का खण्डन करने के लिए की गई है कि रस का वर्णन केवल नाटक में ही होता है । इन्होंने कहा है कि रस का निरूपण काव्य में करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है ।

प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै: रसस्थिति: ।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते ।। [3]

1- शृं0 ति0 1/6

2- शृं0 ति 1.91

3- शृं0 ति0 1.5

भरत से रुद्रभट्ट तक रस निरूपण क्रमशः रस की लोकप्रियता का परिचायक है । अलंकार, गुण एवं रीतिवादी आचार्यों को भी रसतत्त्व ने आकृष्ट किया था और कालान्तर में उनका प्रभाव फीका पड़ने लग गया था । और रस - निरूपण काव्य में ही होने लगा ।

आनन्दवर्धन :-

आचार्य आनन्दवर्धन का नाम साहित्य शास्त्र में अमर है । 'ध्वन्यालोक' उनकी उज्जवल कीर्ति को सदा आलोकित करता रहेगा । पण्डितराज जगन्नाथ उन्हें साहित्यशास्त्र का मार्ग व्यवस्थापक कहा है कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में आनन्द - वर्धन को काश्मीर - नरेश अवन्तिवर्मा का समकालिक कहा है ।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथा रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ।।[1]

अवन्तिवर्मा का समय 855 से 883 ई0 तक के बीच माना जाता है । आनन्दवर्धन ने उद्भट का उल्लेख किया है । अतः वे उद्भट के अर्थात 800 ई0 के बाद ही हुए होंगे । राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है अतः आनन्दवर्धन 900 ई0 के पूर्व हुए होंगे । इस प्रकार आनन्दवर्धन का जीवनकाल लगभग 810 से 880 ई0 के बीच पड़ता है । आनन्दवर्धन के पिता का नाम नोण था नोणोपाध्याय था । 'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' में सुरक्षित ध्वन्यालोक की पाण्डुलिपि के तृतीय उद्योत के अन्त में उल्लिखित है ।

ध्वन्यालोक के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की । धवन्यालोक के द्वारा आनन्दवर्धन ने काव्यरचना का सर्वस्व व्यंग्य अर्थ तथा उसके

1- रा0 त0 5/34

व्यंजक शब्द एवं अर्थ का महत्त्व बताया । काव्य में व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता प्रमाणित की । गुण रीति, अलंकार आदि का काव्य में उचित स्थान एवं मूल्य निर्धारित किया । रसादेश की व्यवस्था करते हुए इसके विरोधाविरोध का परिहार बताया । कविप्रतिभा के साथ ध्वनिरूप काव्य रचना का अविनाभाव सम्बन्ध प्रमाणित किया । काव्यजगत् में नवीनता की सृष्टि ध्वनिमयी रचनाओं के द्वारा ही सम्भव बतायी । इस ग्रन्थ में चार उद्योत है प्रथम उद्योत में ध्वनिविरोधी विविध दृष्टिकोणों का उल्लेख करके उनका निराकरण किया गया है तथा ध्वनि के स्वरूप की स्थापना की गई है । द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के प्रकारों का विशुद्ध विवेचन किया गया है तथा चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का निरूपण है ।

तृतीय अध्याय

रस का स्वरूप

नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनि को ही रस की साहित्यशास्त्रीय चर्चा करने का विशेष श्रेय दिया जाता है । तथापि नाट्यशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि भरत से पूर्व ब्रह्मा, द्रुहिण, सदाशिव भरत, ब्रह्म भरत, तण्डु, नन्दी या नन्दिकेश्वर वासुकि, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धादिन, शिलालिन, कृशाश्व आदि आचार्यों ने नाट्य आदि के प्रसंग में रस का वर्णन किया है ।

भरत ने नाट्य को पाँचवा वेद कहा है । उसकी सामग्री समस्त वेदों से ग्रहण की गई है । रस को अथर्ववेद से ग्रहण किया गया है । रस ही नाट्य में प्रधान है, अतः उसके बिना कोई नाट्यादि प्रवर्तित नहीं हो सकता ।

"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।[1]

नाट्य के अन्तर्गत आने वाले अभिनय धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि को एक साथ रखकर भी उन्होंने रस को ही प्राथमिकता दी है । उनका विचार है कि रस तथा भावों की उचित व्यवस्था रख सकने वाला व्यक्ति ही नाट्य रचना में सफल हो सकता है जो इस व्यवस्था को जानता है वही उत्तम सिद्धि का अधिकारी है ।

एवम् रसाश्च भावश्च व्यवस्था नाटके स्मृताः ।
य एवमेतान् जानाति स गच्छेत् सिद्धिमुत्तमाम् ।।[2]

नाट्य में रस का वही स्थान है जो माला में विविध रंगों तथा सुगन्धि का है । रस नाट्य में सुगन्धि तथा सौन्दर्य का विधायक है ।

1- ना० शा० 10·71

2- ना० शा० 7/104

नानाविधैर्यथापुष्पैर्माल्यं ग्रथ्नाति माल्यकृत ।
अंगोपांगरसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत् ।।[1]

रस की व्याख्या साहित्य शास्त्र में दर्शन शास्त्रीय, मनोविज्ञान शास्त्रीय इत्यादि अनेक रूपों में विद्वानों द्वारा की गई है । हमारा मुख्यतः अभिप्रेत साहित्यशास्त्रीय रस है ।

रस भारतीय वाङ्•मय के प्राचीनतम शब्दों में से है । सामान्य व्यवहार में रस का चार अर्थों में प्रयोग होता है -

1- पदार्थों का रस - अम्ल, तिक्त, कषाय आदि
2- आयुर्वेद का रस
3- साहित्य का रस
4- मोक्ष या भक्ति का रस

पदार्थों को निचोड़कर निकाला हुआ द्रव जिसमें किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है । इस प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ - सार और आस्वाद दोनों अर्थों में होता है । पदार्थ का सार भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है ।

आयुर्वेद में रस का अर्थ है - पारद-प्राकृतिक रस का ही अर्थ - विकास है । यहाँ पदार्थ सार तो अभिप्रेत है ही, किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नही वरन गुण का ग्रहण किया जाता है । पदार्थ - सार जहाँ पर आस्वाद प्रधान है, वहाँ पर आयुर्वेद का रस शक्ति प्रधान है ।

साहित्य में रस का अर्थ है [1] काव्य सौन्दर्य और [2] काव्या - स्वाद तथा काव्यानन्द भी ।

1- ना० शा० 26/109

मोक्ष रस ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द का वाचक है ।

रस का सभी अर्थ आस्वाद के अन्तर्गत आता है चाहे उसका ग्रहण करने का माध्यम ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा, द्रवत्व और सार अथवा प्राण तत्व का भाव भी प्रायः किसी न किसी रूप में सर्वत्र मिलता है ।

रस का प्रथम अर्थ - अर्थात् पदार्थों का सारभूत द्रव - वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है । वनस्पतियों के रस का वैदिक युग में प्रचुर प्रयोग होता था, मानव सभ्यता के उस प्रभात युग में यह स्वाभाविक ही था -

महे यत्पित्र ईं रसं दिवे करवत्सरत् - - - - - -[1]

किन्तु इन सबकी अपेक्षा सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग अधिक महत्वपूर्ण है ।

देवों को मत्त करने के लिए उस अभियुक्त और अभीष्टवर्द्धक सोमरस में गव्य मिलाओ

सोमो अर्वति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम् ।
सुवीरो अभिशस्तिपाः ।[2]

संसार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं ।

इस प्रकार इन प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि रस का मूल अर्थ कदाचित द्रवरूप वनस्पति सार ही था । यह द्रव रूप सार निश्चय ही आस्वाद विशिष्ट होता था एतएव आस्वाद विशिष्ट होने के कारण

1- ऋ० 1·71·5

2- ऋ० 9·23·5

आस्वाद रूप में भी रस का अर्थ विकास स्वत: ही हो गया । सोम नामक औषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अत: सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया सोमरस का आस्वाद अपूर्व था, उसमें ऐसे गुण थे जिनसे शरीर और मन में स्फूर्ति, शक्ति और मद का संचार होता था और उसके दान से एक विचित्र आह्लाद की प्राप्ति होती थी । अत: सोमरस के संसर्ग में रस की अर्थ परिधि में क्रमश: शक्ति, मद और अन्त में आह्लाद का समावेश हो गया । आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया - वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणत हो गया और वैदिक युग में ही आत्मानन्द का वाचक बन गया ।

उपनिषद के रस का प्रयोग द्रव के अर्थ में तो इतना नहीं है - द्रव्य की पोषक, शक्ति और आस्वाद - द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के अर्थ में अनेक सन्दर्भों में मिलता है :

> औषधीभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेत: । रेतस: पुरुष: स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय: ।[1]

औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात शरीर उत्पन्न हुआ । यह शरीर अन्न रसमय है अर्थात् अन्न के रस से बना है ।

रस का अर्थ केवल द्रव्य नहीं है, वरन् द्रव्य जन्य देह-धातु और शक्ति आदि है । यहाँ प्राकृतिक रस की अपेक्षा आयुर्वेद के रस [देह-धातु] की विवक्षा अधिक है । द्रव्य और द्रव्यजन्य ऊर्जा आदि से सूक्ष्मतर प्रयोग है ।

1- तै0 2·1 [क]

तन्मात्रा के अर्थ में यह प्रयोग भी वैदिक ही है । उपनिषद में इसका स्पष्ट व्यवहार है ।

बाह्य दृष्टि से रसेन्द्रिय के विषय का नाम रस है और तत्व दृष्टि से यह रस तन्मात्रा है । यहीं से यह शब्द गुण द्रव्य आदि का नाम धारण कर सांख्य वैशेषिक आदि दर्शनों में गया, जहाँ इसका सूक्ष्म गहन विश्लेषण किया गया । आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति में ही तन्मात्राओं की स्थिति रहती है शान्त आत्मा इन सबसे मुक्त हो जाता है :

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।[1]

किन्तु भौतिक अर्थ में ही वह परमतत्व अरस है, परमार्थिक अर्थ में वह सर्वरस है । मनोमय: प्राणशरीरो भारूप: सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: - - - -[2]

वह ब्रह्म ज्योति मनोमय है, प्राणशरीर है प्रकाशरूप है, सत्य - संकल्प है, आकाश उसका आत्मा है । वह सर्व - कर्म समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्ध और सर्वरस है - - - - - -

यहाँ पर रस के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की सीमाएँ परस्पर मिल जाती है अथवा यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि रस की भौतिक अर्थ की सीमा पार कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा में प्रवेश करता है । वह परमतत्व अरस भी है और सर्वरस भी है - अरस में रस का भौतिक अर्थ अभीष्ट है और 'सर्वरस' में आध्यात्मिक, क्यों कि भौतिक अर्थ में ही वह रस से विहीन और आध्यात्मिक अर्थ में ही रसमय हो सकता है ।

1- कठ0 3.15

2- छा0 3.2

लक्षणा की शक्ति से इस प्रकार का अर्थान्तरसंक्रमण सहज ही सिद्ध हो जाता है । रस का यह आध्यात्मिक अर्थ उपनिषद् के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाता है :

रसो वै स: । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।[1]

वह रस रूप है, इसलिए रस को पाकर जहाँ कहीं रस मिलता है, उसे प्राप्त कर मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है ।

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना नही हुई, एक ही अर्थ में रस क्रमश: सूक्ष्मतर होता चला गया है । रस का मूल अर्थ था - अन्न का रस । 'द्रव्य' से फिर वह द्रव्य के'आस्वाद' का वाचक बना और फिर विशिष्ट आस्वादयुक्त सोमरस का । सोमरस में आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुणों का भी वैशिष्ट्य था - ऊर्जा, स्फूर्ति, मस्ती आदि । अत: रस की परिधि विकास क्रम से आस्वाद के अतिरिक्त ऊर्जा और तन्मयता आदि गुणों का भी समावेश हो गया । सामान्य अन्नरस जहाँ आस्वाद विशिष्ट ही होते थे वहाँ सोमरस में आस्वाद के साथ एक विशेष प्रकार की तन्मयता और आह्लाद भी था - अर्थात् सोमरस के आस्वाद में प्रकारान्तर से मानसिक तत्व का भी विशेष रूप में समावेश हो गया था । विचार के क्षेत्र में आस्वाद ही 'रस' तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मरस और ब्रह्मरस के रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार रस का अर्थ अन्नरस या पदार्थ रस से ब्रह्मरस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है ।

1- तै0 2·7

रस के उपर्युक्त अर्थों में से शृंगारादौ अर्थात् 'काव्य-रस' को छोड़कर प्राय: अन्य सभी प्रमुख अर्थों की उद्भावना इस युग में हो चुकी थी । काव्य-रस के शास्त्रीय अर्थ में रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता । ऋग्वेद की ही अनेक ऋचाओं से यह संकेत मिलता है कि अलक्ष्य रूप से लक्षणा ऋषियों की विरवन्दिता शक्ति 'वाक' के लिए भी रस का अर्थ प्रसार करने लगा था : वाणी के लिए 'पीना' क्रिया और 'स्वादु' 'मधु' आदि विशेषणों का प्रयोग इसका असंदिग्ध प्रमाण है ।

इस प्रकार वैदिक युग में ही रस शब्द का प्रयोग वाणी या शब्द + अर्थ के लिए होने लगा था । किन्तु यह भी व्यवहारिक प्रयोग मात्र था , शास्त्रीय नही ।

इसके बाद रामायण-महाभारत का काल आता है, यों तो वाल्मीकि रामायण के प्रचलित संस्करणों में बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है ।

> पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
> जातिभि: सप्तभिर्बद्धम् तन्त्रीलयसमन्वितम् ।।[1]
>
> रसै: शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकै: ।
> वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ।।[2]

बालकाण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है, किसी भी प्रामाणिक संस्करण में ये श्लोक नहीं मिलते । ब्लूमफील्ड और मोनियर विलियम्स के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत

1- रामा० निर्णय सागर प्रेस - 8
2- रामा० निर्णय सागर प्रेस - 9

में रस शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ । रामायण में रस का प्रयोग जीवन रस [अमृत] पेय आदि साधारण अर्थों में ही हुआ है । महाभारत में भी वह जल, सुरा, पेय, गन्ध आदि का ही पर्याय है । महाभारत काल के पश्चात सूत्रकाल आता है । यह मूल दर्शन सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एवं जैन दर्शनों के प्रथम आर्विभाव का युग है । इसी युग में वैयाकरण, पाणिनी और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन का कामसूत्र लिखा गया । दर्शन सूत्रों में रस का प्रयोग तन्मात्रा के अर्थ में और अर्थशास्त्र आदि में द्रव्यादि के रूप में ही इसका प्रयोग होता रहा ।

हमारे अनुसन्धान में सहायक इस युग का एक ग्रन्थ है - कामसूत्र वात्स्यायन के नाम से प्रचलित कामसूत्र का जो प्रसिद्ध संस्करण जयमंगला टीका के साथ इस समय मिलता है उसमें इस शब्द का प्रयोग रति, काम, शक्ति आदि के अर्थ में प्राय: हुआ है ।

रसो रति: प्रीतिर्भावो रागो वेग: समाप्तिरति रति पर्याय ।[1]

शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नरा: ।[2]

एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ में भी रस का स्पष्ट प्रयोग है ।

तदिष्टभावलीलानुवर्तनम् ।[3]

अर्थात यहाँ रस और भाव से अभिप्राय शृंगारादि रस और स्थायि संचारी आदि भावों का है ।

उपर्युक्त सूत्र विशेष की रचना कितनी प्राचीन है वह वात्स्यायन कृत मूल सूत्रों से है या नहीं है यह कहना कठिन है । किन्तु वात्स्यायन

1- कामसू 2•1•65
2- काम0 2•5•32
3- काम0 6•2•35

के ही युग में या उसके आसपास रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो गया होगा, ऐसा अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं । अधिकांश विद्वानों का आज यही मत है कि वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना कदाचित ईसा पूर्व चौथी शती के लगभग हुई थी । यह युग सूत्र - काल कहलाता है और इसका विस्तार 5 - 6 शती ई0 पू0 से 5 - 6 शती ईस्वी तक माना जाता है । इस कालविधि में ही सूत्र शैली का पूर्ण प्रसार हुआ । कामसूत्र की रचना इसके पूर्वार्द्ध में और भरतसूत्र की कदाचित उत्तरार्द्ध में हुई ।

एक तो भरत सूत्रों में ही प्रतिपादित रस-सिद्धान्त इतना सांगोपांग और परिपूर्ण है, दूसरे स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख तथा आनुवंश्य श्लोकों में उनके मन्तव्य का प्रयोग इतने प्रचुर रूप में किया है कि रस की शास्त्रीय परम्परा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले ले जाना अनिवार्य हो जाता है । इस प्रकार रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ के आविर्भाव का समय कामसूत्र की रचना के आस पास ही पहुँच जाता है । इन दो शताब्दियों में शास्त्रीय अर्थ का इतना विकास हो चुका था कि भरत को या भरत नाम से रचना करने वाले सूत्रकार को उसका पूर्ण विस्तार करने में कोई कठिनाई नही हुई ।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के फलस्वरूप इसका निष्कर्ष इस प्रकार है ।

1- रस का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियों के द्रव के लिए होता था - जिनके अपने - अपने आस्वाद और गुण थे ।

2- द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्यवाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा आस्वाद और ऊर्जा आदि के अर्थ में उसका विकास हो गया ।

3- सोमरस के वर्द्धमान प्रचार ने 'रस' शब्द के अर्थ में आनन्द, मस्ती और तन्मयता - चमत्कार आदि का समावेश कर दिया । प्रत्येक रस या उसका आस्वाद आनन्दप्रद नहीं होता, किन्तु सोमरस के प्रभाव से रस आनन्द और तन्मयता - चमत्कार आदि का वाचक बन गया ।

4- लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार के लिए होने लगा ।

5- दूसरी ओर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा ।

6- वाणी का रस काव्य - रस का ही समानार्थक है । यों तो वेद में कवि और काव्य शब्दों का भी प्रयोग है पर वह वर्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोड़ा दूर है, काव्य की अपेक्षा वाक् वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है । अतः वाग् रस को काव्य रस का वाचक मानना सर्वथा युक्तिसंगत है ।

7- किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यवहारिक ही है, रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य में ही नहीं है ।

8- अतः रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण महाभारत काल के पश्चात् भरत के नाट्यसूत्रों से बहुत पहले - कामसूत्र के प्रभाव के फलस्वरूप अनुमानतः चौथी पाँचवी शती ईसा पूर्व तक हुआ होगा यह वह युग था जब भरत के पूर्ववर्ती आचार्य (जिनके मत भरत ने विस्तार से आनुवंश्य श्लोकों में उद्धृत किये हैं । रसशास्त्र की परम्परा का निर्माण कर रहे थे ।

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्द रसनिष्पत्ति:"[1]

भरत ने रस की उपरोक्त परिभाषा दी है । यह वस्तुत: लक्षण नही है, फिर भी अभिनवगुप्त ने इसे लक्षण माना है ।

"एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह" ।[2]

परन्तु यह सूत्र मूलत: रसनिष्पत्ति का आख्यान है, स्वरूप का नहीं है । किन्तु रस के स्वरूप का विवेचन भी इसी में निहित है, धीरे - धीरे इसी के आधार पर रस के स्वरूप का पल्लवन हुआ । भरत ने इस सम्बन्ध में अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

> यथा हि नानाव्यंजनौषधीद्रव्यसंयोगाद्द रसनिष्पत्ति भवीति - - -
> - - - तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नु - वन्तीति ।
>
> अत्राह - रस इति क: पदार्थ: - - - - - इत्यभिव्याख्यात: ।[3]

जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते है, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी 'रस' रूप को प्राप्त होते है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि रस कौन सा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ?

1- ना0 शा0 पृ0 93

2- अभि0 भा0 पृ0 442

3- ना0 शा0 पृष्ठ 93

इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि आस्वाद्य होने से अथवा जो आस्वाद्य हो वह रस है । जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित-वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं । इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य-रस कहलाते हैं ।

इन सम्पूर्ण विवेचनों का सार इस प्रकार है -

1- रस आस्वाद नहीं आस्वाद्य है - अर्थात अनुभूति नही है, अनुभूति का विषय है । नवीन शब्दावली में रस विषयिगत नहीं है विषयगत है ।

2- विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से संयुक्त एवं विविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार व्यंजन आदि से संस्कृत अन्न ही भोज्य रस का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार नाट्य - सामग्री [त्रिविध भाव + त्रिविध अभिनय] द्वारा प्रस्तुत स्थायी भाव ही नाट्य रस बन जाता है । यहाँ स्थायी भाव अन्न के समक्ष है और नाट्य सामग्री व्यंजन औषधि आदि के ।

स्थायी भाव - अन्न
नाट्य सामग्री - व्यंजनादि

3- स्थायी भाव 'रस' नहीं है किन्तु रस का आधार है क्यों कि नाट्य सामग्री से संयुक्त होकर वही तो 'रस' बन जाता है । जैसे कि अन्न रस नहीं है किन्तु रस का आधार है, क्यों कि व्यंजन आदि से संस्कृत होकर वही रस बन जाता है ।

उदाहरण के लिए - रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस में नहीं है, परन्तु नायक-नायिका के स्मृति, कटाक्ष, हर्ष, वितर्क आदि के प्रसंग में परिबद्ध होकर विविध अभिनयों के द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो शृंगार रस का रूप धारण कर लेता है ।

4- यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय सहृदय या कवि के स्थायी भाव न होकर नायक के स्थायी भाव का है और नायक चूंकि लोक का प्रतिनिधि है, अतः नायक के स्थायी भाव का अर्थ है, लोक सामान्य स्थायी भाव ।

5- इस प्रकार रस कला का आस्वाद नहीं है, स्वयं कला अथवा कलात्मक स्थिति है जो आस्वाद का विषय है ।

6- सहृदय इसका आस्वादन करता है, परन्तु उसका यह आस्वाद रस-रूप नहीं होता, हर्षादि रूप ही होता है ।

7- हर्षादि के दो अर्थ किये जाते हैं - एक तो यह कि रसास्वाद केवल आनन्दमय ही नहीं होता, विभिन्न स्थायी भाव के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है, दूसरा यह कि भरत ने 'आदि' के द्वारा हर्ष-विरोधी अर्थात कटु - अनुभूतियों की व्यंजना नहीं की, वरन कौतूहल आदि आनन्द-मयी अनुभूतियों की ओर ही इंगित किया है । प्राचीनों में रामचन्द्र, गुणचन्द्र पहले मत के प्रवर्तक हैं और अभिनवगुप्त दूसरे मत के । आधुनिक विद्वानों का मत धीरे-धीरे पहले अर्थ के ही पक्ष में होता जा रहा है, यद्यपि आनन्दवादी मत के समर्थकों की भी संख्या कम नहीं है ।

विषयगत परिभाषा :- इस प्रकार भरत के अनुसार नानाभावोपगत स्थायी भाव ही रस है, और स्पष्ट शब्दावली में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से संयुक्त एवं वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों से व्यंजित स्थायी भाव ही रस है । रस एक प्रकार की भावमूलक कलात्मक

स्थिति है जो कवि निबद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के प्रसंग से नाट्यसामग्री के द्वारा रंगमंच पर उपस्थित हो जाती है ।

उदाहरण - रम्य तपोवन के दृश्यों से सुसज्जित रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करने वाले नट और नटी जब वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों के द्वारा अनुभाव, व्यभिचारी आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रति स्थायी भाव को सर्वांग-रूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक रमणीय, भावमूलक स्थिति ही उत्पन्न हो जाती है जो सहृदय - प्रेक्षक के चित्त में हर्ष कौतूहल आदि जागृत करती है । यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही भरत के अनुसार 'रस' है । सहृदय की अनुभूति इससे भिन्न है - वह तो इसका आस्वाद्य है जो हर्ष, कौतूहल आदि के रूप में अनुभूत होता है । यह स्थिति नाट्यसौन्दर्य मात्र भी नहीं है - अर्थात केवल नाट्य, अलंकार और वस्तु का सौन्दर्य भी रस नहीं हो सकता, नाट्यसौन्दर्य और काव्यसौन्दर्य के माध्यम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही रस है ।

भरत के विवेचन पर आधृत होने के कारण रस की यह परिभाषा विषयगत है इस कारण मौलिक भी । ध्वनि पूर्व काल में अलंकारवादियों ने इसे काव्य के क्षेत्र में भी इसी रूप में ग्रहण कर लिया और परिभाषा का रूप किंचित परिवर्तित होकर इस प्रकार बन गया - शब्द, अर्थ के सौन्दर्य के माध्यम से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से संयुक्त स्थायी भाव ही रस का रूप धारण कर लेता है ।

प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता ।
रूपबाहुल्ययोगेनतदिदं रसवद्वचः ।।[1]

1- काद0 2/28।

विभावादि से अपुष्ट रति केवल प्रीति [प्रात्मक भाव] ही होती है किन्तु विभाव , अनुभाव और संचारी से परिपुष्ट होकर शृंगार रस में परिणत होता है । यहाँ पर यह रस आस्वाद्य रूप है आस्वाद नहीं ।

विषयिगत - परिभाषा :- भरत सूत्र के व्याख्याता आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमश: विषयिगत होता गया और वह आस्वाद्य से 'आस्वाद' बन गया । इस अर्थ परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त पर है । अभिनवगुप्त शैवाद्वैतवाद के प्रसिद्ध आचार्य थे । अत: उन्होंने अपनी दार्शनिक मेधा के द्वारा रस विवेचन को भी शैवाद्वैत सिद्धान्त के रंग में रंग दिया । उनके अनुसार रस का अर्थ है आनन्द । आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है, विषय तो आत्मपरामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है जिसके द्वारा प्रमाता संविद विश्रान्ति का लाभ करता है । यह संविद - विश्रान्ति ही आनन्द है । अत: रस नाट्यगत नहीं हो सकता - नाट्य तो संविद विश्रान्ति रूप रस का माध्यम मात्र ही हो सकता है । इस भूमिका में रस के आनन्देतर रूप की कल्पना का स्वत: ही निराकरण हो गया । अभिनवगुप्त से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक रस का यही रूप स्वीकार किया गया व्याख्या का आधार थोड़ा बहुत बदल गया किन्तु प्रतिपाद्य वही रहा ।

अभिनवगुप्त ने रस का स्वरूप विश्लेषण इस प्रकार किया है -

नट के द्वारा किये जाने वाले [नटगत] अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष सा दिखलाई देने वाला [साक्षात्काराायाभाव] एकाग्र मन की निश्चलता के के कारण अनुभव होने वाला, समस्त नाटकों और किसी - किसी काव्य विशेष से प्रकाशित होने वाले अर्थ नाट्य कहलाते हैं । वह यद्यपि [भिन्न - भिन्न प्रकार के नायक नायिका आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के

अपरिसंख्येय होने के कारण॰ अनन्त विभावादि रूप है । तथापि समस्त अचेतन विभावों के ज्ञान में ॰पर्यवसित होने से ॰ और उस ज्ञान का भोक्ता ॰अर्थात नायक॰ में पर्यवसान होने के कारण नायक कहलाने वाले भोक्ता विशेष के ॰रत्यादि-रूप॰ स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति स्वरूप होता है और वह ॰प्रधान चित्तवृत्तिरूप नायक की ॰ एक चित्तवृत्ति लौकिक गीतों के ॰नाटक या काव्य में आये हुए॰ गेय पदादि लास्य ॰नृत्य विशेष॰ आदि के दस अंगों से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण अलंकार-गीत - वाद्य आदि के संयोग द्वारा अत्यन्त सौन्दर्य को प्राप्त काव्य की महिमा तथा नट के द्वारा की जाने वाली प्रयोग - परम्परा एवं अभ्यास विशेष के प्रभाव से ॰ये विभाव आदि मेरे हैं या दूसरे के हैं इस प्रकार के॰ स्वकोय परकीय भाव से रहित हो जाती है, इसलिए साधारणीकरण हो जाने से ॰नायक की अपनी चित्तवृत्ति॰ सामाजिकों को भी अपनी सत्ता के भीतर समविष्ट करती हुई और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य होने के कारण ही अनुमान तथा आगम एवं ॰इन्द्रिय संयोगादिरूप साधनों की अपेक्षा न रखने वाले ॰ योगि प्रत्यक्ष से उत्पन्न तटस्थ प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप से प्रतीत होने वाली अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक प्रमदादि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के समान अन्य चित्तवृत्ति के उत्पादन में अक्षम होने से निर्विघ्न अनुभूति की विश्रान्ति रूप आस्वादन नाम से कहे जाने वाले व्यापार के द्वारा गृहीत होने के कारण रस शब्द से कही जाती है ।

> तत्र नाट्य नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानस - - - -
> नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः ।
> सा चैकचित्तवृत्तिः स्वकीयपरकीयकतति - - - - - - - -
> - - - - गृह्यमाणत्वाद् रस शब्देनाभिधीयते । [1]

1- अ० भा० ॰ आचार्य विश्वेश्वर ॰ पृ० 427-428

भरतनाट्यशास्त्र में रस को नाट्य की आत्मा तो नहीं कहा गया है किन्तु उसे सभी भावों का मूल तथा नाट्य रूपी वृक्ष का बीज अवश्य माना गया है ।

यथा वीजाद् भवेदवृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूल रसा: सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता: ।।[1]

नाट्यशास्त्र के रस-प्रकरण के वर्णन से प्रकट है कि इनके पहले भी कुछ आचार्य हो गये थे ।

अत्रानुवंश्यो श्लोको भवत: ।[2]

अष्टाध्यायी में शिलाली और कृशाश्व नामक नटसूत्रकारों का निर्देश भी इस बात को विश्वसनीय बताता है -

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षु नट सूत्रयो: । कर्मन्द कृशाश्वादिनि:
शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नटा, कृशाश्विनो नटा,
अधिकृत्य कृते ग्रन्थे । 6 {ण्य} प्रत्ययात सिद्धि ।[3]

किन्तु इनके ग्रन्थ अनुपलब्ध है । इसमें भरत मुनि ही नाट्य शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं । भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं पर काव्य को लक्षणों से युक्त बनाने का उल्लेख किया है ।

काव्यबन्धयस्तु कर्त्तव्या षट् त्रिंशदलक्षणान्विता: ।[4]

1- ना० शा० 6/38

2- ना० शा० 6/12

3- अ० 4/3/110-111

4- ना० शा० 6/10

काव्य और नाटक दोनों को सरस बनाना इनका अभीष्ट है । नाटक की सामग्री में इन्होंने रस को प्रधान स्थान दिया है ।

रसा भावा ह्यभिनया धर्मिवृत्ति प्रवृत्तय: ।[1]

भामह अलंकारवादी होते भी रस की उपेक्षा नहीं की है, उनका कहना है कि महाकाव्य को जनस्वभाव, जनरुचि से और सब रसों से युक्त होना चाहिए ।

युक्तं लोकस्वभावेन रसैव सकलै: पृथक ।[2]

रसवत् आदि अलंकारों में रस का समावेश करके उसका महत्व नष्ट कर दिया है ।

रसवत् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा ।[3]

भामह का रस सम्बन्धी कोई निश्चित मत नहीं मालुम होता । रस से परिचित होने पर भी उन्होंने वक्रोक्ति और अलंकार को ही प्रधानता दी है । भामह की वृत्ति में भी कोई ऐसा विवेचन नहीं मिलता है कि उन्होंने काव्य में रस के स्थान को बहुत अधिक महत्व दिया हो ।

भामह की अपेक्षा दण्डी ने रस का कुछ महत्व बढ़ाया है । उन्होंने माधुर्य के लक्षण में रस का नाम लिया है और वाग्रस तथा वस्तुरस नामक उसके दो भेद किये हैं । शब्दालंकारों में अनुप्रास को वाग्रस का पोषक और अर्थालंकारों में ग्राम्य दोष के अभाव को वस्तुरस माना है । उनका कहना है

1- ना० शा० 6/11

2- का० 1·21

3- का० 3·69

सरस वाक्य ही मधुर होता है । वाक्यान्तर्गत शब्दों और वस्तुओं तथा प्रतिपाद्य विषयों में भी रस परिपूर्ण रूप में रहता है । उसमें बुद्धिमान लोग अर्थात - रस-पारखी वैसे ही झूम-झूम उठते है जैसे मधुलोभी भौरे मधु से उन्मत्त हो उठते हैं - अपने को भूल जाते हैं ।

मधुर रसवद्वाचिवस्तुन्यपिरसस्थिति: ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता: ।[1]

इन्होने गुणों को रसान्तर्भूत मान कर रस का महत्त्व प्रकट किया है और अलंकारों को अर्थ में रसाधान का साधन माना है ।

कामंसर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थ निषिंचति ।[2]

पर इन्होने पृथक रूप से रस की विवेचना नहीं की है ।

वामन ने कान्ति नामक अर्थगुण के लक्षण में यह कह कर रस की चर्चा की है कि रसों की दीप्ति अर्थात प्रगाढ़ अभिव्यक्ति ही कान्ति नामक अर्थगुण की आधायक है ।

दीप्तरसत्वं कान्ति ।[3]

इस प्रकार गुणों में रसों के अन्तर्भाव से वामन ने भी रस का महत्त्व कुछ बढ़ाया ही है । क्यों कि गुण विहीन काव्य काव्य नहीं होता और गुण में रस की दीप्ति स्वीकार की है ।

1- काव्य0 1/51

2- काद0 1/18

3- का0 सू0 3/2/15

पहले पहल आचार्य रूद्रट ही हैं जिन्होंने रस की स्वतन्त्र रूप से विवेचना की है। इन्होंने काव्य को बड़े यत्न से सरस बनाने का निर्देश किया है।

तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसेन युक्तम् ।[1]

उद्भट ने शान्त रस को जोड़कर भरत के आठ रसों की संख्या नौ किया और रूद्रट ने प्रेयस रस को जोड़कर उसकी संख्या दश कर दी, पर काव्यतत्व जो रस है उसका सिद्धान्त कोई स्थिर न कर सका। यद्यपि अलंकार की प्रधानता चली आती थी तथापि उपर्युक्त आचार्य रसविमुख नहीं कहे जा सकते।

रूद्रट ने काव्यालंकार में बताया है कि निर्वेद आदि रसत्व को कैसे प्राप्त होते हैं। मधुर आदि रसों के समान इन शृंगार आदि का रसन होने के कारण रसता आचार्यों को अभीष्ट है। निर्वेद आदि {तैंतीस} संचारी भावों में भी वह रसता पर्याप्त हो सकती है, अतएव वे सभी रस संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ।[2]

इन स्थायी भावों का रसन होने के कारण आचार्य भरत आदि ने इनका रसत्व बतलाया है। किसके समान ? मधुर आदि {लौकिक रस} आस्वाद्यमान होकर रस को प्राप्त होते हैं। कहा भी है - अनेक प्रकार के द्रव्यों से बने हुए भोजन के साथ भात खाते हुए जिस प्रकार भात का स्वाद

1- का० ल० 12/2

2- का० ल० 12/4

लेते हैं, उसी प्रकार भावाभिनय से युक्त स्थायी भावों और रसों का आस्वादन करते हैं । अतएव नाट्यशास्त्र में ये रस कहे गये हैं । स्थायी भावों का ही रस होगा इसके उत्तर में कहते हैं 'निर्वेद आदि ‖संचारी भावों में भी‖ वह प्रर्याप्त मात्रा में होता है, अतएव उन्हें भी रस समझना चाहिए । जिस प्रकार रसन पुष्ट नहीं होता उसके वे निर्वेद आदि भाव होते हैं । ग्रन्थकार का तात्पर्य इस प्रकार है - ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं है जो ‖विभाव आदि से‖ परिपुष्ट होकर रस नहीं होती है ।

रसनामिति - - - - - - - - - - - - रसभिवति ।[1]

अजस प्रकार भक्तविद्व अनेक द्रव्यों तथा व्यंजनों से युक्त भात को खाते हुए उसका आस्वादन करता है उसी प्रकार अनेक भावों तथा अभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों को सहृदय पुरूष मन से आस्वादन करता है, अतः इनको नाट्य - रस माना जाता है ।

यथा वहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्वहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुंजाना भक्तं भक्तविदो जनाः ।।
भावाभिनयसंवद्धा - स्थायिभावांस्तथा वुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ।।[2]

भरत से लेकर ध्वनिकार के पूर्व तक रस से नाट्य रस ही समझा जाता था, क्योंकि नाटक को ही लेकर रस की उत्पत्ति, उसकी आवश्यकता आदि का विवेचन है । पर नाटक के काव्यांग होने से काव्यमात्र में रस की स्थिति विवेच्य है । रूद्रभट्ट ने तो स्पष्ट ही कहा है भरतादि ने नाट्य ही में रस की स्थिति मानी थी । मैं अब यथामति काव्य में भी उसकी स्थिति का निरूपण करता हूँ ।

1- का० ल० पृ० 375

2- ना० शा० षष्ठ अध्याय

प्रायो नाट्यं प्रतिप्रोक्ता भरताद्यै: रसस्थिति: ।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रतिनिगद्यते ।।[1]

अलंकारवादी आचार्य उद्भट कृत काव्यालंकार संग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने अलंकार के विपरीत अपना मत उपस्थापित किया । वे कहते हैं कि काव्य और रसों का अलंकार्य अलंकार भाव नहीं, किन्तु आत्मा और शरीर का भाव है । रस काव्य के आत्मस्वरूप है और शब्दार्थ उसका शरीर ।

न खलु काव्यस्य रसानां वा अलंकार्यालंकार भाव:
किन्तु आत्मा शरीरा भाव: । रसा हि काव्यस्य
आत्म त्वेनावस्थिता: शब्दार्थौ च शरीररूपतया ।[2]

अभिनव भारतीकार भी कहते हैं कि नाट्य में ही रस है और काव्य में भी नाट्यायमान रस ही काव्यार्थ है ।

नाट्य एवं च रसा: ।
काव्येऽपिनाट्यायमान एव रस: काव्यार्थ: ।[3]

ध्वनिकार ने ही काव्य में रस की महत्ता स्थापित की; क्यों कि ध्वनि को उन्होंने काव्यात्मा माना और रसध्वनि को ही ध्वनियों में मुख्यता दी ।

1- भृ० ति० 1/15

2- का० सा० {टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज}

3- अ० भा० 6/33

काव्य-शास्त्र में प्रयुक्त रस एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य है काव्यास्वादन के क्षण में सहृदय के हृदय को प्राप्त आनन्दानुभूति से है । यह रस काव्य का असाधारण एवं प्राणभूत तत्त्व है । अभिनवगुप्त ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि सर्वथा रसनात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है ।

सर्वथा रसनात्मक वीतं विघ्न प्रतीति ग्राह्यो भाव एव रस ।[1]

यहाँ भाव का अर्थ स्थायी भाव नहीं है वरन अनुभूति से है, क्यों कि अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कह दिया है कि स्थायी भाव से विलक्षण रस होता है ।

स्थायि विलक्षण एव रसः ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्तवृत्ति विशेषाः हि रसादयः कहकर रस को एक विशेष चित्तवृत्ति कहा है । रसानुभूति वस्तुतः एक मानस व्यापार है जिसमें आस्वाद्य एवं सहृदय के हृदय का संवाद अपेक्षित होता है । इस प्रक्रिया में सहृदय के हृदय पटल पर काव्य के भावों की प्रतिच्छवि परिव्याप्त हो जाती है । (यही कारण है कि आचार्य अभिनवगुप्त सहृदय के हृदय की तुलना मुकुट से करते हैं) । सामाजिक की वासना समुचित विषय में नियन्त्रित होकर उसे काव्यात्मक शब्द से भी अधिक व्यंग्यात्मक अर्थ की प्रतीति कराती है ।

तथापि काव्यात्मकादपि शब्दाधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः ।[3]

1- अ0 भा0 पृ0 473

2- अ0 भा0 पृ0 483

3- अ0 भा0 पृ0 470

यहाँ समुचित विषय नियन्त्रण का तात्पर्य यह है कि रसास्वाद संस्कारानुबन्धों से प्रतिबाधित हो जाता है । अभिनवगुप्त का विश्वास है कि स्थायी भाव के रूप में वासनायें मनुष्य के हृदय में संस्कार रूप से रहती ही है तथा विभावादि की सम्यक योजना से परिपुष्ट हो वे चमत्कार उत्पन्न करती है । उदाहरण के लिए यदि यति में रति का संस्कार न हो तो सुन्दर से सुन्दर काव्य-बन्ध उसे नीरस जान पड़ेगा । अतः रसास्वादन के लिए आवश्यक है कि आस्वादन कर्त्ता के संस्कार आस्वाद्य के साथ सामंजस्य रखते हैं ।

अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दिया है कि केवल नाटक में ही रस नहीं होता अपितु नाटक के समान काव्य में भी रस होता है । इस सन्दर्भ में अपने गुरू भट्टतौत के मत का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि वर्णन शैली के विस्तार एवं प्रौढ़त्व के कारण काव्यार्थ प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं तथा अधिकारी को प्रत्यक्ष कला-ज्ञान के उत्पन्न होने पर रस की प्रतीति होती है ।

न नाट्य एवं च रसः काव्ये पि नाट्यायमान एव रसः काव्यार्थ विषये हि प्रत्यक्ष कल्पसम्वेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः यदाहु काव्य कौतुके

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः ।
वर्णनोत्कलिकाभोग - प्रौढोक्तया सम्यगर्पिताः ।
उद्यान कान्ता चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटः ।।[1]

रस को परिभाषा के बन्धन में बाँधना उतना ही कठिन है जितना ब्रह्मत्व को और हो भी क्यों न रस भी ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता है ।

1- अ0 भा0 पृ0 504

अत: उसके स्वरूप का ज्ञान भी उसी नेति - नेति प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है । फिर भी यदि रस को परिभाषित करना ही है तो कहा जा सकता है कि -

भावों की सम्यक संयोजना से व्यंजित स्व - सम्वेदन-गोचर काव्यार्थ का आस्वादनात्मक अनुभव ही रस है ।

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती पर आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य भट्टनायक की मान्यता थी कि वाङ्मय की कुछ विधायें ऐसी हैं, जिनमें केवल शब्द की प्रधानता रहती है । इसके विपरीत कुछ अन्य विधायें होती हैं जहाँ अर्थ-तत्व की प्रधानता रहती है । शब्द सर्वथा गौण होते हैं । काव्य की विधा उक्त दोनों प्रकार से सर्वथा भिन्न इसलिए होती है कि वहाँ न शब्द की प्रधानता रहती है और न अर्थ की, अपितु मात्र व्यवहार की -

शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु: ।
अर्थतत्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयो: ।।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत ।।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के उक्त मत को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है । इनका तर्क है कि वह व्यापार जिसकी प्रधानता का प्रति पादन भट्टनायक ने किया है यदि व्यंजनात्मक एवं आस्वादनात्मक है तो वह रस से भिन्न कोई अन्य तत्व नहीं हो सकता ।

उचितानुचित का विवेक ही रस - भाव तथा उनके आभास का प्रवर्तक है । अनौचित्य ही रसभंग का मूल कारण है : -

---

1- ध्व0 लो0 1/5

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।[1]

इस सम्बन्ध में न रसवादी आचार्यों को सन्देह है और न अलंकार - वादियों को । जितने स्पष्ट शब्दों में अभिनवगुप्त ने इस बात को समझाया है -

औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो
व्यभिचारिण्या भाव: अनौचित्येन तदाभास: ।[2]

यहाँ पर शब्द में रस की स्थिति और अलंकार द्वारा अर्थ में रस का निषेध - ये दोनों तथ्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि प्रस्तुत प्रसंग में रस का अर्थ भावमूलक काव्य-सौन्दर्य न होकर अभिव्यक्ति का सौन्दर्य मात्र है । अभिव्यक्ति के चमत्कार के लिए रस शब्द का प्रयोग व्यवहार में ही नहीं साहित्य में भी बराबर होता है, किन्तु यह लक्षणा के द्वारा मूल अर्थ का विस्तार ही है क्यों कि रस का अर्थ केवल आह्लाद नही है - रागात्मक आह्लाद है, जो शब्दार्थ के चमत्कार में अनिवार्यत: नही रहता । अत: रस के संक्षेप में तीन अर्थ है -

(1) भावमूलक काव्य सौन्दर्य ।

(2) भावमूलक काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति ।

(3) सामान्य काव्य - सौन्दर्य ।

इसमें तीसरा अर्थ परिनिष्ठित नही है । उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर रस का स्वरूप द्विविध है :-

---

1- ध्व0 पृ0 330

2- ध्व0 पृ0 78

§1§ विषयगत अर्थात् भाव की कलात्मक अभिव्यंजना भावमूलक काव्य-सौन्दर्य ।
§2§ विषयिगत अर्थात् उक्त काव्य - सौन्दर्य का आस्वाद ।

इसमें रस का पहला रूप मौलिक होते हुए भी प्राय: तिरोहित हो गया है और अनुभूति परक रूप ही शेष रह गया है । भरत का आशय जो भी रहा हो, भारतीय साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र में अभिनव-प्रति - पादित आस्वादपरक रूप ही मान्य हुआ । भरत का अभीष्ट अर्थ'रस' के स्थान पर काव्य का वाचक बन गया भाव की कलात्मक अभिव्यंजना'रस' नही है -'काव्य' है और इस प्रकार परिभाषित काव्य का आस्वाद रस है ।

रस के काव्यात्मा होने का सूत्रपात हमें आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से प्रतीत होता है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से'ध्वनि' को काव्य की आत्मा होने का विधान किया है तथापि काव्यात्मा विषयक अन्य प्रसंगों के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि वे रसध्वनि को ही काव्यात्मा का स्थान देना चाहते हैं । लेकिन काव्य के सन्दर्भ में आत्मा पद का प्रयोग साररूप या सहृदय श्लाघ्य अर्थ के लिए करते हैं ।

योऽर्थ: सहृदय श्लाघ्य: काव्यात्मेति व्यवस्थित: ।[1]

काव्यात्मा पद की व्याख्या करते हुए वे स्वयं कहते हैं -

काव्यस्य हि ललितोचितसंनिवेशचारुण: शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थित: सहृदयश्लाघ्यो यो र्थस्तस्य वाच्य: प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।[2]
इसी प्रकार -

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा ।
क्रौंचद्वन्द्वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।।[3]

काव्यात्मा पद की वृत्ति लिखते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं -

विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुण: काव्यस्य स एवार्थ: सारभूत: ।[4]

1- ध्व0 1/2
2- ध्व0 1/2 §वृत्ति§ पृ0 10
3- ध्व0 1/5
4- ध्व0 1/5 वृत्ति पृ0 20

यहाँ पर यह समस्या है कि स एव अर्थः से किसका ग्रहण किया जाये । ध्वन्यालोक के एक मात्र प्राचीन टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से रस के पक्षपाती है । उनका कहना है कि यहाँ प्रसंग प्रतीयमान अर्थ का ही है । अतः 'सः' सर्वनाम से प्रतीयमान-सामान्य का ही ग्रहण होना चाहिए पर कारिका में उल्लिखित ऐतिहासिक घटना के आधार पर यहाँ प्रतीयमान के तृतीय भेद रस-ध्वनि का ही ग्रहण उचित है । उनके अनुसार तो मात्र रस को ही काव्यात्मा होना चाहिए । वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों का भी पर्यवसान चूंकि रस में ही होता है, इसलिए इन्हें वाच्य से उत्कृष्ट माना गया है, पर अन्ततोगत्वा इनका भी पर्यवसान रस में ही हो जाने से वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा का स्थान ग्रहण करता है । अभिनव - गुप्त की दृष्टि से ध्वनि को काव्य की आत्मा कहने का भी यही अभिप्राय है ।

> स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम् । - - - - - - - - - - - ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तः ।[1]

इस प्रकार भरत से प्रारब्ध रसतत्व की विवेचन की परम्परा में ध्वनि-सिद्धान्त के आविर्भाव के साथ - साथ रस को काव्यात्मा का स्थान प्राप्त हो जाता है । जिसकी स्वीकृति राजशेखर के 'काव्य मीमांसा' में 'रस' को काव्य-पुरुष की आत्मा स्वीकार किया गया है । किन्तु उसे पूर्ण प्रतिष्ठा तो अभिनवगुप्त के काल में ही आकर मिली है । ध्वनि विरोधियों

1- ध्व0 लो0 1।5 [वृत्ति]

एवं अभिनवगुप्त की मान्यतायों में काव्य की आत्मा के विषय में जो एकरूपता पाई जाती है, वह अपने आप में एक विलक्षण बात है । राजशेखर भट्टनायक, धनिक, कुन्तक, महिमभट्ट एवं भोज सभी अभिनवगुप्त के समान 'रस' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं ।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही सर्वत्र प्रधानता दी है । उन्होंने यत्र तत्र रस की भी चर्चा की है पर वह रस को महत्त्व तभी देते हैं कि वह वक्रोक्ति का रमणीयताधायक हो । तथापि एक स्थान पर वे कहते हैं कि निरन्तर रसोद्गार में संलग्न जो कवि की वाणी जीवित रह सकती, कथा कहने वाली वाणी नहीं ।

निरन्तर रसोद्गार गर्भ सौन्दर्य निर्भरा: ।
गिर: कविवा जीवन्ति न कथामात्रयाम् ।।[1]

ध्वनिमत विध्वंसी महिमभट्ट भी स्पष्ट कहते हैं कि इसमें तो किसी का मतभेद हो ही नहीं सकता कि काव्यात्मा रस रूप ही हैं ।

काव्यात्मनि संगिनि रसादि रूपेन कस्यचिद्विमति ।[2]

क्षेमेन्द्र ने काव्य को रस सिद्ध माना है । मम्मटाचार्य काव्य-प्रकाश के प्रारम्भ में ही 'नव रस रुचिरा निर्मितम्' और मुख्यार्थ हानि का दोष और अर्थाश्रय रस ही मुख्य है । विश्वनाथ तो रसात्मक काव्य को ही पाँच ध्वनियों में परमरमणीय होने से रस-ध्वनि ही मुख्य है क्यों कि उसकी आत्मा रस है । राजशेखर ने काव्य की आत्मा रस माना है । उन्होंने सर्वप्रथम रस को प्रतीयमान एवं अलौकिक स्वीकार किया ।

रस आत्मा ।[3]

1- औ0 4 उनोष

2- व्य0 वि0 प्रथम विमर्श पृ0 35

3- का0 मी0 पृ0 15

अभिनव ने रस के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया है ।

1- लोक व्यापार में कार्य-कारण सहकारी रूप लिंगों ¦अनुमापक हेतुओं¦ को देखकर ¦रत्यादि रूप¦ स्थायिभावात्मक अन्य व्यक्ति के चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्षवीक्षण आदि ¦अनुभावों¦ के द्वारा ¦ जो कि नाटकों में ¦ कारणत्व आदि रूप को छोड़कर विभावना, अनुभावना एवं समुपरंजकत्व मात्र रूप को प्राप्त , इसलिए अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले कारणादि रूप पुराने संस्कारों के उपजीवित्व द्योतन के लिए विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वाले और सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से भली प्रकार से योग अर्थात् एकीभाव को प्राप्त हुए ¦विभावादि¦ के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संविदन रूप चर्वणा का विषय बनाया गया हुआ ¦रत्यादि रूप अर्थ¦ जिसका चर्वणा ही एकमात्र सार है न कि ¦घटादि के समान पहले से सिद्ध अर्थात ¦ विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस ¦चर्वणा के¦ काल में ही रहने वाला अर्थात् चर्वणा से अतिरिक्त काल में न रहने वाला स्थायि भाव से विलक्षण'रस' होता है ।

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानभ्यासपाटवादधुनातैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिलौकिकीं - न तु सिद्ध स्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः ।[1]

1- अ0 भा0 ¦आचार्य विश्वेश्वर¦ पृ0 483

2- इसलिए अलौकिक चमत्कार-स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है, क्यों कि अनुमान की प्रक्रिया से संस्कृत ‖सामाजिक नाटकों‖ प्रमदादि ‖विभावादि‖ को ‖लौकिक परगत रत्यादि के समान‖ तटस्थ रूप से ग्रहण नहीं करता है । अपितु हृदयसंवादात्मक ‖समस्त सामाजिकों के हृदय की एकरूपता रूप‖ सहृदयत्व के बल से अखण्ड रसास्वाद के अंकुर रूप से अनुभाव, स्मृति आदि की प्रक्रिया में आये विना ही तन्मयी भाव से प्राप्त ‖उचित‖ चर्वणा के उत्पादक रूप से प्रमदादि विभावों का अनुभव करता है ।

वह चर्वणा पहले किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके, और न उसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों काव्यापार होता है । किन्तु अलौकिक विभावादि के संयोग के बल से ही यह चर्वणा प्राप्त होती है, और वह ‖रस चर्वणा‖ ‖1‖ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से तथा ‖2‖ योगिप्रत्यक्ष से होने वाले तटस्थ पर संविदनात्मक ज्ञान से एवं ‖3‖ समस्त विषयों के प्रति वैराग्य - युक्त परमयोगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द से अनुभव से भिन्न प्रकार की होती है । क्यों कि इनमें यथायोग्य ‖लौकिक प्रमाण जन्य मे ‖ अर्जनादि एवं अन्य विघ्नों के आ जाने से 2- ताटस्थ एवं अस्पष्टता होने के कारण, तथा 3- विषयावेश की विवशता के कारण आह्लादकत्व का अभाव होने से ‖रसचर्वणा‖ इन सबसे भिन्न प्रकार की है ।

तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृतिः अनुमान लौकिकस्वसंविदन विलक्षण एव । -
- - - - एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्य अस्फुटत्व विषयावेशवैवश्येन च सौन्दर्य विरहात ।[1]

1- अ0 भा0 ‖ आचार्य विश्वेश्वर ‖ पृ0 48

इसलिए विभावादि रस के उत्पत्ति के कारण(अर्थात कारक हेतु) नहीं है, क्यों कि उसके ज्ञान के समाप्त हो जाने पर भी रस की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है । विभावादि रस के ज्ञापक हेतु है कि जिससे वे प्रमाणों में गिने जायें क्योंकि प्रमेयभूत किसी पूर्व से विद्यमान रसादि की सत्ता नहीं है । तब प्रश्न यह है कि विभावादि क्या है ?

चर्वणा में उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है । अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य तद्वोधापगमे पि रससम्भवप्रसंगात । पानकरसास्वादो पि किं गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों अभिनव की शैली स्पष्ट व्याख्यान में बाधक होती है । संक्षेप में उनके मत का सार इस प्रकार है -

1- लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, घातक तथा पोषक होते है, वे काव्य नाटकादि में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते है । काव्य निबद्ध हो जाने पर कारण - कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धारण कर लेते है ।

2- सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के समवृत रूप का प्रत्यक्ष अथवा मन सा साक्षात्कार या चर्वणा ही 'रस' है ।

3- यह रस चर्वण अथवा आस्वाद से अभिन्न होता है । इस प्रकार स्थायी भाव रस नहीं है ।

4- अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक से भिन्न होता है । यह न तो कार्य है न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक ।

1- अ0 भा0 पृ0 486 - 487

5- चर्वणा की इस स्थिति में प्रमाता का चित्त देशकाल स्व-पर तटस्थ आदि की सीमायों से मुक्त एकतान आत्मविश्रान्ति रूप हो जाता है ।

भाव की भूमिका के बिना रस की स्थिति सम्भव नहीं है । भाव के स्पर्श से रहित शब्दार्थ का चमत्कार रस नही है । रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से ही मान्य है, अतः रस भाव पर आश्रित है । अतः रस और भाव का अनिवार्य एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है, नाट्यशास्त्र का यह वाक्य सर्वथा प्रमाण रहा है -

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।[1]

किन्तु रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है । रस के आश्रयभूत स्थायी भाव आस्वाद की दृष्टि से सामान्यतः दो प्रकार का माना जाता है - रति, उत्साह, विस्मय, हास्य तथा शम का आस्वाद सुखद है और शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा का आस्वाद लोक-जीवन में दुखद है । यदि हम यह माने कि रस अनिवार्यतः आनन्दरूप है तब तो यह सिद्ध होता है कि रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है, क्योंकि करुण रस की अनुभूति अन्ततः आनन्दमयी है और शोक निश्चय ही दुःखमयी ।

रस भाव पर आश्रित होते हुए भी भावानुभूति से भिन्न है - प्रत्यक्ष, परोक्ष, स्वगत, परगत, सुखद, दुःखद किसी प्रकार की भावानुभूति रसानुभूति नही है ।

रस अनिवार्यतः आनन्दमय होता है इस विषय में मतभेद है, अर्थात् शृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त का आस्वाद तो स्पष्टतः आनन्द - मय होता है पर करुण, भयानक, वीभत्स आदि का भी आस्वाद आनन्दमय होता है - यह विभाव का विषय है ।

1- ना० शा० 6/37

भरत ने 'यथा हि' उदाहरण के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि हर्षादि के आदि पद के अनुसार रस का आस्वाद केवल आनन्दरूप नहीं है । स्थायी भाव के आस्वाद के अनुसार वह अन्यथा - विपरीत भी हो सकता है ।

अभिनवभारती के प्रथम अध्याय का निम्नोद्धृत विवेचन है -

भरत:

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।

सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।।[1]

तथाहि -

रति - हास - उत्साह विस्मयानां सुखस्वभावत्वम् ।

x x x x

क्रोधमय शोक-जुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता ।[2]

परन्तु सहृदयों का मन अनेक अवस्थायों से होकर गुजरनता है । स्थायी भाव के स्वरूप के अनुसार वह सुख या दुःख का अनुभव करता है, कल्पना के जाग्रत होने से उसमें एक प्रकार की स्वच्छन्दता की भावना का उदय होता है, उधर कला तत्वों की अनुभूति सामंजस्य आह्लाद, विस्मय आदि को जन्म देती है और अन्त में इन सबकी परिगति एक विशेष प्रकार की मनोदशा में होती है जो निश्चय ही परितोषकारी होती है । आस्वादन की इस प्रक्रिया में सहृदय को थोड़ा बहुत कष्ट अनुभव भी होता है, परन्तु परिणति आत्म-परितोष या सुख में ही होती है ।

1- अ० भा० प्रथम अध्याय पृ० 119

2- अ० भा० पृ० 219 - 20

अत: रस की अनुभूति प्रीतिकर ही है - वह आनन्दमयी चेतना ही है । भारत के सभी प्राचीन तथा अनेक आधुनिक आचार्य तथा पश्चिमी के भी अनेक मनीषी रस को एक प्रकार का अलौकिक आनन्द या अनुभूति मानते हैं ।

लौकिक भाव और उनके विषय काव्य निबद्ध हो जाने पर कारण - कार्य सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं और उनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है । अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक ही होता है अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष, अनुभव आदि से भिन्न होता है । वह न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान और न निर्विकल्पक ज्ञान है ।

रस अथवा काव्यानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियों से भिन्न है - वह बौद्धिक अनुभूति नही है, प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष या परोक्ष एन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूति भी नहीं है, व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त है । व्यक्ति चेतना की सीमाओं से परे साधारणीकृत अनुभव है - जबकि अन्य जीवनगत अनुभूतियों प्राय: इन्हीं कोटियों में आती हैं, अर्थात् या तो वे वैयक्तिक राग द्वेष से लिप्त प्रत्यक्ष - परोक्ष एन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूतिया होती है या बौद्धीक अनुभूतिया । इसीलिए भारतीय मनीषियों ने इसको अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पाई और पाश्चात्य विचारकों ने एक "नवीन भावना 'सौन्दर्य - भावना' की कल्पना कर डाली ।

रस की अलौकिता - जीवन में आनन्द का स्थान सर्वोपरि माना गया है । उपनिषदों में कहा है कि आनन्द ही ब्रह्म है, तथा आनन्द से ही अखिल भूतों की उत्पत्ति होती है, उसी से उनका जीवन धारण होता है और अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान हो जाता है ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्धि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्द प्रयन्त्यभिविशन्ति ।[1]

इस आनन्द की अनुभूति का एकमात्र साधन रसोपलब्धि बताया गया है ।

रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति ।[2]

उपनिषद् प्रतिपाद्य आनन्द और रस का यह सम्बन्ध विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है, लौकिक विषयों में भी हमारी प्रवृति और निवृत्ति में आनन्द और रस का सम्बन्ध ही काम करता है ।

व्यंजनादि के उपभोग से बुभुक्षादि मूल प्रवृत्तियों की शान्ति के साथ-साथ वहाँ कुछ और मिलता है जो हमें हठात अपनी ओर आकृष्ट करता है । वही रस है । रस की उपलब्धि से व्यक्ति को एक ऐसी विलक्षण अनुभूति होती है, जो सब प्रकार की अनुभूतियों को अतिक्रान्त कर देती है । वह विलक्षण अनुभूति ही आनन्द है । भरतमुनि ने जीवन तथा जगत में रस की महत्ता का निर्वचन करते हुए ठीक ही कहा है कि - कोई भी पदार्थ रस के बिना प्रवृत्त नही होता ।

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्द के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहा है कि वास्तव में स्वात्मपरामर्श ही आनन्द है । यह स्वात्मपरामर्श तब तक नहीं होता जब तक स्वभाव के प्रकाशन में परिपूर्णता नहीं आती ।

1- तै० भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक ।

2- तै० ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तम् अनुवाक ।

3- ना० शा० अध्याय - 6 पृ० 272

स्वरूपस्य स्वात्मन् परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेवपरमर्शमयतां दधद् आनन्द इत्युच्यते ।[1]

यह परिपूर्णता विषयविशेष के उपभोग से, विषयों के संस्कार से एवं विशुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार से ही सम्भव है । अतएव उन्होंने विषयानन्द काव्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द के नाम से आनन्द के तीन स्तरों का विधान किया है, जिनमें परस्पर भेद स्वरूपतः नहीं होता अपितु आनन्दानुभूति के माध्यम एवं उसकी मात्रा से होता है ।

रस ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व :- अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी उद्भट एवं रूद्रट की कृतियों में काव्य के गुणालंकाररीति प्रभृति तत्त्वों में रस को विशिष्ट स्थान दिया गया था जिसकी अभिव्यक्ति आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त में हुई है जहाँ रस को काव्य का अंगी तत्त्व कहा गया है ।

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।[2]

भामह प्रभृति आलंकारिकों ने उसे रसवद् आद अलंकारों की संज्ञा दी है पर ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार इनको गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है :-

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्‌ग तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ।।[3]

आनन्दवर्धन ने गुण, अलंकार , रीति प्रभृति सभी तत्त्वों की व्याख्या रस को दृष्टि में रखकर करने का विधान किया है । कवि व्यापार का मुख्य

1- ई0 प्र0 वि0 पृ0 176 (काश्मीर संस्करण ग्रन्थावली)

2- ध्व0 2/3

3-ध्व0 2/4

विषय उन्होंने रस को ही बताया है तथा कवियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि रस-तत्व से रहित प्रबन्ध की रचना करने से न करना अधिक श्रेयस्कर है –

> मुख्या व्यापारविषया सुकवीनां रसादय: ।
> तेषां निबन्धेन भाव्यैस्तै: सदैवा प्रमादिभि: ।।
> नीरसस्तु प्रबन्धो य: सोपऽशब्दो महान कवे: ।
> स तेनाकवि रेव स्यादन्येनास्मृतलक्षण: ।।[1]

आनन्दवर्धन की ही सरणि पर किन्तु उससे भिन्न रूप में भोज ने रस को काव्यजन्य सौन्दर्य अतिशय का आधान करने वाले तत्वों में प्रकृष्ट कहा है । उनके अनुसार काव्य – रचना के दोषों से रहित गुणों से समन्वित एवं अलंकारों से विभूषित होने पर भी उसमें सौभाग्यातिशय का आधान तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि रसतत्व का योग न हो ।

> निर्दोषस्य गुणवतोऽलंकृतस्य च काव्यशरीरस्य कामिनी
> शरीरस्येव सौभाग्यातिशयनिष्पत्तौ रस वियोग एव प्रकृष्ट
> उपायो धीयते । [2]

राजशेखर ने जो काव्य के गुणालंकारादि तत्वों को काव्य-पुरुष के अंग – प्रत्यंग के रूप में निरूपित करते हुए रस को उसकी आत्मा होने का विधान किया था उसका रहस्य काव्य-तत्वों में रस की विशिष्टता ही है । राजशेखर आनन्दवर्धन के पूर्ण – रूप से तो नहीं पर अंशत: समसामयिक थे ।

1- ध्व0 3/18-19 पर परिकर श्लोक

2- शृ0 प्र0 11, पृ0 429 (मैसूर, 1963)

तथापि यत्र - तत्र आनन्द की मान्यतायों का खण्डन इनकी कृति में उपलब्ध होता है । रस को काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व स्वीकार करते हुए भी उसे काव्यात्मा का स्थान न देना उनकी दृष्टि में ध्वनि नामक नये तत्व को ही माव्य में विशेष महत्व देने का आनन्दवर्धन का दुराग्रह मात्र है ।

आलंकारिक सरणि के व्यवस्थापक आचार्य मम्मट ने ध्वनि को काव्य की आत्मा न कहकर रस को ही काव्यात्मा के रूप में विवेचित किया है । जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के ही धर्म होते हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि काव्य-गुण काव्यात्मा रस के धर्म होते हैं ।

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।[1]

रस काव्य का असाधारण धर्म :- रस को काव्य का असाधारण धर्म होना भी काव्य की आत्मा कहने का आधार है । गुण, अलंकार एवं रीति आदि काव्य के अन्य तत्व उसके साधारण धर्म है जो लोकोक्ति, चित्र एवं प्रहेलिका आदि काव्येतर विषयों में भी पाये जाते हैं । रस ही एक ऐसा तत्व है जिसका आश्रय दृश्यश्रव्यात्मक उभयविध काव्य होता है । दशरूपककार ने नृत्त और नृत्य के अभिनयात्मक नाट्य के भेद का विवेचन ही इसी आधार पर किया है कि जहाँ नृत्त और नृत्य ताल, लय एवं भावों पर आश्रित होते हैं वहाँ नाट्य रसाश्रय होता है -

रूपकं तत्समारोपात दशधैव रसाश्रयम् ।
अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् ।।[2]

इस प्रकार रस काव्य को उसके सजातीय विषय नृत्य एवं प्रहेलिका आदि तथा विजातीय विषय व्याकरण एवं दर्शन आदि से पृथक करता हुआ उसका असाधारण धर्म उसी प्रकार बन जाता है, जिस प्रकार गन्ध पृथ्वी को उसके सजातीय जल, तेज, वायु एवं आकाश आदि द्रव्यों से तथा विजातीय गुण कर्म समवाय आदि पदार्थों से पृथक करता हुआ उसका असाधारण धर्म कहलाता है

1- का० प्र० 8/66
2- दश० 1/7, 9

रस काव्य का संज्ञी - रस की काव्यात्मा का एक आधार यह भी है कि काव्य को काव्य संज्ञा रस के ही कारण मिली है अतः काव्य और रस में संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध है । आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा था उसका निरूपण उन्होंने काव्य -विशेष के रूप में किया है न कि काव्य - सामान्य के रूप में -

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरभिः कथितः ।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्य के रूप में ध्वनि से पृथक भी काव्यता को स्थान दिया है । उनकी दृष्टि से काव्य के दो रूप होते हैं, एक वह जहाँ व्यंग्य प्रधान हो तथा दूसरा जहाँ व्यंग्य गौण । पहले को ध्वनि तथा दूसरे को गुणीभूतव्यंग्य की संज्ञा दी है -

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमित्यभिधीयते ।।[2]

ध्वनिविरोधियों के मूर्धन्य आचार्य महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित काव्यात्मा के आधायक काव्य -विशेष के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि विशेषता के आधार पर ध्वनि को काव्यात्मा कहना इसलिए अनुपयुक्त है कि ऐसा मानने पर ध्वनि से व्यतिरिक्त किसी भी रचना को काव्यात्मा के अभाव में काव्य नहीं कहा जा सकता और इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य नामक भेद आत्मारहित होने से काव्य की संज्ञा का

1- ध्व० 1/13

2- ध्व० 3/41

भाजन कैसे हो सकता है । स्वयं ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यंग्य में चारुता के प्रकर्ष को स्वीकार किया है -

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं प्रकर्षवत् ।।[1]

गुणीभूतव्यंग्य में चारुता के होने से यदिकाव्यात्मा अभीष्ट है तो ध्वनि के प्रति इतना आदर प्रदर्शित करने की क्या आवश्यकता है ।

किसी भी रचना को काव्य की संज्ञा प्रदान करने का जो तत्व असाधारण कारण होगा वही संज्ञी के रूप में काव्यात्मा हो सकता है । वस्तु, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, प्रभृति काव्य तत्वों की अपेक्षा रस ही एक ऐसा तत्व है जो व्यापक रूप से उन सभी स्थलों में विद्यमान रहता है जिनको काव्य की संज्ञा प्राप्त है -

सम्भवापेक्षया चास्य ध्वनेः स्वरूपमात्रप्रतिपदनार्थत्वोपगमेऽन्येषामापि तद्भाग्यवर्तिना पदवर्णसंख्यादीनां - - - - - - - - - - - - -
- - - - - पर्यवस्यतीति न काव्य विशेषव्युत्पत्ति फलम् ।[2]

इस प्रकार रस की काव्यात्मा का आधायक उसका काव्य का संज्ञी होना है, चूंकि रस के बिना काव्य को काव्य की संज्ञा नहीं मिल सकती अतः रस काव्य का संज्ञी तत्व है, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नही होनी चाहिए -

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपेन कस्यचिद्विमतिः ।
संज्ञायां सा केवलमेषापि व्यक्तययोगतोऽस्य कुतः ।।[3]

1- ध्व0 3/34

2- व्य0 वि0 प्रथम विमर्श, पृ0 34 [तिरुवेन्द्रम 1909]

<u>रस काव्य-कला का चरम लक्ष्य</u> - आचार्य मम्मट ने काव्य के संभावित सभी प्रयोजनों का संकलित रूप से निरूपण काव्य - प्रकाश में किया है -

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।[1]

इन सबमें सद्यः परनिर्वृति रूप आनन्दानुभूति को सबा मौलिभूत अर्थात् सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन बताया है ।

> सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् ।[2]

यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'सद्यः परनिर्वृति एवं उसकी वृत्ति में उक्त आनन्द पद रस की अनुभूति अवस्था के अभिधायक है । शब्दान्तर में वह तत्व रस ही है जो काव्य के परम प्रयोजन के रूप में विहित हुआ है । इसके मौलिभूत अर्थात् सभी प्रयोजनों में प्रधान होने का आधार यह है कि यश अर्थात् अर्थलाभ इत्यादि जितने भी प्रयोजन है उन सबकी परिणति अन्तोगत्वा आनन्द में ही होती है । कला कला के लिए भी जो कहा जाता है उसका भी अभिप्राय यह है कि कला आनन्द के लिए है । काव्य से उसकी उपलब्धि रस के रूप में ही होती है । इसलिए आनन्द को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन कहना सर्वथा समुचित ही है ।

रस को काव्य का चरमतत्व होने का प्रतिपादन तो आनन्दवर्धन ने भी किया था किन्तु उनका विवेचन उसे सर्वोत्कृष्ट तत्व तक ही सीमित रखता है, आत्मानुभूति तक नहीं ले जाता । आनन्दवर्धन के अनन्तर भट्टनायक

1- का० प्र० 1/2

2- का० प्र० पृ० 8

ने रस को निर्विकल्पक समाधि के साधक योगियों के अनुभव से भी उत्कृष्टतर कोटि का अनुभव कहा है । उसका आग्रह है कि काव्य के ही क्षेत्र में नही जीवन के क्षेत्र में भी रस एक ऐसी अनुभूति है, जिसके प्रति मनुष्य मात्र का आग्रह होना चाहिए । यह वाणीरूपी धेनु का वह सुमधुर दुग्ध है जो जिज्ञासु बछड़ों की तृष्णा से स्वत: परिश्रुत होता है । इसे दृढपूर्वक मन को मारकर उपलभ्यमान योगियों का अनुभव कैसे पा सकता है -

वाग्धेनुर्दुग्ध एतहि रसं यद् बालतृष्णया ।
तेन नास्य सम: स स्याददुह्यते योगिभिर्हिथ: ।।[1]

आनन्दवर्धन ने रस को सरस्वती का निष्यन्द कहा था, जिसकी अभिव्यक्ति ही महाकवियों की परिस्फुरित होती हुई विलक्षणप्रतिभा का प्रमापक होती है -

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु नि:ष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ ने सामान्य रूप से रमणीय अर्थ को काव्य का प्रतिपाद्य कहते हुए भी रस को परम रमणीय तत्त्व घोषित किया है । अभिधा एवं लक्षणा मूलक पाँचों प्रकार की ध्वनियों का निरूपण करते हुए वह कहते हैं कि ध्वनि के सभी प्रकारों के रमणीय होते हुए भी रस के ही काव्यात्मा होने का जो विधान किया गया है, उसका कारण रसध्वनि की परमरमणीयता ही है ।

एवम् पंचात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तस्यात्मा रसस्तावदभिधीयते ।[3]

1- ध्व0 लोचन 1/6

2- ध्व0 1/6

3- र0 ग0 प्रथम आनन पृ0 79

काव्यात्मक चारुता के लिए सुन्दर पद का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त होता है । सुन्दर पद को अनेक प्रकार से व्युत्पन्न किया गया है । सुर आदि पदों की तरह यहाँ भी आदि अक्षर 'अ' का लोप हो गया है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ हुआ जिसका बोध होते ही व्यक्ति के प्राणतत्व स्वतः कंपित अर्थात् झकझोर उठे वही [अ] सुन्दर है । काव्य जन्य चारुता के विषय में इसलिए सुन्दरता का प्रयोग अधिक पुष्कल प्रतीत होता है । रसानुभूति के विषय में तो यही पद सर्वथा उपयुक्त है । इस प्रकार रस परम सुन्दर है, इसीलिए काव्य कला का चरम लक्ष्य भी है ।

<u>रस ज्ञान - प्राप्ति का सरलतम उपाय</u> :- समाज में आरम्भ से ही यह प्रवृति रही है कि जैसे उसने ज्ञान विज्ञान का विकास का विकास किया वैसे ही उसको जनसामान्य तक पहुँचाने का सरलतम उपाय भी अविष्कृत किया वही काव्य है । भारतीय साहित्य के इतिहास में यह प्रवृति वैदिक काल से ही परिलक्षित होती है । जब यह प्रक्रिया क्रमशः सरलता से जटिलता की ओर बढ़ने लगती है तो एक नये प्रकार का अभ्युदय अवश्यम्भावी हो जाता है । भरत के नाट्यशास्त्र में कुछ ऐसे संकेत हैं जिससे ज्ञात होता है कि नाट्य के विकास के विषय में भी यह सिद्धान्त काम कर रहा था । भरत का विधान है कि नाट्य से लोगों को यह शिक्षा मिलती है कि धर्म क्या है ? किस काम को करने से व्यक्ति को यश मिलता है ? जीवन की कौन सी प्रक्रिया अधिक आयु प्रदान करती है तथा उसके लिए क्या हितकर और क्या अहितकर है ? यही नहीं नाट्य से व्यक्ति के ज्ञान की भी वृद्धि होती है -

धर्म्यं यशस्ययायुष्य हितं बुद्धि विवर्धनम्× ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।।[1]

भरत का तो उद्घोष है कि ऐसा कोई ज्ञान नही, ऐसा कोई शिल्प नहीं न ही कोई ऐसी विद्या या कला अथवा इन सबका समवेत रूप या ऐसा कोई कर्म है जो नाट्य में न पाया जाए -

न तज्जज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्योस्मिन यन्न दृश्यते ।।[2]

भरत के अस अवधान के बाद ही मुद्राराक्षस एवं मृच्छकटिक की सरणि पर उपदेशप्रद रचनायों का बाहुल्य होने लगा, जिससे धनन्जय को उसका निषेध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई । उन्होंने अपनी कृत्ति दशरूपक में कहा है कि रूपकों की रचना का उद्देश्य लोगों को आनन्दानुभूति कराना है, जो लोग इतिहास-पुराण आदि की तरह नाटकों को भी ज्ञाना - र्जन का साधन मात्र मानते हैं, वे नीरस लोग बस प्रणाम ही करने लायक है ।

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धि: ।
यो ऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नम: स्वादुपरांगमुखाय ।।[3]

काव्यजन्य रसास्वाद ज्ञानार्जन का माध्यम है । इसका प्रत्यक्षत: प्रतिपादन आलंकारिकों में सबसे पहले भामह ने किया है । उनका कहना है कि जिस प्रकार शहद का मधुर आस्वाद पाकर व्यक्ति कड़वी से कड़वी औषधि का भी पान कर जाता है ठीक उसी प्रकार काव्य के आस्वादना - त्मक तत्व रस से मिश्रित होकर गहन शास्त्र भी सहजग्राह्य हो जाते हैं ।

1- ना० शा० 1/115

2- ना० शा० 1/116

3- दश० 1/6

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रशास्त्रमप्युपयुज्यते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ।।

महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में इस सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप हमें मिलता है ।

सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलम्
केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्रपोड·य
मुपायमात्रभेदो न फलभेदः ।[1]

महिमभट्ट रस को काव्य की आत्मा इसलिए कहना चाहते हैं कि काव्य के चरमलक्ष्य ज्ञानार्जन के प्रति रसात्मकता ही असाधारण कारण है । मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी वृत्तियों में इस पक्ष का आदरपूर्वक समुल्लेख किया है । मम्मट उसे कान्तासम्मित उपदेश कहते हुए कवि और सहृदय दोनों को उसका अधिकारी बताते हैं । उन्होंने लोकोत्तर वर्णननिपुणता को ही कवित्व के लक्षण के रूप में निरूपित किया है जिसकी सफलता रचना को सरसता प्रदान करने मे ही मानी है ।

शब्दार्थयोः गुणभावेन सरांगभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत
काव्यं लोकोत्तर वर्णननिपुणकविकर्म तत कान्तेव सरसतापादनेनाभि -
मुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोग
कवेः सहृदस्य च करोति इति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।[2]

काव्यजन्य रसानुभव व्यष्टिगत आत्मानुभव का ही एक प्रकार है । जिसे पाकर ब्रह्मत्व की प्राप्ति तो नहीं होती किन्तु जिस प्रकार समाधि में योगियों की चित्त वृत्ति होती है वैसी ही रसानुभूति की अवस्था में भी हो जाती है ।

1- व्या० वि० प्रथम विमर्श

2- का० प्र० [वृत्ति] 1/2

चतुर्थ अध्याय

रस सामग्री

रस मनोभावों का आस्वाद्य रूप है । रस में उपयोगी मनोभाव भरत के मत में 49 है । स्थायी भाव में शम को जोड़ने से उद्भट के मत में ये पचास है । ये तीन वर्गों में विभाजित है ।

रतिहसिश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा: प्रकीर्तिता: ।।[1]

स्थायित्व चैतावतामेव । जात एव हि जन्तुरियतीभि: संविद्भि: परीतो भवति । न - ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य: प्राणी भवति । केवल कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्ति:, काचिदूना:, कस्यचिदुचित - विषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा ।[2]

भामह के मत में स्थायी कितने हैं, यह स्पष्ट नहीं है परन्तु दण्डी उन्हें आठ ही मानते हैं । उद्भट तथा परवर्ती अलंकारशास्त्री शम को भी स्थायी मानते हैं ।

रसवद्दर्शित स्पष्ट शृंगारादिरसं यथा ।[3]

भामह ने अन्य रसों को आदि शब्द से कहा है । दण्डी ने रति, क्रोध, उत्साह, कारूण्य ये चार स्थायी और वीभत्स, हास्य, अद्भुत और भयानक ये चार रस बताये हैं

शृंगार हास्य - - - - - वीभत्साद्भुत शान्तश्च नव नाट्ये
रसा: स्मृता ।[4]

1- ना० शा० 6/18

2- अ० भा० पृ० 281

3- का० 3/6

4- का सा० 4/4

सहृदय व्यक्तियों या सामाजिकों के हृदय में भावों का सर्वदा निवास रहता है । मनोविज्ञान की भाषा में हम कह सकते हैं कि ये भाव हमारे मानस के अर्धचेतन या अचेतन भाग में छिपे रहते हैं । भारतीय आचार्यों के मत से इनकी उत्पत्ति के दो प्रकार होते हैं । बहुत से भाव पूर्व जन्म के संस्कार के कारण भी अपनी सत्ता बनाये हुए रहते हैं और बहुत से भावों का उदय मानव के लौकिक जीवन तथा व्यावहारिक आचरण से भी होता है । नित्य प्रति के जीवन में हम नाना भावों का अनुभव किया करते हैं । ये अनुभव चिरस्थायी तो होते नहीं, कतिपय क्षण तक हमारे चेतन मन में निवास करते हैं और फिर अवचेतन मन में जाकर बैठ जाते हैं ।

भाव का सर्वप्रथम विवेचन भरत ने ही किया है । नाट्यशास्त्र का सप्तम अध्याय भाव की ही व्याख्या करता है -

भावा इति कस्मात् । किं भवन्तीति भावाः किं वा भावयन्तीति भावाः ।[1]

भाव की व्युत्पत्ति किस प्रकार की जाय । जो होते हैं वे भाव हैं अथवा जो भावित करते हैं वे भाव हैं ।

पहले अर्थ में व्युत्पत्ति होती है 'भू' धातु से 'होना' आशय होता है स्थिति या सत्ता । दूसरे अर्थ में व्युत्पत्ति है 'भू' धातु से करने के अर्थ में और आशय होता है व्याप्त करने वाला । भरत ने काव्यशास्त्र के प्रसंग में इस दूसरे अर्थ को ही ग्रहण किया है ।

भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतीभत्यनर्थान्तरम् । लोकेऽपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति । तच्च व्याप्त्यर्थम् ।[2]

1- ना० शा० पृ० 367

2- ना० शा० पृष्ठ 367

भू धातु का यहाँ करणार्थक प्रयोग हुआ है, भावित का अर्थ है वासित । लोक में भी ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक गन्ध या रस से समस्त वातावरण भावित या वासित हो गया भावन का अर्थ यहाँ है व्याप्ति ।

अपने आशय के स्पष्टीकरण के लिए भरत ने तीन आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये हैं ।

विभावैराहृतोयोऽर्थो अनुभावैस्तु गम्यते ।
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।
वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।
नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।[1]

अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में भाव का अर्थ है काव्यगत मनोविकार – ये लौकिक मनोविकार से निश्चय ही भिन्न होते हैं, किन्तु फिर भी इनका आधार लौकिक मनोविकार है । इनके अनुसार भाव के तीन अर्थ सामने आते हैं –

1– भाव वह अर्थ है जो विभावों के द्वारा निष्पन्न होता है और वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय रूप अनुभावों के द्वारा गम्य अथवा प्रतीतियोग्य बनता है । यहाँ भाव से अभिप्राय है – काव्यार्थ ।

2– भाव वह जो चतुर्विध अभिनय के द्वारा कवि के हृदयगतभावों को भावित करता है – अर्थात् सहृदय समाज के चित्त में व्याप्त करता है । भाव

1– ना० शा० 6/1-2-3

का अर्थ यहाँ पर 'कवि के भाव को 'समाज के चित्त में व्याप्त करने वाला तत्व ।

3- चूंकि ये नानाविध अभिनयों से सम्बद्ध रसों काव्यार्थों को भावित अर्थात सहृदय समाज के चित्त में व्याप्त करते हैं अत: नाट्यकर्त्ता इन्हें भाव संज्ञा से अभिहित करते हैं । यहाँ पर भावों से आशय है उन तत्वों का जो काव्यार्थ को सहृदय के चित्त में व्याप्त करते हैं ।

उपर्युक्त व्याख्या का सार यह कि नाट्यशास्त्र में भाव की सत्ता वस्तुगत ही मानी गई है । वह या तो {1} काव्यार्थ का वाचक है {2} रस की सामग्री विभाव अनुभाव स्थायी का वाचक है । {3} विभावादि सामग्री ही अभिप्रेत है ।

भरत के भाव विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने व्यापक रूप से तीसरा ही अर्थ ग्रहण किया है । जो रस का भावन करे वे भाव हैं - अर्थात् भाव से भरत का अभिप्राय रस व्यंजक सामग्री का ही है ।

ये स्थित होने के कारण अथवा भावना करने वाले होने के कारण भाव कहलाते हैं । भाव चित्तवृत्तिस्वरूप होते हैं, अत: उनकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति की सम्भावना स्वीकार की जा सकती है । रति भाव के प्रकट होने की स्थिति को एक रूप में माना जा सकता है, इसमें भाव विस्तार अथवा उत्कर्ष को प्राप्त होता है । भाव का तात्पर्य ही है कि यह अधिकाधिक विकसित होता है और क्षण भर के लिए भी एक रूप में स्थिर नहीं होता । अनुभाव ज्ञान के माध्यम से ये भाव सीमित समय में चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं । इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर ये भाव आस्वादनीय हो जाते हैं । उपर्युक्त दो सम्भावनाओं के कारण ही दो व्युत्पत्तियों का उल्लेख किया गया

है -'भवन्ति' तथा 'भावयन्ति' । वस्तुतः चित्तवृत्ति रूप इनकी स्थिति होती है और हृदय में व्याप्त होकर ये आस्वादनीय होते हैं ।

वागङ्गसत्वोपेतान्काव्यार्थन्भावयन्तीति भावा इति ।[1]

अभिनव ने काव्यार्थ को इस रूप में स्वीकार किया है । काव्य के पद तथा वाक्यों में असाधरणता की प्रधानता के कारण अर्थ रस रूप ही होता है । यहाँ 'अर्थ' का शब्दार्थ नहीं लिया गया है । इस प्रकार काव्य के अर्थ रूप रस की भावना कराने का यहाँ तात्पर्य है यह अलौकिक अर्थ वाला आस्वादन स्थायी तथा व्यभिचारी आदि के द्वारा सम्भव होता है । स्थायी आदि से पूर्वपरिचित होने के कारण सर्वसाधारण भावों का आस्वादन करने में समर्थ होते हैं । यह रसास्वादन भावक में पूर्वपरिचित भाव का प्रत्यक्षीभूत होना है और क्यों कि यह आस्वादन भूमिका भाग में पहले से स्थित होता है, इस कारण उसे भाव का निष्पादक उत्पन्न करने वाला कहा गया है । वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा ही यह काव्यार्थ अर्थात रसानुभव अभिव्यक्त किया जाता है ।

भाव शब्द नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लोक वार्ता का अनुकरण नाट्य में किया जाता है । कवि लोक के चरित्रों की उद्भावना करता है और इसके तद्विषयक अन्तर्भाव को नट शिक्षा के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत करता है । कवि अपनी वर्णना के अन्तर्गत काव्य कौशल से इन भावों को अभिव्यक्त करता है और कवि इनको देशकाल के विभेदों से मुक्त साधारणीकृत रूप में आस्वादन योग्य बनाता है । अभिनेता इनको वाचिक

1- ना० शा० पृ० 405

आंगिक, मुख, राग तथा सात्विक अभिनय के द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत कर दर्शकों के मन को परिव्याप्त करता है । यह व्यापार भावन या भावित करना है और इसलिए ये भाव कहे गये हैं ।

भावों को भावित करने वाला कहा जा चुका है परन्तु चित्त - वृत्तियों के साधरणीकृत और प्रतिभा से कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त रूप को भावन व्यापार माना गया था । परन्तु विशिष्ट चित्तवृत्तियों को रस-प्रतीति योग्य बनाने की प्रक्रिया को भावन व्यापार माना गया है । लौकिक जीवन में अनेक भावनायें होती हैं, स्थायी रूप में इनकी वासना व्यक्ति में रहती है । अभिनय के माध्यम से लौकिक रति आदि वासना भावित होकर रस-रूप में प्रतीति होती है ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भरत के द्वारा प्रयुक्त भाव शब्द मनोविज्ञान के भाव के अर्थ में चित्तवृत्ति की भावात्मक स्थिति मात्र नहीं है । रस-प्रतीति की प्रक्रिया को समझने में अत्यन्त महत्व का शब्द है नाट्य के प्रसंग में अभिनय के विभिन्न अंगों तथा प्रयोगों के सहारे जिस प्रकार लौकिक चित्तवृत्तियों के कविगत अनुभावों को व्यक्त किया जाता है, वस्तुतः भरत उसे भाव मानते हैं । इस प्रकार नाट्य वस्तु का अर्थ कवि की अन्तर्निहित भावना और दर्शकों की रस प्रतीति के संदर्भ में भावित करने के अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग किया जा सकता है । रस और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भरत का कथन है कि इनमें एक दूसरे के प्रति कारण-कार्य सम्बन्ध है - भावों से विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है । इस उत्पत्ति के लिए भावों को अभिनय का आश्रय लेना पड़ता है और तभी भरत के शब्दों में कह सकते हैं कि -

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ।।[1]

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है {1} व्यापक रूप से सम्पूर्ण रसव्यंजक सामग्री के अर्थ में {2} काव्यगत स्थायी, संचारी और सात्विक भावों अर्थात मानसिक शारीरिक अनुभूतियों के अर्थ में {3} अनुपचित स्थायी या उपचित संचारी भाव के अर्थ में । इनके अतिरिक्त दो और प्रयोग मिलते हैं । {4} सामान्य मनोवेग के अर्थ में {5} कवि की सर्जक अनुभूति के अर्थ में, किन्तु इन अंतिम दो में से पहला अपरिभाषिक लौकिक प्रयोग है और दूसरा अत्यन्त सीमित । दूसरा अर्थ ही व्यापक रूप में प्रचलित हुआ ।

पृथग् भावाः भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः ।[2]

इस प्रकार भाव का प्रयोग सामान्यतः स्थायी तथा संचारी के लिए होता रहा और आज भी हो रहा है ।

1- ना0 शा0 6/36

2- दश0 4/4 पृष्ट 124

स्थायी भाव :-

हृदय में वासना रूप में संस्थित, अन्य भावों द्वारा किसी प्रकार भी न दबने वाले, प्रधान, विरोधी - अविरोधी भावों को अन्तर्निहित करके आत्मभाव प्राप्त करा सकने वाले, चिरकाल तक स्थायी रहने वाले, आस्वाद योग्य मनोभावों को स्थायी भाव कहते हैं ।

स्थायी भावों की वासना-रूपता के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने सबसे पहली बार विचार किया है । सभी प्राणियों में विद्यमान इस चित्तवृत्ति से शून्य तो कोई भी नहीं है । साथ ही यह जन्म से प्राणी में रहती है, क्यों कि संस्कार रूप है ।

जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविदिभः परीतो भवति ।[1]

न हि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति ।[2]

वासनात्मना सर्वजन्तुनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात् ।[3]

स्थायी भाव की प्रधानता का बोध स्वयं भरत मुनि ने करा दिया था । जिस प्रकार मनुष्यों में नृपति तथा शिष्यों में गुरु की प्रतिष्ठा की जाती है, उनकी आज्ञा का पालन तथा सेवा की जाती है और सहायता के लिए प्रस्तुत रहा जाता है उसी प्रकार सभी भावों में स्थायी भाव भी सर्वश्रेष्ठ होते हैं, और अन्य भाव उनके साथ प्रजा-नृपति तथा शिष्य-गुरु का सम्बन्ध रखते हैं ।

1- अ० भा० पृष्ठ 282

2- " " " "

3- " " " 283

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।[1]

भरत ने अन्य भावों - विभाव, अनुभावादि से अधिक महत्त्व देते हुए स्थायी भाव के सम्बन्ध में कहा है कि जिस प्रकार समान शारीरिक अवयव वाले व्यक्ति कुल, शील, विद्या, कर्म एवं शिल्प में विलक्षण होने के कारण राजा हो जाते हैं और अन्य अल्प ज्ञान युक्त होने के कारण अनुचर । उसी प्रकार विभावादि स्थायी भाव के आश्रित होते हैं । सुराजा के समान प्रतिष्ठित यदि कोई भाव है, तो स्थायी भाव ही है ।

सुराजेव विराजेत सः स्थायी भाव उच्यते ।[2]

इसकी प्रधानता का कारण यही है कि यह अपने विरोधी - अविरोधी किसी भी भाव से नष्ट नहीं होता ।

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।[3]

ये भाव स्थायी इसलिए कहलाते हैं क्योंकि ये स्थितिशील है - स्थित रहने वाले हैं ।

स्थायी यस्मादवस्थितः ।[4]

साथ ही ये प्रधान भी होते हैं -

1- ना० शा० 7/8 पृष्ठ 417

2- सा० कौ० 4/7

3- दश० 4/34

4- ना० शा० पृष्ठ 379

अहृवा श्रयत्वात् स्वामिभूता: स्थायिनो भावा: ।[1]

इस प्रकार इनकी दो विशेषताएं हैं - {1} स्थितिशीलता और {2} प्रधानता । दशरूपक के अनुसार {1} स्थायीभाव वह है जो प्रतिकूल या अनुकूल भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है {2} जिस प्रकार लवणाकार में जो भी वस्तु गिर जाती है वही तद्रूप हो जाती है, इसी प्रकार सभी व्यभिचारी भाव आदि स्थायीभाव के रूप में ही घुलमिल जाते हैं । अभिनव गुप्त के अनुसार इनकी स्थितिशीलता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में जन्म से ये विशेष प्रकार के भाव रहते हैं । वासना रूप में रहने वाले ये भाव किसी निमित्त से उद्बुद्ध हो जाया करते हैं और अपना कार्य करके विलीन हो जाते हैं, किन्तु ये कभी नष्ट नहीं होते । इनकी प्रधानता यह है कि ये भाव पुरुषार्थ-चतुष्टय से सम्बन्ध रखते हैं । जो भाव रसरूपता को प्राप्त हो जाते हैं वे ही स्थायी भाव हैं ।

प्रकृष्यमाणो यो भावो रसतां प्रतिपद्यते ।
स एव भाव: स्थायीति भरतादिभिरुच्यते ।। [2]

साहित्य शास्त्र में स्थायी भावों का निरूपण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है । आधुनिक मनोविज्ञान में जिस प्रकार प्राणी की मूल प्रवृत्तियों से सम्बद्ध 14 मन: संवेग माने गये हैं उसी प्रकार के ये आठ स्थायी भाव भी हैं । केवल इनकी संख्या आदि में अन्तर है । सभी प्राणियों में प्रेम आदि की चित्तवृत्तियां जन्मजात होती है । इससे शून्य प्राणी नहीं होता, हां किसी में कोई वृत्ति उत्कट होती है, कोई न्यून ।

1- ना० शा० पृष्ठ 349

2- भा० प्र० पृष्ठ 26

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित् संविद् इति प्रधानम् - - - - - - -
- - - - - भावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् ।[1]

विश्वनाथ कविराज ने स्थायी भाव का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि , जिस भाव को अनुकूल या प्रतिकूल भाव तिरोहित करने में असमर्थ रहते हैं, वह आस्वादङ्कुर का मूलभूत भाव स्थायी माना गया है ।

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादङ्कुरकन्दो सौ भावः स्थायीति सम्मतः ।।[2]

आचार्य धनंजय का विचार है कि काव्यार्थ के ज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होने वाला रस नामक आनन्द चार प्रकार का है - विकास, विस्तार,क्षोभ तथा विक्षेप । ये ही मन की चार अवस्थाएं हैं तथा ये ही चार मुख्य भाव कहे जा सकते हैं । ये चारों मन की स्थितियाँ क्रमशः शृंगार वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में पाई जाती है तथा ये चारों ही क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक एवं करुण में मिलती है । इसी हेतु हास्यादि को शृंगारादि चार रसों से उत्पन्न माना जाता है -

शृंगाराद्धि भवेद् हास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ।।[3]

स्थायी भाव की मुख्य बात यह है कि ये चिरकाल तक चित्त में अवस्थित रहते हैं और रसत्व को प्राप्त होते हैं ।

1- अ0 भा0 पृष्ठ 282

2- सा0 द0 3• 174

3- दश0 पृष्ठ 304

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्रते ।।[1]

आप्रबन्ध रहने के कारण इन्हें स्थायी की संज्ञा दी गई है -

तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम् ।[2]

अविच्छिन्न प्रवाह ही इसकी विशेषता है । अन्य भावों से इसका सम्बन्ध स्रक-सूत्र सम्बन्ध जैसा है । वास्तविक आनन्द के प्रदाता स्थायी भाव हैं ।

(1) अविच्छिन्न प्रवाहाः स्थायिभावाः ।

(2) स्रक्सूत्रवृत्या भावानाम - येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायीतैरसौपुष्यते परम् ।।

(3) आनन्दांकुर वन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ।

इस प्रकार साहित्य शास्त्र में कथित स्थायी भाव की निम्न विशेषतायें मानी जा सकती है ।

(अ) स्थायी भाव जन्म - जात है, और सभी प्राणियों में वासनात्मक रूप में इनकी विद्यमानता स्वीकार्य है ।

(ब) स्थायी भाव मनोविकारो में सर्वप्रधान होते हैं । सजातीय एवं विजातीय भाव इन्हें तिरोहित नहीं कर सकते । ये स्वयं दूसरे भावों को अपने अन्तर्निहित कर लेते हैं, अन्य भावों को अपने वशवर्ती कर लेते हैं ।

1- सा० कौ० 5/9
2- रस० ग० पृष्ठ 30

(स) इनमें चिरकाल स्थायित्व, आप्रबन्ध स्थायित्व अथवा अविच्छिन्न प्रवाहमयता होती है ।

(द) ये चर्वणायोग्य है, आनन्ददायी हैं ।

स्थायी भाव का भी संचारी भावों में उसी प्रकार परिवर्तन स्वीकार किया गया है जैसे संचारी भाव स्थायी भाव के रूप में परिण... हो जाते हैं । संचारियों में कई ऐसे हैं जो स्थायी के निम्नकोटि मात्र कहे जा सकते हैं । भय, शोक तथा क्रोध नामक स्थायी भावों की ही थोड़ी क्षीण दशा को त्रास, विषाद तथा अमर्ष का नाम दिया गया है । स्वयं भरत मुनि ने शृंगार में त्रास आलस्य तथा उग्रतादि संचारियों के प्रयोग का निषेध करने के साथ-साथ जुगुप्सा का भी निषेध कर दिया है ।

व्यभिचारिणस्त्रासालस्योग्रजुगुप्सावर्जनम् ।[1]

स्थायी भाव को संचारियों के साथ मिलाकर रखने का अभिप्राय यही हो सकता है कि उसे संचारित्व प्राप्त हो सके । अभिनवगुप्त, रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा व्यक्ति विवेक के टीकाकार ने भी इस विचार का समर्थन किया और बताया कि हास, शृंगार में रति, हास, करुण तथा शान्त में भय तथा शोक, करुण तथा शृंगार में तथा उत्साह एवं विस्मय सभी रसों में व्यभिचारी का काम करते हैं ।

तत्वज्ञानं तु सकलभावान्तराभित्तिस्थानीय सर्वस्थायिभ्यः सर्वाः रत्यादिकास्स्थायीचित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् ।

1- ना० शा० पृष्ठ 731 चौखम्बा संस्करण

2- अ० भा० पृष्ठ 336

तेनामी स्थायिन: रसान्तराणां व्यभिचारिण: अनुभावाश्च भवन्ति, तत्रैषामगन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात् ।।[1]

स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भवति । यथारतेदैवतादि विषया, हासस्य, शृंगारादौ, शोकस्य, विप्रलम्भशृंगारादौ, भयस्याभिसादिकादौ, जुगुप्साया: संसारनिन्दादौ, शमस्यैकोपाभिहलस्य प्रसादोदगमादौ ।[2]

तात्पर्य यह है कि स्थायी भावों का समयानुसार संचारी भावों के रूप में परिवर्तन हो जाता है ।

भरत रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मय नामक आठ स्थायी भाव माने थे । धीरे - धीरे शान्त रस की कल्पना के साथ कभी शम और कभी निर्वेद नामक स्थायी भावों की भी कल्पना सामने आई । शान्त को दृश्य काव्य में असंभाव्य कहकर वर्जित करने की चेष्टा भी चलती रही, किन्तु यह धीरे-धीरे रस के रूप में स्वीकृती पा गया और निर्वेद को इसका स्थायी माना गया है । इसी प्रकार वत्सल रस भी कालान्तर में स्वीकृत हुआ और वात्सल्य को स्थायीमाना गया है । वैष्णव भक्तों ने भी भक्ति को स्थायी मानकर भक्ति रस की प्रतिष्ठा की और देव विषयक रति को इस रूप में प्रस्तुत किया । भोजराज ने तो गर्व, स्नेह,धृति तथा मति नामक स्थायी भावों की कल्पना करते हुए क्रमश: उद्धत प्रेयस, शान्त तथा उदात्त रसों के विचार को प्रश्रय दिया । इस प्रकार स्थायी भावों की संख्या में विस्तार होता गया और नवीन-नवीन रसों की उद्भावना होती रही ।

1- ना0 द0 पृष्ठ 176

2- व्यं वि0 पृष्ठ 11-12 {टीका}

रति :-

रति नाम का प्रमोदात्मक स्थायी भाव ऋतु, माल्य, अनुलेपन, प्रियजन, सुन्दर घर आदि का उपभोग, अप्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपन - - - - - - - - - - -
- - - - - भवनानुभवनाप्रतिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते ।[1]

स्मित वदन, मधुर कथन, भ्रूक्षेप तथा कटाक्ष आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए । तामभिनयेत्स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादि - भिरनुभावैः ।[2]

इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते ।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः ।।[3]

अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से रति उत्पन्न होती है । वाणी की मधुरता तथा आंगिक चेष्टाओं के द्वारा सौम्य भाव से इसका अभिनय करना चाहिए ।

हास :-

यह हास्य-रस का स्थायी भाव है । हास नामक स्थायी भाव दूसरों की चेष्टाओं के अनुकरण, असम्बद्ध प्रलाप, कुहक, कुटिल कृत्य तथा मूर्खता आदि विभावों से उत्पन्न होता है । हसित आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।

1- ना० शा० पृष्ठ 417

2- ना० शा० पृष्ठ 418

3- ना० शा० 7/9

हासो नाम - परचेष्टानुकरणकुहकासम्बद्धप्रलापपौरोभाग्यमौर्ख्यादिभिर्विभावै: समुत्पद्यते । तमभिनयेत्पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावै: ।[1]

विकृत वेशभूषा अथवा वचन आदि के विकार से हृदय में उत्पन्न आनन्द के कारण हँसी का आना हास है ।

परचेष्टानुकरणाद्धास: समुपजायते ।
स्मितहासातिहसितैरभिनेय: स पण्डितै: ।।[2]

नाट्यदर्पणकार के अनुसार रंजन एवं उन्माद से उत्पन्न मनोदशा को हास कहते हैं ।

शोक :-

शोक करुण रस का स्थायी भाव है । प्रिय वस्तु के नाश से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता का नाम शोक है । भरत इष्ट जन के वियोग, धन या विभव का नाश, प्रिय व्यक्ति की मृत्यु एवं प्रिय व्यक्ति के कारावास से उत्पन्न दु:ख को शोक कहा है ।

शोको नाम - इष्टजनवियोगविभवनाश - - - मरणादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य: ।[3]

इसका अभिनय अश्रुपात, परिताप और विलाप करने, मुख के रंग उड़ जाने, स्वरभंग होने, अंगों के शिथिल होने, भूमि पर गिरने, सस्वर रोने,

---

1- ना० शा० पृष्ठ 419

2- ना० शा० 7/10

3- ना० शा० पृष्ठ 420

क्रन्दन करने, उच्छ्वास लेने तथा जड़ता, उन्माद, मोह और मरण आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए । इस प्रसंग में रुदन तीन प्रकार का होता है - आनन्द से उत्पन्न, आर्त भाव से उत्पन्न और ईर्ष्या भाव से उत्पन्न ।

आनन्देर्ष्यार्तिकृतं त्रिविधं रुदितं सदा बुधैर्ज्ञेयम् ।
तस्य त्वभिनययोगान्विभावगतितः प्रवक्ष्यामि ।।[1]

हर्षोत्फुल्लकपोलं सानुस्मरणा दपांगविसृतास्त्रम् ।
- - - - -
धैर्योत्तममध्यानां नीचानां रुदितेन च ।।[2]

आनन्द से उत्पन्न होने वाला व्यक्त रुदन में कपोल हर्षोत्फुल्ल होते हैं, स्मरणपूर्वक आंखों के कोनों में आंसू बहते हैं और शरीर रोमांचयुक्त हो जाते हैं । आर्त्त भाव अर्थात् दुःख से उत्पन्न उच्च स्वर रुदन में पर्याप्त आंसू निकलते हैं, अंग, गति और चेष्टायें शिथिल हो जाती हैं, मनुष्य भूमि पर पछाड़ खा कर गिरता है, लोटता है और विलाप करता है । ईर्ष्या से उत्पन्न रुदन में स्त्रियों के ओंठ और कपोल फड़कने लगते हैं, सिर कांपने लगता है, उच्छ्वास निकलने लगता है । भौहें तथा कटाक्ष में वक्रता आ जाती है । यह क्लेश तथा आपत्ति से उत्पन्न होने वाला शोक स्वभावतः स्त्री तथा नीच लोगों में पाया जाता है । उत्तमों तथा मध्यमों का शोक धैर्य युक्त तथा नीचों का रुदन युक्त होता है ।

1- ना० शा० 421

2- ना० शा० 7/11-14

क्रोध :-

क्रोध रौद्र रस का स्थायी भाव है । शत्रुकृत अत्यन्त बड़े अपराध अथवा अपमानादि से हृदय में उत्पन्न हुए उत्तेजनापूर्ण भाव को क्रोध कहते हैं । इसका प्रथम वर्णन भरत ने किया है ।

क्रोधो नाम आधर्षण: कृष्टकलहविवादप्रति - - - - - - - - - - - - - - - - - - - स्फुरणादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य:।[1]

नाट्यदर्पणकार के अनुसार दूसरे के अपकार एवं दूसरे से घृणा करने के कारण उत्पन्न संताप के आवेग को क्रोध कहते हैं । भरत ने पाँच प्रकार के क्रोध का उल्लेख किया है - शत्रु के द्वारा उत्पन्न क्रोध, गुरूजनों द्वारा उत्पन्न, प्रेमियों द्वारा, भृत्यों द्वारा तथा जालसाजी से उद्भूत -

रिपुजो गुरूजश्चैव प्रणयिप्रभवस्तथा ।
भृत्यज: कृतकश्चेति क्रोध: पंचविध: स्मृत: ।।[2]

भय :-

भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' होता है । भीषण वस्तु की भयंकरता से उत्पन्न चित्त की विकलता को भय कहते हैं । भरत के अनुसार भय का सम्बन्ध स्त्रियों एवं निम्न श्रेणियों के व्यक्तियों से होता है । इसकी उत्पत्ति गुरूजनों एवं राजा के प्रति किये गये अपराध, भयानक वस्तुओं के दर्शन एवं भयप्रद घोर आवाज के सुनने से होती है ।

1- ना० शा० पृष्ठ 423

2- ना० शा० 7/15

गुरुराजापराधेन रौद्राणां वापि दर्शनात् ।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ।।[1]

इसके अतिरिक्त भय की उत्पत्ति के कारण भी निर्देशित किये गये हैं - वन में भ्रमण करना, हाथी एवं सर्पदर्शन, शून्य गृह में रहना, अपने से बड़े लोगों की भर्त्सना, वर्षा कालीन रात, उल्लु एवं रात्रि में निकलने वाले भयंकर जानवर के दर्शन आदि ।

भयं नाम - स्त्रीनीचप्रकृतिकम् । - - - - श्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते ।[2]

उत्साह :-
========

उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है । दान, दया और शूरता आदि के द्वारा उत्पन्न हुई वृत्ति को उत्साह कहते हैं । भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में इसे उत्तम व्यक्तियों से सम्बन्धित बतलाया है । इसकी उत्पत्ति अविषाद, शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि विभावों के द्वारा होती है एवं यह धैर्य त्याग अर्थात् दानशीलता आदि अनुभावों के द्वारा रंगमंच पर दिखाया जाता है ।

उत्साहो नाम - उत्तमप्रकृतिः चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावै - - - - - - - - - - अनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[3]

नाट्यदर्पणकार के अनुसार धर्म, दान एवं युद्ध आदि कार्यों के प्रति आलस्य का नहीं होना उत्साह है ।

1- ना० शा० 7/22

2- ना० शा० पृष्ठ 427

3- ना० शा० पृष्ठ 426

धर्मदानयुद्धादिकर्मध्यनालस्यं उत्साहः ।[1]

असम्मोह आदि से व्यक्त होने वाला व्यवसाय पर आधारित तथा नेतृत्वपरक उत्साह का अभिनय आलस्यहीन व्यापारों से किया जाना चाहिए ।

असम्मोहादिभिर्व्यक्तो व्यवसायनयात्मकः ।
उत्साहस्त्वभिनेयः स्यादप्रमादोत्थितादिभि ।।[2]

जुगुप्सा :-
========

जुगुप्सा वीभत्स रस के स्थायी भाव को कहते हैं । घृणोत्पादक वस्तुओं को देखने, सुनने एवं स्मरण करने से चित्त में उत्पन्न होने वाली घृणा के किंचित भाव को जुगुप्सा कहते हैं ।

भरत ने इसे स्त्री एवं नीच प्रकृति के पात्रों से सम्बन्धित माना है । इसकी उत्पत्ति घृणित या असुन्दर पदार्थों के दर्शन एवं श्रवण से होती है । इसकी व्यंजना सभी अंगों के संकोच के द्वारा मुख को नीचे कर एवं थूकते हुए अनुभाव के द्वारा होती है ।

जुगुप्सा नाम - स्त्रीनीचप्रकृतिका । सा चाहृद्यदर्शनश्रवणादि - - - - - - - - - - - - अनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[3]

नाक ढकने, शरीर के अंगों के संकुचित करने उद्वेजना तथा हृदय की पीड़ा से जुगुप्सा का अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए ।

1- ना० द० पृष्ठ 330

2- ना० शा० 7/21

3- ना० शा० पृष्ठ 430

नासाप्रच्छादनेनेह गात्रसंकोचनेन च ।
उद्वेजनैः सहृल्लेखैर्जुगुप्सामभिनिर्दिशेत् ।।[1]

नाट्यदर्पणकार ने कुत्सित होने के निश्चय को जुगुप्सा कहते हैं ।

कुत्सितत्वाध्यवसायो जुगुप्सा ।[2]

विस्मय :-

यह अद्भुत रस का स्थायी भाव है । किसी आश्चर्यजनक पदार्थ अथवा अलौकिक वस्तु के देखने से जो विस्मय या आश्चर्य होता है, उसे विस्मय कहते हैं । भरत के अनुसार विस्मय की उत्पत्ति माया, मख्य, इन्द्रजाल, मनुष्य के असाधारण कर्म, उत्कृष्ण चित्र एवं शिल्प आदि विभावों के द्वारा होती है । इसका प्रदर्शन नेत्र विस्तार निर्निमेष देखना, भ्रूक्षेप, रोमांच, शिर - कम्प एवं साधुवाद आदि अनुभावों के द्वारा होता है ।

विस्मयो नाम - मायेन्द्रजाल - - - अभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[3]

कर्मातिशय निवृत्तो विस्मयो हर्षसम्भवः ।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यः प्रहर्षपुलकादिभिः ।।[4]

असाधारण कर्म से प्राप्त हर्ष से उत्पन्न विस्मय का अभिनय अत्यन्त हर्ष तथा पुलक से सम्पादित किया जाता है ।

1- ना० शा० 7/26
2- ना० द० पृष्ठ 330
3- ना० शा० पृष्ठ 431
4- ना० शा० 7/27

नाट्यदर्पणकार ने उत्कृष्ट होने के निश्चय को विस्मय कहा है ।

उत्कृष्टत्वाध्यवसायो विस्मयः ।[1]

निर्वेद :-

निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव है । संसार की अनित्यता देखकर विश्व की वस्तुओं के प्रति वैराग्य की भावना का होना निर्वेद है ।

भरत ने इसका वर्णन नहीं किया । ये आठ ही रस मानते हैं । शान्त रस का रंगमंच पर अभिनय नहीं होने के कारण भरत ने इसे स्वीकृति नहीं दी है ।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में शान्त रस का वर्णन किया है । किन्तु इन्होंने इसका स्थायी भाव 'सम्यक्ज्ञान' माना है ।

सम्यक्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति ।[2]

भरत ने नाट्यशास्त्र में स्थायी भाव के निरूपण के बाद संचारी भावों का वर्णन किया है । उन्होंने संचारी भावों में सर्वप्रथम निर्वेद का ही उल्लेख किया है । कुछ लोगों का इसी आधार पर कहना है कि भरत ने निर्वेद को स्थायी एवं व्यभिचारी दोनों भाव स्वीकार किया है । । निर्वेद संचारी का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए भरत ने बताया है कि निर्वेद की उत्पत्ति दरिद्रता, व्याधि, इष्टजन वियोग, तत्वज्ञान आदि के कारण होती है ।

दारिद्र्यव्याध्यवमानाधिक्षेप - - - - समुत्पद्यते ।[3]

1- ना० द० पृष्ठ 330

2- का० ७15/15

3- ना० शा० पृष्ठ 432

नाट्यदर्पणकार का कथन है कि किसी पदार्थ की प्राप्ति को निस्पृहा (अभिलाषा का न होना) ही शम है।

निस्पृहत्वं शमः ।[1]

आचार्य मम्मट ने शान्त - रस का स्थायी भाव निर्वेद माना है।

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।[2]

भरतमुनि ने शम को अतिरिक्त रस माना है -'क्वचिच्छमः'। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में 'शान्त रस' की मान्यता का समर्थन किया है। उनके मतानुसार मोक्षरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति की दृष्टि से शान्त रस की स्वीकृति आवश्यक ही है। दशरूपककार धनन्जय ने यद्यपि नाट्य में शान्त - रस को स्वीकार नहीं किया तथापि उसे काव्य का विषय तो माना ही है। धनन्जय के मतानुसार शम के प्रकर्ष रूप शान्त रस का वास्तव में मुक्तावस्था में ही आविर्भाव हो सकता है अतएव वह अनिर्वचनीय है तथापि तदुपायभूत मुदिता मैत्री, करुणा, उपेक्षा ये चार अवस्थाएं हैं और उनमें चित्त का विकास आदि होता है इसलिए चित्त के विकासादि के निरूपण द्वारा शान्त रस का आस्वाद भी निरूपित ही होता है। शान्त रस का स्थायी भाव शम (आत्मरति से होने वाला आनन्द) है, सभी चित्तवृत्तियों का अभाव रूप निर्वेद नहीं, निर्वेद तो केवल उसका व्यभिचारी भाव है।

1- ना० द० पृष्ठ 330

2- का० प्र० 4/47

विभाव :-

साहित्य शास्त्र मुख्यत: रस शास्त्र में साधारण लौकिक नामों का त्याग करके नवीन नामों की स्वीकृति की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । इस प्रवृत्ति का जन्म रस की अलौकिकता के प्रतिपादन के लिए हीं हुआ है । अतएव लोक में प्रचलित हेतु, कारण अथवा निमित्त शब्दों के लिए रस शास्त्र में पृथक रूप से 'विभाव' शब्द का ग्रहण किया गया है 'शास्त्र में वाचिक आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात ज्ञापन कराने वाले हेतु कारण अथवा निमित्त को 'विभाव' कहते हैं ।

विभावो विज्ञानार्थ: । विभाव: कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्याया: । विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्वाभिनया इत्यतो विभाव: । यथा - विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् ।[1]

चित्तवृत्तिओं को उद्बुद्ध करने के कारण रूप विषय को विभाव कहा जाता है, परन्तु यहां 'भाव' के अनुसार इस शब्द के शास्त्रीय अर्थ के विषय में जिज्ञासा की गई है । जिसके द्वारा वाचिक आदि अभिनय के द्वारा स्थायी तथा व्यभिचारी भाव विभावित अर्थात विशेष रूप से जाने जाते हैं, उन्हें विभाव कहा जाता है । भरत ने विभाव का अर्थ 'विज्ञान' माना है । जिससे स्थायी तथा व्यभिचारी वाचिक आदि अभिनयों से विभावित अर्थात विशेष रूप से जाने जाते हैं उन्हें विभाव कहते हैं । इस कारण विभाव कारण

1- ना० शा० पृ० 409

निमित्त अथवा हेतु ही है । इसके द्वारा रसप्रतीति सम्भव होती है । विभाव वस्तुत:विभावन अर्थात ज्ञापन करने वाले हेतु होते हैं जो स्थायी तथा व्यभिचारी चित्तवृत्तियों को वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के आश्रय से ज्ञापित करते हैं ।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगभिनयाश्रया: ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञित: ।।[1]

वाचिक तथा आंगिक अभिनय पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं । इस प्रकार आलम्बन रूप नायिका अथवा उद्दीपन रूप प्रकृति मात्र रस प्रतीति के कारण न होकर अभिनय के माध्यम से स्थायी भाव को प्रतीति योग्य बनाते हैं, अत: विभाव कहे गये हैं ।

अभिनवगुप्त के अनुसार विभाव का शाब्दिक अर्थ है कारण अथवा हेतु । काव्य शास्त्र में आश्रय के हृदय में सुप्त स्थायी भावों के उदबोधक कारणों को विभाव कहा गया है । तात्पर्य यह है कि रत्यादि के उद्बोधक भाव ही काव्य शास्त्रीय विभाव है । चित्तवृत्ति के उद्भव हेतु विषय को विभाव कहते हैं ।

अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि विभाव वासना रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायी भावों को आस्वादन योग्य बनाते हैं ।

1- ना० शा० 7/4, पृ० 410

वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणकल्पितान रत्यादीन् स्थायिन: विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्ति इति विभाव: ।[1]

स्थायी भाव को रस आस्वादनीय बनाने वाले कारण रूप विभावों के दो भेद बताये गये हैं ।

1- चित्तवृत्ति विशेष के विषयभूत विभाव को आलम्बन कहते हैं ।

2- निमित्त रूप सामग्री जिससे जाग्रत भाव अधिकाधिक उद्दीप्त होता है, उद्दीपन विभाव कहलाती है ।

यस्या: चित्तवृत्ते: यो विषय: स तस्या आलम्बनम् । निमित्तानि च उद्दीपकानि इति बोध्यम् ।[2]

आलम्बन-विभाव जिसके उद्देश्य से या जिसको लेकर रति आदि स्थायीभाव जागरित होते हैं वह रति आदि स्थायी भावों का विषय या आलम्बन है और उन रति आदि भावों का जो आधार है, वह आश्रय है । इन्हीं को हम विषयालम्बन या आश्रयालम्बन भी कह सकते हैं । काव्य में नायक नायिका आलम्बन होते हैं - क्योंकि उसमें नायिका के प्रति भाव दिखाया जाता है, जब कि नायिका के मन में नायक के प्रति भाव दिखाया जा सकता है, उस स्थिति में नायिका आश्रय और नायक विषयालम्बन होगा । रस जिसका आलम्बन लेकर उत्पन्न होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं । आलम्बन विभाव को रस का समवायिकारण भी कह सकते हैं । जिस प्रकार आत्मबोध में विषय और हेतु आत्मा ही होता है, उसी प्रकार रसबोध में स्थायीभाव

1- का० प्र० पृष्ठ 86 [टीका]

2- र० ग० पृष्ठ 33

का विषय और आलम्बन विभाव रूप हेतु दोनों ही होता है अर्थात् स्थायी ही है । कविराज विश्वनाथ का मत है कि नायक, नायिका आदि पात्र आलम्बन विभाव कहलाते हैं क्योंकि इनके आलम्बन से ही रस का उद्गम होता है ।

आलम्बनो नायकादिस्तमालव्य रसोद्गमात् ।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त आलम्बन विभाव की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि जिन भावों का आश्रय लेकर रत्यादि भाव उद्बुद्ध होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं तथा जिनका आश्रय लेकर उद्बुद्ध भाव उद्दीप्त होते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं । यथा श्रृंगार रस के प्रसंग में नायक तथा नायिका आलम्बन विभाव होते हैं ।

अमीषां वानपेक्षितबाह्यसत्वानां शब्दोपधाना देवासादितद्भावानां सामान्या - त्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानाना - मालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता ।[2]

भाव यह है कि ‖1‖ यह ठीक है कि काव्यगत नायक आदि की इस समय वाह्य जगत में सत्ता नहीं है । किन्तु इससे कोई दोष नहीं आता, क्योंकि उन्हें रस का आलम्बन बनाने के लिए उनकी वाह्य जगत में सत्ता अपेक्षित नहीं । ‖2‖ वस्तुत: उनकी बुद्धिगत सत्ता अपेक्षित है और वे साक्षात रूप से सहृदय के चित्त में स्थित रहते ही हैं ‖3‖ काव्य के शब्दों द्वारा उनके अपने - अपने रूप उपस्थित हो जाया करते हैं । इस प्रकार काव्यगत

1- सा० द० 329

2- दश० चतुर्थ उल्लास पृ० 259 ‖धनिक वृत्ति‖

नायक आदि वाह्य जगत में विद्यमान न होते हुए भी सामाजिकों के आलम्बन आदि हो जाया करते हैं क्यों कि शब्दों द्वारा ज्ञात होकर भी कोई पदार्थ साक्षात रूप से चित्त में विद्यमान रहता है ।

उदाहरण -

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।[1]

भरत आदि आचार्यों ने रसों के आलम्बन आदि का निरूपण किया है । इन आलम्बन की कोई सीमा निर्धारित नहीं है ।

उद्दीपन - विभाव - रति आदि स्थायी भावों को जो उद्दीप्त करते हैं, उनकी आस्वादन योग्यता बढ़ाते हैं वे उद्दीपन विभाव है । नायक, नायिका आदि की चेष्टायें देश काल आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं । देश, काल आदि के वर्णन को तटस्थ उद्दीपन विभाव कहा जाता है । चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय आदि तटस्थ उद्दीपन विभाव है और इन तटस्थ उद्दीपन विभाव के अतिरिक्त वस्त्र, वेश-भूषा आदि अंतरंग उद्दीपन के अन्तर्गत रखा है । उद्दीपक विभाव दो प्रकार के होते हैं । {1} पहले वे हैं जिनका सम्बन्ध नायक नायिका आदि पात्रों की चेष्टाओं रूप बोली, पहनावा आदि से होता है । {2} दूसरे उद्दीपन विभाव वे हैं, जिनका सम्बन्ध देश, काल, उद्यान, ऋतु आदि से होता है ।

1- वि० उ० 1/8

<u>अनुभाव</u> - अनुभाव शब्द से अभिनयरूप आंगिक तथा वाचिक ऐसी चेष्टाओं का संकेत मिलता है, जिससे आश्रय के हृदय के भावों को व्यक्त रूप मिलता है और जो सामाजिक को भाव-विशेष की प्रतीति कराती है । अभिनय की दृष्टि से अनुभाव का यह विशिष्ट प्रयोग किया गया है । विभाव के प्रति आश्रय में भी भाव अभिनय द्वारा व्यक्त किये जाते हैं उनका भावन या साक्षात्कार या प्रत्यक्षीकरण अनुभावों से किया जाता है । इस प्रकार ये वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनय के अन्तर्गत अनेक चेष्टायें और व्यापार ही है । अनुभाव शब्द से अभिनयरूप विशेष चेष्टाओं का आभास होता है । भरत के अनुसार जो आश्रय के हृदयस्थित भावों को व्यक्त वाह्यरूप होती है और सहृदय के भावविशेष का भावन करती है ।

अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वकृतोऽभिनयः इति अनुभावः ।
वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।[1]

भावन करने का अभिप्राय है साक्षात्कार करना अथवा अनुभवगोचर बनाना । भरत की प्रधान दृष्टि वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनय के अन्तर्गत अनेक चेष्टायें और व्यापार है परन्तु आगे के काव्याचार्यों ने अनुभाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ किया है, जो भावों के पश्चात उत्पन्न होते हैं, वे अनुभाव हैं । जिस प्रकार कारण के पीछे कार्य होता है, उसी प्रकार विभाव के पीछे अनुभाव होते हैं । विभावों द्वारा स्थायी भाव के उद्बुद्ध और उद्दीप्त होने पर मन की भावनायें विभिन्न विकारों के रूप में प्रकट होने लगती है । परन्तु अनुभावों की स्थिति भावों के बाद या भावों के कार्य रूप में मानी नहीं

1- ना० शा० 7/5

जा सकती । ये भावों के साथ ही व्यक्त होते हैं और तिरोहित हो जाते हैं । भाव तथा अनुभावों में कार्य कारण की स्थिति प्रत्यक्ष में भले ही जान पड़े पर तात्विक नहीं है ।

वाक् तथा अंग के साथ सत्व का समाहार होता है । अनुभावों के द्वारा नाटकीय वस्तु वाचिक तथा आंगिक अभिनय के प्रकार होते हैं । शरीर के विविध अंगों तथा उपायों की चेष्टाओं की द्वारा किये जाने वाले अभिनय से अनुभावों का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है । ये मानवीय प्रकृति के अंग रूप है, लोक में स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत होते हैं । तात्पर्य यह है कि विभाव तथा अनुभाव वाह्य स्थितियां हैं और साथ ही रस के प्रसंग में भी इनका स्वरूप लोक स्वभाव के अनुरूप रहता है । विभाव तथा अनुभाव के लोक प्रसिद्ध और मानव प्रकृति के अतिशय अनुगामी होने के कारण इनका लक्षण भरत ने नहीं बताया । जिसके उद्धरण में एक श्लोक भी है -

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः ।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ।।[1]

लोक प्रकृति से उत्पन्न होने वाले और लोक व्यवहार के अनुसर्त्ता इन अनुभाव तथा विभावों को स्वयं विद्वजन लोकप्रचलित कार्य द्वारा तथा लोक से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही हो सकता है ।

अभिनवगुप्त ने अनुभाव के तीन भेद किये हैं । जब अनुभूत भाव कटाक्ष भुजनिरपेक्ष इत्यादि के द्वारा प्रगट होता है तो वे आंगिक अनुभाव कहलाते हैं । वाचिक अनुभाव के अन्तर्गत नायक, नायिका के संलाप, विलाप प्रलाप आदि की गणना होती है । सात्विक भाव हृदय का वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म

1- ना० शा० 7/6

काव्य है जिसकी सम्वेदनात्मक अनुभूति कराने में वागङ्ग दोनों ही असमर्थ होते हैं। परन्तु अनुभूति की अभिव्यक्ति तो स्वयं ही अपना मार्ग बन कर प्रगट हो जाती तो जिस रूप में प्रगट होती है वही सात्विक भाव है। मन से उत्पन्न होने वाले भाव को सत्व कहा गया है।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।[1]

इस दृष्टि से कटाक्ष तथा भ्रूक्षेपादि को अनुभाव माना गया है। यह स्थायी भाव के जाग्रत होने के पश्चात् उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें कार्य रूप मानना चाहिए। पहली दृष्टि से यह कारणरूप होते हैं और दूसरी दृष्टि से कार्य रूप।

लक्षण के अनुसार सम्भोगेच्छा प्रकाशक भ्रू - नेत्रादि विकार ही हाव कहलाते हैं पर सीता जी के विकार इस प्रकार के नहीं हैं। वे विकार राम के साथ अपने सम्बन्ध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति अपने प्रेम की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएं होने के कारण वे विकार अनुभाव ही होंगे।[2]

1- दशा० 4/3

2- AGRA UNIVERSITY SELECTIONS IN HINDI PROSE 2nd EDITION, P. 64.

सात्त्विक भाव - भरत मुनि ने 49 भावों की परिगणना में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरसाद तथा स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक आठ भावों को पृथक रूप से सात्त्विक की संज्ञा दी है। नाट्य - शास्त्र में मन से उत्पन्न होने वाले भाव को सत्व कहा गया है।

स्तम्भः स्वेदोऽथरोमांचः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ।।[1]

मन के समाहित हुए बिना रोमांच आदि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न नहीं हो सकते। उदाहरणतः - दुःख तथा सुख की वास्तविकता के बिना रोदन रूप दुःख तथा हर्ष रूप सुख कोई प्रकट नहीं कर सकता। दशरूपक में भी इसका उल्लेख है -

सत्वादेवसमुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् - तथा
परगतदुःखहर्षादि भावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्वं।[2]

प्रतापरुद्रीयम में भी इसका उल्लेख किया है -

परगतसुखादिभावनाभावितान्तः करणत्वंसत्वं। ततो भावः सात्त्विकाः।[3]

तथा रसरत्नप्रदीपिका में भी भरत के इस मत का समर्थन किया गया है।

यद्यपि एते यथा सम्भवं सर्वेषु रसेषु व्यभिचरन्ति - - - - - - - - - तेन सत्वेन वृत्ताः सात्त्विकाः।[4]

1- ना० शा० 7 अध्याय

2- दश० पृ० 264-265

3- प्रताप० पृ० 159

4- रस० प्रदी० पृ० 10

शिंगभूपाल तथा शारदातनय ने यह स्वीकार करते हुए कि सभी भाव सत्वज होते हैं इसीलिए सभी को साधारणतः सात्विक कहा जाता है । सात्विक कहकर इन आठ भावों को पृथक कर देने का कारण यही है कि इनका सत्व मात्र से ही सम्बन्ध होता है । इस सत्व को जहाँ भरतमुनि मन की समाहित अवस्था मानते हैं, वहाँ भोजराज इसे सत्वगुण से सम्बन्धित मानकर इसका प्रयोग सत्वगुण युक्त मन के लिए करते हैं ।

रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मनः सत्वमिहोच्यते ।
निवृत्तेऽस्य तद्योयागात्प्रभवन्तीति सात्विकाः ।।[1]

सत्व का अर्थ है रजोगुण तथा तमोगुण से रहित मन है । सत्व से उत्पन्न भाव सात्विक कहे जाते हैं । सात्विक का एक अर्थ है जीवन क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला भाव ।

1- स० क० 5/20

<u>व्यभिचारी भाव</u> - स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले वे भाव जो जल उर्मिओं की तरह उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं, संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। व्यभिचारी शब्द में वि + अभि + चर उपसर्ग तथा धातु का योग दीख पड़ता है। 'वि' विविधता का 'अभि' अभिमुख्य का और 'चर' संचरण का द्योतक है। अतएव वाक् अंग तथा सत्वादि द्वारा विविध प्रकार के रसानुकूल संचरण करने वाले भावों को व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहते हैं। रसों में जो नाना प्रकार से अभिमुख होकर संचार करते हैं वे संचारी कहलाते हैं।

वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः। धात्वर्थ वागंगसत्वोपेतान विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।[1]

भरत की इस परिभाषा में संचरण शब्द का प्रयोग आनयन अर्थात् ले आने के अर्थ में हुआ है। स्वयं ही 'चरन्ति नयन्तीत्यर्थः' पंक्ति द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। अतएव व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के परिपोषक तथा उन्हें रसावस्था तक पहुँचाने वाले होते हैं। अस्थिरता भी इनका एक विशेष गुण है।

> दीपयन्तः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम्।
> ते तु संचारिणो ज्ञेयास्तेन स्थायित्वमागताः।।[2]

भरत के अनुसार आनयन का अर्थ वस्तुतः यह है कि जिस प्रकार सूर्य दिन को लाता है उसी प्रकार संचारी भी स्थायी भाव को आनयन करते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सूर्योदय के साथ-साथ दिन हो जाता है उसी प्रकार विभावादि के कारण संचारी के उदय होते ही स्थायीभाव स्वतः प्रकट हो जाते हैं। स्वतः उनका प्रकाश फैल जाता है।

1- ना० शा० पृ० 432

2- अ० भा० पृ० 379

कथं नयन्ति ? उच्यते - यथा सूर्य इदं नक्षत्रमनुवासरं नयतीति ।
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - यथायं सूर्यो नक्षत्रमिद वा
नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्येवगन्तव्याः ।[1]

भरत द्वारा कथित 'विविध अभिमुख्येन वरन्तो व्यभिचारिणः' पंक्ति का एक दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है । व्यभिचारी संज्ञा उन भावों को दी जायेगी जो विविध प्रकार के रसों की अनुभूति के समय प्रेक्षक के अभिमुख सम्मुख प्रस्तुत हो जाते हैं, यद्यपि ये मानसिक स्थिति मात्र है, किन्तु उसकी सूचना स्थित्यनुकूल किये गये वांगादि अभिनय के प्रदर्शन से मिलती रहती है, अतएव इनका साक्षात्कार होता रहता है ।

दशरूपककार ने भरत की परिभाषा को स्वीकार करते हुए जहाँ यह कहा है कि विशेष रूप से अभिमुख होकर संचार करने के कारण ये भाव व्यभिचारी कहे जाते हैं । दशरूपककार ने यह भी कहा है कि स्थायी भाव तथा संचारी भाव का ऐसा सम्बन्ध है जैसे वारिधि के साथ कल्लोल का सम्बन्ध होता है । जिस प्रकार तरंगें वारिधि में उठती तथा निर्मग्न होती रहती हैं वैसे ही स्थायी भाव रूप वारिधि में संचारी भाव रूप तरंगें उठती और मग्न होती रहती हैं । स्थायी भाव के अनुकूल ही संचारी भावों का आविर्भाव - तिरोभाव होता रहता है ।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।।[2]

1- ना० शा० पृ० 433

2- दश० 4/7

अतएव स्थायी ही प्रमुख है । संचारी उनके सहायक मात्र कहे जा सकते हैं । काव्यप्रकाशकार ने तो इन्हें स्पष्टतः स्थायी भाव का सहकारी कहा भी है ।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च । तथा विभावा
अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।।[1]

विश्वनाथ तथा शिंगभूपाल ने दशरूपक की उक्ति को ही ग्रहण किया है । संचारी भावों को भावों का संचालक, गतिकर्त्ता, स्थायी का उपकारक बताकर भरत के ही लक्षण की पुष्टि की है ।

संचारयति भावस्य गतिमिति संचारी । विशेषेण अभिमुख्येन
स्थायिनं प्रतिचरति इति व्यभिचारी ।[2]

ये तूपकर्त्तमायन्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् ।
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः ।।[3]

हेमचन्द्र द्वारा कथित 'स्थायीधर्मोपजीवनेन' तथा 'स्वधर्मोऽर्पणेन' का तात्पर्य भी स्थायी के प्रति संचारी की अकारणता तथा तद्गतता ही है ।

विविधं अभिमुख्येन स्थायीधर्मोपजीवनेन स्वधर्मोऽर्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः[4]

साराश यह है कि संचारी की दो परिभाषायें - एक भरत की परिभाषा और दूसरी धनन्जय की । मूलतः संचारी के तीन ही लक्षण हैं : (1) संचारी भाव स्थायी भाव को दीप्त करते हैं, उनके उपकारक हैं । वे

1- का० प्र० 4/27-28

2- सा० कौ० 4/7

3- रस० पु० पृ० 18

4- काव्या० पृ० 86

स्थायी भाव को रस दशा तक पहुँचाते हैं, इसी से उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। ‖2‖ स्थायी के साथ उनका सम्बन्ध वारिधि तथा कल्लोल का सा है। उनका आविर्भाव - तिरोभाव होता रहता है। ‖3‖ व्यभिचारी को अचिर अनवस्थित जन्म वाला तथा संचारी भी कहते हैं अर्थात् स्थायी न रह पाना उनका विशेष गुण है।

निर्वेद ग्लानि शंकाऽऽख्यास्तथा सूया - मद - श्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च।।
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चावहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः।।[1]

विविध स्थायी भाव और अन्य भावों में संचरण करने के कारण संचारी। विविध प्रकार से ‖वि‖ और अभिमुख्येन ‖अभि‖ प्रवृति ‖चरण‖ के कारण एवं विविध स्थायी भावों में प्रवृत्त होने के कारण अनैकान्तिक ‖एकनिष्ठ न‖ होने से व्यभिचारी कहलाते हैं। अभिनवगुप्त ने लिखा है कि ये उदय, स्थिति और अपाय इन तीन धर्मों वाले होते हैं।

व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः। यदाह विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिण इति।[2]

1- ना० शा० 6/18-19-20-21

2- ध्व० द्वितीय उद्योत पृ० 37।

<u>निर्वेद</u> - निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव भी है । इस कारण इस अमंगलकारी व्यभिचारी को भरत ने प्रथम स्थान दिया है । पर यह संगत नहीं है क्योंकि भरत नाट्य के प्रसंग में स्पष्टत: आठ रस स्वीकार करते हैं । अभिनव के समय तक विचारकों का एक संस्थान निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव मानने वाले अवश्य थे । शारंगदेव ने इन दोनों संस्थानों के आधार पर कहा है कि तत्व ज्ञान से उद्भूत निर्वेद स्थायी है और इष्ट जन के वियोग आदि से उत्पन्न निर्वेद व्यभिचारी है । भरत ने तत्व ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को भी व्यभिचारी माना है -

इष्टजनविप्रयोगाद्दारिद्र्याद्व्याधितस्तथा दुःखात् ।
ऋद्धिं परस्य दृष्टा निर्वेदो नाम सम्भवति ।।
वाष्पपरिप्लुतनयन: पुनश्च नि:श्वासदीनमुखनेत्र: ।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान्पुरुष: ।।[1]

विभावों में प्रिय जनों के वियोग, दरिद्रता तथा व्याधि के अतिरिक्त दुःख तथा दूसरों की समृद्धि को देखना दुःख तो व्यापक अर्थ देने वाला शब्द है, पर दूसरे के ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हो सकता है और इस भाव से पुन: निर्वेद उत्पन्न हो सकता है । अनुभावों में भी यहां विशिष्टता है । रोने के स्थान पर आंखों का अश्रुपूर्ण होना कहा गया है तथा भाव और नेत्रों की दीनता का उल्लेख हुआ है तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुभाव यहां योगी की तरह ध्यान में लीन होना माना जा सकता है ।

<u>ग्लानि</u> - भरत ने नाट्य की दृष्टि से ग्लानि को मात्र मानसिक नहीं माना है, वरन अनेक शारीरिक स्थितिओं से भी उत्पन्न होता है । वान्त अर्थात

1- ना० शा० 7/29-30

वमन, विरक्ति अथवा रेचन (दस्त) आदि शारीरिक कारण है । इन सभी से मानसिक ग्लानि की भावस्थिति उत्पन्न होती है । अनेक बाह्य परिस्थितियाँ जिस प्रकार व्यभिचारी के विभाव होते हैं, उसी प्रकार यहाँ शारीरिक स्थिति भी ग्लानि के विभाव हो सकते हैं क्यों कि ये मन को प्रभावित करती है । मानसिक क्लेश, अतिशय काम तथा मदपान से मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है और शिथिलता के साथ ग्लानि उत्पन्न हो सकती है ।

वान्तविरिक्त व्याधिषु तपसा जरसा च जायते ग्लानिः ।
कार्श्येन साभिनेया मन्दभ्रमणेन कम्पन ।।
गादितैः क्षामक्षामैर्नेत्रविकारैश्च दीनसंचारैः ।
श्लथभावेनांगानां मुहुर्मुहुर्निर्दिशेद्ग्लानिम् ।।[1]

इन आचार्यों में भरत ने अपने कथन का समर्थन प्राप्त किया है । इन अनुभावों में जरा (वृद्धावस्था) का अतिरिक्त उल्लेख है । जरा में व्याधियाँ आ घेरती हैं, भूख-प्यास पर प्यास नहीं रह जाता और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और नींद की हानि हो जाती है, अतः इस अवस्था में ग्लानि का होना स्वाभाविक हो जाता है । मन्द चाल का उल्लेख है यहाँ चाल में दीनता का उल्लेख है । अंगों की तनुता अर्थात अंगों की शिथिलता, दृष्टि की मलीनता का भी स्थान है । मुहुर्मुहुः का अर्थ निरन्तर लिया है । पीड़ा, वार्द्धक्य एवं आयास से तथा उनके उपलक्षण होने से अनिद्रा, मानसिक ताप आदि के कारण उत्पन्न दुर्बलता को ग्लानि कहते हैं ।

ग्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अशक्तिः कार्श्यकम्पभाक् ।[2]

1- ना० शा० 7/31-32

2- ना० द० सूत्र 184

शंका - शंका नामक व्यभिचारी सन्देहमूलक होता है और इसकी स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में अधिक व्याप्ति देखी जाती है । शंका आदि से भय आदि की उत्पत्ति होती है । अतः कम्प आदि का यह कारण होती है । परन्तु चिन्ता आदि से भय आदि की उत्पत्ति नहीं होती, यही इन दोनों में पार्थक्य है ।

चौर्यादिजनिता शंका प्रायः कार्या भयानके ।
प्रियव्यलीकजनिता तथा शृंगारिणी मता ।।[1]

शंका को भयानक रस में प्रायः चोर से उत्पन्न होने वाली तथा शृंगार रस में प्रियतम के अप्रिय आचरण से (प्रायः) होने वाली रखना चाहिए ।

द्विविधा शंका कार्या ह्यात्मसमुत्था च परसमुत्था च ।
या तत्रात्मसमुत्था सा ज्ञेया दृष्टिचेष्टाभिः ।।
किंचित्प्रवेपितांगस्त्वधोमुखो वीक्षते च पार्श्वानि ।
गुरुसज्जमानजिह्वः श्यामास्य शंकितः पुरुषः ।।[2]

इस उद्धरण में दो आर्याएं हैं - अपने मन में उत्पन्न होने वाली दो प्रकार की शंका होती है, जिसमें आत्मसमुत्था शंका का ज्ञान दृष्टि तथा चेष्टाओं से प्राप्त करना चाहिए । शंका करने वाले व्यक्ति के अंग किंचित काँपते हैं, वह अपना मुख नीचे किये रहता है, बगलें झांकता है, उसकी जिह्वा मोटी तथा जड़ हो जाती है और मुँह काला पड़ जाता है ।

नाट्यदर्पणकार का कथन है कि स्वकीय या परकीय दुष्कर्म के कारण मन का काँपना शंका संचारी है । इसमें श्यामता आदि की उत्पत्ति होती है ।

1- ना० शा० 7/33

2- ना० शा० 7/34-35

दु:ख एवं सन्देह के फलस्वरूप मन की अस्थिर स्थिति को कम्प या दोलन कहते हैं ।

शंका स्वपरदौरात्म्याद् दोलनं श्यामतादियुक् ।[1]

<u>असूया</u> - अन्य के उत्कर्ष को सहन नहीं करना असूया है । इसमें दोषकथन, भृकुटि भंग, क्रोध आदि लक्षण दिखलाई पड़ते हैं । भरत का कथन है कि असूया की उत्पत्ति नाना अपराध, द्वेष, परऐश्वर्य, सौभाग्य, मेधा, विद्या, लीला आदि विभावों द्वारा होती है । इसका प्रदर्शन निम्नलिखित अनुभावों के द्वारा होता है । दूसरे का दोष दिखाना, अन्यों के गुण की अवज्ञा करना, ईर्ष्या की आँखों से देखना, अधोमुख करना, भ्रू कुटिल करना, अवज्ञा करना इत्यादि अनुभावों से किया जाना चाहिए ।

परसौभाग्यैश्वरमेधालीलासमज्ञ्याम्दृष्ट्वा ।
उत्पद्यते ह्यसूया कृतापराधो भवेद्यश्च ।।
भृकुटिकुटिलोत्कटमुखैः सेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तनेत्रैश्च ।
गुणनाशनविद्वेषैस्तत्राभिनयः प्रयोक्तव्यः ।।[2]

नाट्यदर्पणकार के अनुसार द्वेषादि के कारण दूसरे के श्रेष्ठगुणों को सहन न करना असूया है । सदा दोषों को देखने के कारण इसकी उत्पत्ति होती है ।

द्वेषादेः सद्गुणा क्षान्तिरसूया दोषदर्शिनी ।[3]

1- ना० द० सूत्र 186

2- ना० शा० 7/36-37

3- ना० द० सूत्र 187

मद - मद की उत्पत्ति मदिरापान के कारण होती है । वह तरुण, मध्य तथा अवकृष्ट तीन प्रकार का होता है ।

मदो नाम-मद्योपयोगादुत्पद्यते । स च त्रिविध पंचविध भावश्च ।[1]

मद तीन प्रकार को होता है - तरुण, मध्य तथा अवकृष्ट तथा उसके पाँच विभाव होते हैं, जिनसे उनका अभिनय करना चाहिए । कोई मत्त होकर गाता है, कोई रोता है, इसी प्रकार कोई हँसता है, कोई कठोर वचन कहता है और कोई सोता है । उत्तम प्रकृति का व्यक्ति (मदावस्था में) सोता है, मध्यम प्रकृति का व्यक्ति हँसता और गाता है और अधम प्रकृति का व्यक्ति कठोर वचन कहता और रोता है ।

ज्ञेयस्तु मदस्त्रिविधस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टंच ।
करणं पंचविधं स्यात्तस्यभिनय प्रयोक्तव्यः ।।
कश्चिन्मत्तो गायति रोदिति कश्चित्तथा हसति कश्चित ।
परुषवचनाभिधायी कश्चित्काश्चित्तथा स्वपिति ।
उत्तमसत्वः शेते हसति च गायति च मध्यमप्रकृतिः ।
परुषवचनाभिधायी रोदित्यपि चाधमप्रकृतिः ।।[2]

नाट्यदर्पणकार ने तीन प्रकार के मद का वर्णन भरत के ही आधार पर किया है । उनके अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों में मद्य के कारण निद्रा, हास्य एवं रोदन को उत्पन्न करने वाले आनन्द को मद कहते हैं ।

ज्येष्ठादौ मुन्मदो मद्यात निद्रा-हास्यास्त्र कृमात् ।[3]

1- ना० शा० पृष्ठ 442

2- ना० शा० 7/38-39-40

3- ना० द० सूत्र 188

श्रम - श्रम व्यभिचारी भाव दूर की यात्रा तथा व्यायाम करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है । उसका अभिनय शरीर दबाने, मालिश करने, निःश्वास लेने, जंभाई लेने, धीरे-धीरे पग रखने, मुख के सिकोड़ने, नेत्रों के कटाक्ष आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए ।

नृत्ताध्वव्यायामान्नरस्य संजायते श्रमो नाम ।
निःश्वासखेदगमनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ।।[1]

नृत्त, गमन तथा व्यायाम से मनुष्य के श्रम उत्पन्न होता है, निःश्वास तथा थकी हुई गति से अभिनय करना चाहिए ।

आलस्य - भरत के अनुसार आलस्य की उत्पत्ति खेद, व्याधि, गर्भ, रोग, पेट का भरा होना आदि के कारण कार्य में अनुत्साह का होना आलस्य, संचारी है । स्त्री एवं नीच व्यक्तियों की उद्यमहीनता को आलस्य कहते हैं । जृम्भा एवं बैठे-बैठे खाना आदि आलस्य के अनुभाव हैं ।

आलस्यं त्वभिनेयं खेदोपगतं स्वभावजं चापि ।
आहार वर्जितानामारम्भाणामनारम्भात् ।।[2]

खेद तथा स्वभाव से उत्पन्न आलस्य का अभिनय भोजन-कार्य को शुरू करने को छोड़कर अन्य सभी कार्यों के आरम्भ के त्याग द्वारा किया जाना चाहिए ।

धृत्ति - भरत के अनुसार धृति की उत्पत्ति शूरता, अत्यधिक ज्ञान, अध्ययन, विभव, पवित्र आचार, गुरूजनों के प्रति आदर, अत्यधिक अर्थ का लाभ, क्रीडा का आनन्द आदि विभावों के द्वारा होती है । इसके अनुभाव संतोष, हर्ष आदि है ।

1- ना० शा० 7/47

2- ना० शा० 7/48

विज्ञानशौचविभवश्रुतिशक्तिसमुद्भवा धृत्ति: सद्भि: ।
भयशोकविषादाद्यै रहिता तु सदा प्रयोक्तव्य: ।।
प्राप्तानमुपभोग: शब्दरस्पर्शरूपगन्धानाम् ।
अप्राप्तेश्च न शोको यस्यां हि भवेद् धृत्ति: सा तु ।।[1]

विज्ञान, शौच, विभव, श्रुति तथा शक्ति से उत्पन्न धृत्ति का अभिनय सदा भय, शोक, विषाद आदि से रहित अनुभावों से किया जाना चाहिए । जिस मन: स्थिति में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के उपभोग की उपलब्धि होती है तथा अनुपलब्ध विषयों के कारण शोक नहीं होता, वह धृत्ति है ।

नाट्यदर्पणकार ने ज्ञान या अभीष्ट प्राप्ति आदि के कारण उत्पन्न संतोष को धृत्ति कहा है । आदि शब्द से पवित्राचरण, क्रीडा, देवभक्ति आदि को ग्रहण किया गया है ।

धृत्तिज्ञानिष्टलाभादे: सन्तुष्टिदेर्हपुष्टिकृत् ।।[2]

<u>दैन्य</u> - दु:ख अथवा विरहादि के कारण उत्पन्न निस्तेजता को दैन्य या दीनता कहते हैं । भरत ने कहा है कि दुर्गति एवं मनस्ताप आदि विभावों के द्वारा दैन्य की उत्पत्ति होती है । अधैर्य, शिथिलता, अन्यमनस्कता एवं विक्षेप इसके अनुभाव हैं । इस प्रकार परिस्थिति तथा मानसिक स्थिति से दैन्य का उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है । अनुभावों में देह का भारीपन तथा सिर दर्द शारीरिक है, पर अधीरता तथा अन्यमनस्कता मानसिक है ।

1- ना० शा० 7/56-57

2- ना० द० सूत्र 185

चिन्तौत्सुक्यसमुत्था दुःखाद्या भवति दीनता पुंसाम् ।
सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ।।[1]

चिन्ता और उत्सुकता से उद्भुत लोगों की दीनता का मूल कारण दुःख है । उसका अभिनय अनेक प्रकार की शुद्धियों के त्याग द्वारा किया जाता है

नाट्यदर्पणकार के अनुसार आपत्ति के कारण मन की व्याकुलता को दैन्य कहा जाता है । मुँह का काला हो जाना एवं शरीर को वस्त्र से ढक लेना इसके अनुभाव हैं ।

आपदः स्वान्तनीचत्वं दैन्यं काष्र्यादिकृन्नैः ।[2]

<u>चिन्ता</u> - भरत का कथन है कि चिन्ता की उत्पत्ति सम्पत्तिनाश, अभीष्ट पदार्थ की हानि एवं दरिद्रता के कारण होती है । इसके अनुभाव है - निःश्वास, चिंतन, अधोमुख होना एवं शरीर की दुर्बलता आदि ।

ऐश्वर्यभ्रंशेष्ट द्रव्यक्षयजा बहुप्रकारा तु ।
हृदयवितर्कोपगता नृणां चिन्ता समुद्भवति ।।[3]

ऐश्वर्य के विनष्ट हो जाने पर, प्रिय वस्तु के नष्ट होने से उत्पन्न हृदयस्थ वितर्क को प्राप्त चिन्ता विविध प्रकार की होती है ।

सोच्छ्वासैर्निःश्वासितैः सन्तापैश्चैव हृदयशून्यतया ।
अभिनेतव्या चिन्ता मृजाविहीनैरधृत्या च ।।[4]

1- ना० शा० 7/49

2- ना० द० 206

3- ना० शा० 7/50

4- ना० शा० 7/51

उच्छ्वास, नि:श्वास, सन्ताप, हृदय शून्य होने, शरीर की शुद्धि के त्याग करने तथा अधैर्य आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार चिन्ता उस मानसिक सन्ताप को कहते हैं, जो इष्ट पदार्थ की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न होती है । इसके अनुभाव हैं - इन्द्रियों की शून्यता, श्वास चलना एवं कृशता ।

अधिचिन्ता प्रियानाप्तेः शून्यता-श्वास-कार्श्यकृत् ।[1]

<u>मोह</u> - मोह की उत्पत्ति आकस्मिक दुर्घटना, आपत्ति, रोग, भय एवं पूर्वशत्रुता के स्मरण करने के कारण होती है । इसके अनुभाव हैं - निश्चेष्टता, पतन, झुकना एवं अच्छी तरह से न देखना ।

अस्थाने तस्करान्दृष्ट्वा त्रासनैर्विविधैरपि ।
तत्प्रतीकारशून्यस्य मोहः समुपजायते ।।
व्यसनाभिघातभयपूर्ववैरसंस्मरणरोगजो मोहः ।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[2]

अनुपयुक्त स्थान पर चोरों को देख कर तथा अनेक प्रकार के त्रासों से प्रतीकार करने में असमर्थ व्यक्ति के हृदय में मोह उत्पन्न होता है । आपत्ति में पड़ने , भय, पूर्व वैर को याद करने तथा रोग से मोह उत्पन्न होता है और उसका अभिनय सभी इन्द्रियों के सम्मोह द्वारा किया जाना चाहिए ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार प्रहार आदि के कारण उत्पन्न अचैतन्य को मोह कहते हैं ।

1- ना० द० सूत्र - 190

2- ना० शा० 7/52-53

अचैतन्यं प्रहारादेर्मोहोऽत्राघूर्णनादयः ।[1]

स्मृति - भरत के अनुसार सुखात्मक अथवा दुःखात्मक भावों के स्मरण को स्मृति कहते हैं । यह रोग रात्रिजागरण, अधोमुख कर देखना या सोचना से सम्बन्धित है ।

सुखदुःखमतिक्रान्त तथा मतिविभावितं यथावृत्तम् ।

- -

शिर उद्वाहनकम्पैर्भ्रूक्षेपैवाभिनेतव्या ।। [2]

बुद्धि द्वारा विभावित होते हुए चिरकाल से भूले हुए सुख तथा दुःख का जो यथातथ्य के रूप में स्मरण करता है, वह स्मृतिमान कहलाता है । विज्ञ जनों को स्वास्थ्य तथा अभ्यास से उत्पन्न तथा दर्शन एवं श्रवण से उत्पन्न स्मृति का सिर हिलाने, सिर उठाने तथा भौहों के चलाने आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिए ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार पूर्वदृष्ट पदार्थ के सदृश किसी पदार्थ के देखने से पूर्वदृष्ट पदार्थ का ज्ञान होना स्मृति है । इसका चिह्न है भौहों की उन्नति ।

दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्यदृष्टवादेभ्रून्नतिक्रिया ।[3]

व्रीडा - अपनी प्रशंसा, गुरूजनों की मान मर्यादा, पराभव, कामवासना, दुराचरण आदि से उत्पन्न लज्जा या संकोच को व्रीडा कहते हैं । भरत के अनुसार व्रीडा का आधार कोई अनुचित कार्य होता है । इसकी उत्पत्ति गुरूजनों की आज्ञा का उल्लंघन, प्रतिज्ञा के पूर्ण नहीं करने एवं गुरूजनों के अनादर

1- ना0 द0 सूत्र 199

2- ना0 शा0 7/54-55

3- ना0 द0 सूत्र 194

के कारण उत्पन्न पश्चाताप से होती है । इसके अनुभाव हैं - मुँह का छिपा लेना, सिर नीचे कर लेना, चिन्तन करना, पृथ्वी पर रेखा खींचना, वस्त्र एवं अँगूठी का स्पर्श करना एवं नख काटना आदि ।

किंचिदकार्यं कुर्वन्नेवं यो दृश्यते शुचिभिरन्यैः ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

वस्त्रांगुलीयकानां संस्पर्शं व्रीडितः कुर्यात् ।।[1]

जब अन्य पवित्र पुरुषों के द्वारा कोई अनुचित कार्य करता हुआ देखा जाता है, तब उसे पश्चाताप करते हुए लज्जित हुआ समझना चाहिए । लज्जित व्यक्ति मुँह छिपाता है, भूमि पर रेखायें खींचता है, नाखून कुतरता है तथा वस्त्र और अँगूठियों का स्पर्श करता है ।

<u>चपलता</u> - प्रेमाधिक्य एवं विरोध के कारण चित्त में स्थिरता का नहीं होना चपलता है । भरत का मत है कि राग, द्वेष, मात्सर्य, ईर्ष्या एवं विरोध के कारण चपलता की उत्पत्ति होती है ।

अविमृश्य तु यः कार्यं पुरुषोवधताडनं समारभते ।
अविनिश्चितकारित्वात्स तु खलु चपलो बुधैर्ज्ञेयः ।।[2]

बिना सोचे - समझे जो व्यक्ति वध अथवा ताडन आदि कार्य करता है, वह अनिश्चित कार्य करने वाला होने के कारण विज्ञ जनों के द्वारा चपल कहा जाता है ।

1- ना० शा० 7/58-59

2- ना० शा० 7/60

हर्ष - इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से मन का प्रसन्न होना हर्ष है । भरत का कथन है कि हर्ष की उत्पत्ति अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति, प्रियजन का आगमन, मानसिक परितोष, देवता, गुरु एवं राजा की प्रसन्नता आदि विभावों से होती है । इसके अनुभाव हैं - नेत्र एवं मुख की चमक, प्रसन्नचित्त होना, प्रियभाषण, आलिंगन, रोमांचित एवं पुलकित होना, अश्रु एवं स्वेद आदि हैं ।

अप्राप्ये प्राप्ये वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वाऽपि ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

ललितैश्चाविहारै: स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ।।[1]

अप्राप्य तथा प्राप्य वस्तु के उपलब्ध होने अथवा प्रिय व्यक्ति के मिलन पर अथवा हार्दिक मनोकामना के पूरी होने पर व्यक्ति को हर्ष होता है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार अभीष्ट की प्राप्ति के कारण उत्पन्न होने वाली मन की प्रसन्नता को हर्ष कहा जाता है । भरत के विचारों का समर्थन करते हुए इष्ट की प्राप्ति में उनके गिनाये सभी विभावों को ग्रहण कर लिया है । इन्होंने स्वेद, अश्रु, एवं गद्गदता को हर्ष का अनुभाव माना है ।

हर्ष: प्रसत्तिरिष्टाप्तेरत्र स्वेदाश्रुगद्गदा: ।[2]

आवेग - आवेग संभ्रम को कहते हैं । अनायास इष्ट अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से आवेग होता है । आवेग दो प्रकार का होता है । भयजन्य आवेग एवं हर्षजन्य आवेग । हर्ष से उत्पन्न होने वाले आवेग में शरीर संकुचित हो जाता है एवं भयजन्य आवेग में शरीर ढीला पड़ जाता है । भरत ने आठ प्रकार के आवेगों एवं उनके लक्षणों का विस्तार से उल्लेख किया है ।

1- ना० शा० 7/61-62

2- ना० द० सूत्र 203

उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरोद्भ्रमण प्रियाप्रिय श्रवणप्रकृत व्यसनाभिघातादिभि - र्विभावैः समुत्पद्यते । - तमभिनयेत्सर्वांगस्रस्ततावैमनस्यमुखवैवर्ण्यविषादविस्मयादिभिः[1]

आवेग नामक व्यभिचारी उत्पात, वात, वर्षा, अग्नि, हाथी का इधर - उधर भागना, प्रिय या अप्रिय श्रवण जनता के विद्रोह आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इस सम्बन्ध में उत्पात से उत्पन्न आवेग का अभिप्राय है बिजली और उल्कापात, वज्रपात, सूर्य, चन्द्र के ग्रहण तथा केतु दर्शन आदि से उत्पन्न आवेग । इसका अभिनय सभी अंगों के शिथिल हो जाने, मन की खिन्नता, मुख की विवर्णता, विषाद तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए ।

अप्रियनिवेद्या सहसा ह्यवधारिता खिन्नस्य ।
- - - - - - - - - - - - - - - - - - -
सहसा रदर्शनाच्चेत्प्रहरणपरिघट्टनैः कार्यः ।।[2]

अप्रिय निवेदन, सहसा शत्रु के वचनों को सुनकर अपमानित होने तथा शस्त्र-पात के त्रास से आवेग उत्पन्न होता है । अप्रिय समाचार से उत्पन्न आवेग के अनुभाव विषाद भाव को व्यक्त करने वाले होते हैं और सहसा शत्रु के दर्शन से उत्पन्न आवेग का अभिनय शस्त्रों के संघर्ष से किया जाता है ।

<u>जड़ता</u> - जड़ता नामक व्यभिचारी भाव सभी प्रकार के कार्यों में प्रवृत्ति का अभाव कहा जाता है । वह इष्ट अथवा अनिष्ट को सुनने अथवा देखने तथा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है । उसका अभिनय चुप रहने

1- ना० शा० पृ० 459

2- ना० शा० 7/64-65

अस्पष्ट कथन, एकदम मौन धारण करने, अप्रतिभ रह जाने, एकटक देखते रहने तथा परवश रहने आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए ।

> इष्टं वाऽनिष्टं वा सुखदु:खे वान वेत्ति यो मोहात् ।
> तूष्णीक: परवशगो भवति स जडसंज्ञित: पुरुष: ।।[1]

जो पुरुष मोह के कारण इष्ट तथा अनिष्ट और सुख या दु:ख का ज्ञान नहीं कर पाता, मौन साध लेता है और अपने भाव को सम्भलने में असमर्थ होता है, उसे जड़ कहा जाता है ।

गर्व - भरत का मत है कि गर्व की उत्पत्ति ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन, विद्या, धन आदि के आधिक्य के कारण होती है । इसके अनुभाव हैं - दूसरे का अनादर करना, अवज्ञा, अविनय, पूछने पर कुछ न बोलना {अनुत्तर}, अभाषण, उपहास, अंगावलोकन, विभ्रम, कठोर वचन, गुरुजनों का अनादर, अकारण तिरस्कार करना आदि अनुभाव हैं ।

> विद्यावाप्ते रूपादैश्वर्यादथ धनागमाद्वापि ।
> गर्व: खलु नीचानां दृष्टयंगविचालनै: कार्य: ।।[2]

विद्या की प्राप्ति, रूप, वैभव, तथा धन आदि के लाभ से निच - प्रकृति के पुरुषों में गर्व उत्पन्न होता है । दृष्टि तथा शरीरावयवों के चालन द्वारा इसे अभिनीत करना चाहिए ।

व्यक्ति ऐश्वर्य पाकर, कुल में ऊंचा होने से, रूप अधिक पा कर, विद्या-बल में अधिक होने से, धन प्राप्त कर और लाभ पाकर गर्व करता है ।

1- ना० शा० 7/66

2- ना० शा० 7/67

इसी कारण इसको विभाव माना गया है । गर्व करने वाला व्यक्ति दूसरों के प्रति घृणा का भाव रखता है, दूसरों की अवहेलना या अनादर करता है । वह अभिमान वश किसी बात का उत्तर नहीं देता और न बातचीत ही करता है । अपने अंगों को देखता है ये सभी उसके अनुभाव है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार विद्या, जाति, ऐश्वर्य, गुण आदि की अधिकता के कारण अन्यों का अनादर करना ही गर्व है । अन्यों का उपहास करना आदि अनुभावों के द्वारा व्यक्त होता है ।

आत्मन्याधिक्यधीर्गर्वो विद्यादेरन्यहीदृया ।[1]

<u>विषाद</u> - किसी कार्य को प्रारम्भ करके उसे पूरा न कर पाने से मन में खिन्नता या विषाद का भाव उत्पन्न होता है । इसी प्रकार दैव संयोग से आने वाली आपत्ति-विपत्ति में भी विषाद उत्पन्न होना स्वाभाविक है । भरत ने विषाद की दो कोटि मानी है । एक अपने निजी प्रयत्नों में असफल होना और दूसरा दैवयोग से आने वाली आपत्ति । उत्तम तथा मध्यम वर्ग के लोगों पर उसका प्रभाव भिन्न स्वीकार किया गया है । उत्तम तथा मध्यम जनों में सहिष्णुता अधिक होती है, इसी कारण विषाद की मनः स्थिति में उनकी चेष्टाओं में अस्थिरता अपेक्षाकृत कम परिलक्षित होती है ।

कार्यानिस्तरणाद्वा चौर्याभिग्रहणराजदोषाद्वा ।
दैवादर्थविपत्तेर्भवति विषादः सदा पुंसाम ।।
वैचिक्त्योपायचिन्ताभ्यां कार्य उत्तममध्ययोः ।
निद्राः निःश्वासितध्यानैरधमानां तु योजयेत् ।।[2]

1- ना० द० सूत्र 210

2- ना० शा० 7/68-69

कार्य को पूरा न कर पाने, चोरी के अपराध से बन्धन, राजा के प्रति अपराध तथा दैव संयोग से आई हुई आर्थिक विपत्ति से मनुष्य में विषाद उत्पन्न होता है । उत्तम तथा मध्यमों में विषाद का अभिनय निद्रा: नि:श्वास से संयोजित किया जाता है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति से अनुत्साह का होना विषाद है । नि:श्वास एवं चिन्ता इसके अनुभाव हैं ।

विषादास्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेर्निश्वास चिन्तनैः ।[1]

<u>औत्सुक्य</u> - प्रिय जनों के वियोग की स्थिति में मन में उनके प्रति उत्सुकता बनी रहती है । उनको याद करने से यह उत्सुकता और बढ़ जाती है । अभिनय के लिए उसके अनुभावों में गहरी सांस लेना, नीचे मुख करके किसी बात की चिन्ता करना आदि चेष्टाओं का उल्लेख है । इस मन:स्थिति में निद्रा और तन्द्रा का अनुभव होता है । ध्यान की एकाग्रता के कारण सोना तथा अभिलाषा प्रकट करना भी इसके अनुभाव माने गये हैं ।

इष्टजनस्य वियोगादौत्सुक्यं जायते ह्यनुस्मृत्या ।
चिन्तानिद्रातन्द्रीगात्रगुरुत्वैरभिनयोऽस्य ।।[2]

इष्ट जन के वियोग तथा उनके स्मरण करने से औत्सुक्य का आविर्भाव होता है और उसका अभिनय चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा तथा शरीर के भारीपन आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए ।

नाट्यदर्पणकार का कथन है कि प्रिय वस्तु के स्मरण के कारण अभीष्ट के प्रति अत्यन्त शीघ्रता से अभिमुख होना ही औत्सुक्य है । इसके

1- ना० द० सूत्र 204

2- ना० शा० 7/70

अनुभाव हैं - कार्य को भूल जाना, दीर्घ निःश्वास लेना, असम्बद्ध वचन, हृदय की वेदना आदि -

इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं स्मरणाद्यात् त्वरादिभिः ।[1]

<u>निद्रा</u> - श्रम, ग्लानि आदि से उत्पन्न चित्त के समीलन को निद्रा कहते हैं ।

इसमें जंभाई लेना, आँख मीचना, उच्छवास, अंगड़ाई आदि होते हैं । भरत ने निद्रा संचारी का वर्णन करते हुए बताया है कि इसकी उत्पत्ति दुर्बलता थकावट, मदिरापान आलस्य, चिन्ता, अत्यधिक आहार आदि के कारण होती है । भरत ने नाट्यशास्त्र की आर्या में रात्रिजागरण को भी निद्रा का कारण माना है । निद्रा के अनुभावों का वर्णन करते हुए भरत ने उसकी संख्या निम्न प्रकार से गिनायी है, मुँह का भारी होना, शरीर का घूमना, नेत्रों का घूमाना, जुभाई लेना, उच्छवास, शरीर को शिथिल करना, आँखें मूदना आदि ।

आलस्यद्दौर्बल्यात्क्लमाच्छ्रमाच्चिन्तनात्स्वभावाच्च ।
रात्रौ जागरणादपि निद्रा पुरुषस्य सम्भवति ।।
तां मुखगौरवगात्रप्रतिलोलन नयनमीलन जडत्वैः ।
जृम्भणगात्रविमर्दैरनुभावैरभिनयेत्प्राज्ञः ।।[2]

आलस्य, दुर्बलता, रात्रि जागरण से निद्रा की सम्भावना होती है, मुख की गुरुता, शरीर का घूमना आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय विज्ञ जनों के द्वारा किया जाना चाहिए ।

<u>अपस्मार</u> - इसको मिर्गी के रूप में माना गया है, परन्तु इसे रोग न समझकर

एक स्थिति मात्र मानना चाहिए । लोक समाज में देखा जाता है कि व्यक्ति , देवता, यक्ष, नाग, ब्रह्म, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के द्वारा

1- ना० द० सूत्र 2।।

2- ना० शा० 7/71-72

ग्रहीत होकर अपस्मार की स्थिति में पकड़ जाते हैं । जूठा भोजन खाने से, बहुत दिनों से खाली पड़े आवास में रहने या जाने से अपवित्र रहने या वस्तुओं के सेवन करने से अपस्मार की स्थिति सम्भव है ।

भूतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
कालान्तरातिपातादशुचेश्च भवत्यपस्मार: ।।
सहसा भूमौ पतनं प्रवेपनं वदनफेन मोक्षश्च ।
नि:संज्ञस्योत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ।।[1]

भूत, पिशाच द्वारा ग्रहीत होने से, उनका स्मरण करने, जूटा भोजन खाने, सूने घर में प्रवेश करने, समय के पालन में असावधानी करने तथा अपवित्र होने से अपस्मार होता है । सहसा भूमि पर गिरना, काँपना, मुँह से फेन गिरना, अचेतन अवस्था में उठ पड़ना आदि अपस्मार के अनुभाव हैं ।

<u>सुप्त</u> - भरत के अनुसार स्वप्न निद्रा से उत्पन्न होता है । इसकी उत्पत्ति निद्रा, विषयों के अनुभव आदि विभावों के कारण होती है । इसके अनुभाव हैं - उच्छ्वास, जोर से साँस लेना, शरीर का शिथिल हो जाना, आँखों का मूँद लेना आदि -

निद्राभिभवेन्द्रियोपरमणमोहनैर्भवेत्सुप्तम् ।
अक्षिनिमीलोच्छ्वसनै: स्वपनायितजल्पितै: कार्य: ।।[2]

सोच्छ्वासैर्नि:श्वासैर्मन्दाक्षिनिमीलनेन निश्चेष्ट: ।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्सुप्तं स्वपनैश्च युंजीत ।।[3]

1- ना० शा० 7/73-74

2- ना० शा० 7/75

3- ना० शा० 7/76

निद्रा के भंग होने से, इन्द्रियों के भोग से सुप्त स्थिति उत्पन्न होती है । उसका अभिनय आँखें बन्द करने, उच्छ्वास लेने तथा स्वपनशील होने तथा सोने की स्थिति में बात करने से किया जाता है । स्वपनावस्था का प्रयोग उच्छ्वास तथा निःश्वास लेने, मन्द-मन्द आँखें बन्द करने, निश्चेष्ट होने स्वपन देखने तथा समस्त इन्द्रियों के सम्मोहित होने के द्वारा किया जाता है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार निद्रापकर्ष या अत्यधिक निद्रा का आना ही सुप्त संचारी है । इसमें छठों इन्द्रियों की मन से विमुक्ता हो जाती है ।

सुप्तं निद्रापकर्षोऽत्र स्वप्नायित - समोहते ।[1]

<u>विवोध</u> - निद्रा दूर होने पर चैतन्यलाभ को विवोध कहते हैं । संस्कृत आचार्यों ने इसे विभिन्न नामों से अभिव्यक्त किया है । भरत ने विवोध, वाग्भट, अग्नि पुराणकार एवं नाटकलक्षणरत्नकोशकार ने इसे प्रवोध संज्ञा दी है । भरत के अनुसार भोजन के कुपरिणाम, दुःस्वपन, तीव्र शब्द का श्रवण या स्पर्श आदि के कारण विवोध की उत्पत्ति होती है । इसके अनुभाव हैं - जंभाई लेना, आँख मलना एवं विछावन से उठना आदि ।

आहारपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सम्भूतः ।
प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवदनाक्षिपरिमर्दैः ।।[2]

भोजन के परिणाम स्वरूप शब्द तथा स्पर्श आदि से प्रतिबोध होता है, जिसका अभिनय जंभाई लेने, मुख तथा आँख मलने आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए ।

1- ना० द० सूत्र 201

2- ना० शा० 7/77

नाट्यदर्पणकार के अनुसार विबोध की उत्पत्ति शब्द, स्पर्श, निद्रा की समाप्ति एवं भोजन परिपाक के कारण होती है । इसके अनुभाव है - जँभाई लेना, आँख मलना, बिछावन पर से उठ जाना, हाथ का फैलना एवं अँगुलियों का बजाना आदि ।

निद्राच्छेदो विबोधश्च शब्दादेरंगभंगवान् । [1]

<u>अमर्ष</u> - भरत के अनुसार विद्या, ऐश्वर्य, शौर्य एवं बल में व्यक्ति के द्वारा अपमानित होने पर उस अपमानित व्यक्ति के हृदय में अमर्ष का भाव उत्पन्न होता है । इसकी अभिव्यक्ति सिर के कँपाने, नीचे मुँह कर चिन्तन करने एवं सहायकों के अन्वेषण करने में होता है ।

आक्षिप्तानां सभामध्यक विद्याशौर्यबलाधिकैः ।
नृणामुत्साहसंयोगादमर्षो नाम जायते ।।
उत्साहाध्यवसायाभ्यामधोमुखविचिन्तनैः ।
शिरः प्रकम्पस्वेदाद्यैस्तं प्रयुञ्जीत पण्डितः ।। [2]

सभा के बीच विद्या, ऐश्वर्य तथा बल में अधिक लोगों के द्वारा फटकारे गये लोगों को उत्साह के योग से अमर्ष उत्पन्न होता है । उत्साह, अध्यवसाय के द्वारा तथा नीचे मुख करके चिन्तन करने, सिर के कम्प तथा स्वेद आदि के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार अपमान एवं तिरस्कार आदि के कारण उत्पन्न बदला चुकाने की इच्छा अमर्ष है । जो शिरः कम्प आदि के द्वारा

1- ना० द० सूत्र - 215

2- ना० शा० 7/78-79

व्यक्त होता है -

क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन कम्पनादयः ।[1]

<u>अवहित्थ</u> - भय, गौरव, लज्जादि के कारण हर्ष के आकार को छिपाना अवहित्थ है । अवहित्थ का अर्थ है अपने स्वरूप को छिपाना । भरत ने आकार के छिपाने को अवहित्थ कहा है । भय, लज्जा, पराजय के गौरव तथा कुता आदि भावों के कारण इसकी उत्पत्ति होती है । इसके अनुभाव हैं - अन्य की कथा का कथन, अन्य ओर देखना, बीच में बात को भंग कर देना एवं बनावटी धैर्य आदि ।

धाष्ट्र्यजिह्मभयादिसम्भूतमवहित्थं भयात्मकम् ।
तच्चागणनया कार्यं नातीवोत्तरभाषणात् ।।[2]

धृष्टता तथा छल आदि से उत्पन्न अवहित्थ भयमूलक होता है, उसका अभिनय बिना कार्य की चिन्ता किये तथा उत्तर देने तथा भाषण करने में अधिक न बोलने वाले अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार धृष्टता, भय, लज्जा, गौरव आदि के कारण हर्ष आदि विकारों को छिपाना ही अवहित्थ है । इसके चिन्ह हैं - किसी कार्य को छोड़कर व्यापारानन्तर में लगना, इधर-उधर की बातें करना अन्य दिशा की ओर देखना आदि इनके विवेचन पर भरत का प्रभाव है ।

धाष्ट्यादिर्विक्रियारोधोऽवहित्थाऽत्र क्रियान्तरम् ।[3]

1- ना० द० सूत्र 197

2- ना० शा० 7/80

3- ना० द० सूत्र 212

उग्रता - क्रूरता, अपराध, निन्दा और अपमानादि के कारण चित्त में उत्पन्न निर्दयता के भाव को उग्रता कहते हैं । भरत ने उग्रता का वर्णन करते हुए कहा है कि इसकी उत्पत्ति चोरी करने में पकड़े जाने, असत्य कथन एवं प्रलाप आदि के द्वारा होती है । इसके अनुभाव हैं - वध, बन्धन, ताडन एवं तर्जन आदि ।

चौर्याभिग्रहणवशान्नृपापराधादथोग्रता भवति ।
वधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनयस्तस्याः ।।[1]

चोर के पकड़े जाने के कारण तथा राजा के प्रति अपराध किये जाने से उग्रता उत्पन्न होती है । उसका अभिनय वध, बन्धन तथा ताडन आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए ।

मति - भरत ने नाना शास्त्रों के चिन्तन एवं ऊहापोह के द्वारा मति की उत्पत्ति मानी है । इसके अनुभाव हैं - शिष्योपदेश, अर्थ निर्णय एवं संशय दूर करना ।

नानाशास्त्रार्थबोधने मतिः संजायते नृणाम् ।
शिष्योपदेशार्थकृतस्तस्यास्त्वभिनयो भवेत् ।।[2]

अनेक शास्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में बोध होने से मनुष्यों में मति उत्पन्न होती है, शिष्यों को उपदेश देने तथा अर्थ प्रकाशन आदि के द्वारा उसका अभिनय किया जाना चाहिए ।

1- ना० शा० 7/81

2- ना० शा० 7/82

नाट्यदर्पणकार का कथन है कि भ्रान्ति के नाश को ही मति कहते हैं । मति भ्रमोच्छेदन की जननी होती है । शास्त्रचिन्तन एवं तर्क के द्वारा उत्पन्न नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही मति है ।

प्रतिभानं मतिः शास्त्रतर्कादि भ्रांतिच्छिदादिकृत् ।[1]

<u>व्याधि</u>- व्याधि नामक व्यभिचारी वात, पित्त और कफ के सन्निपात से उत्पन्न होता है । ज्वर आदि इसके विशेष प्रकार हैं । ज्वर के दो भेद हैं - शीत के सहित और दाह के सहित ।

समासतस्तु व्याधीनां कर्त्तव्योऽभिनयो बुधैः ।
स्रस्तांगगात्रविक्षेपैस्तथा मुखविकूणनैः ।।[2]

कुशल प्रयोक्ताओं के द्वारा संक्षेप में व्याधियों का अभिनय अंगों के शिथिल होने, इधर, उधर फेंकने तथा मुख के सिकोड़ने आदि से किया जाना चाहिए ।

<u>उन्माद</u> - शारीरिक तथा मानसिक परिस्थितियों का सम्मिलित रूप उन्माद माना जा सकता है । इसके विभावों में प्रिय जनों से वियोग तथा किसी के वैभव का नष्ट हो जाना माना गया है । इन मानसिक स्थितियों के अतिरिक्त वात्त, पित्त तथा कफ के प्रकोप से इसकी उत्पत्ति मानी गई है, व्याधि से इसकी समता देखी जा सकती है ।

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात् ।
विविधाच्चित्तविकारादुन्मादो नाम सम्भवति ।।
अनिमित्त रुदितहसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्कुष्टैः ।
अन्यैश्च विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ।।[3]

1- ना० द० सूत्र 193
2- ना० शा० 7/83
3- ना० शा० 7/84-85

इष्ट जनों के विनाश, वैभव के नष्ट हो जाने, आकस्मिक चोट लगने से, वात, पित्त, कफ के प्रकोप से प्रेरित विभिन्न चित्तविकारों से उन्माद उत्पन्न होता है । अकारण हास, रुदन, बैठने, गाने, दौड़ने, चीखने - चिल्लाने तथा अन्य विकारों द्वार उन्माद का अभिनय किया जाना चाहिए ।

मरण - मरण से अभिप्राय है मृत्यु समान कष्ट का होना, न कि मृत्यु । मृत्यु के पूर्व उस-उस अवस्था को मरण कहते हैं, जिसमें प्राण के संयोग होने पर भी शरीर मृत की भांति निश्चेष्ट रहता है । मरण नामक व्यभिचारी व्याधि से और आकस्मिक घात से होता है । इसमें आन्त्र, यकृत, शूल के कष्ट से, वात, पित्त, कफ के वैषम्य से, कण्ड (गले की गिल्टी) फोड़ा, ज्वर तथा विसूचिका से जो मरण होता है, उसे व्याधि से उत्पन्न व्याधिप्रभव कहते हैं ।

श्वापदगजतुरगरथोद्भव तु पशुयानपतनजं वाऽपि ।
शस्त्रक्षतवत्कुर्यादिनवेक्षितगात्रसंचारम् ।।
इत्येव मरणं ज्ञेयं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
प्रयोक्तव्यं बुधैः सम्यग्यथा भावांगचेष्टितैः ।।[1]

हिंसक पशुओं के प्रहार, हाथी, घोड़े तथा रथ आदि के ऊपर से गिरने तथा पशुओं की अन्य सवारियों से गिरने में जो कारण होता है, उसमें भी शस्त्राभिघात में मरण की तरह शरीर की चेष्टाओं का अभाव प्रदर्शित करना चाहिए । इस प्रकार अनेक अवस्थायों वाला मरण जानना चाहिए, और कुशल जनों के द्वारा इसका अभिनयात्मक प्रयोग समुचित भावों तथा आंगिक चेष्टाओं से किया जाना चाहिए ।

1- ना० शा० 7/89-90

त्रास - जहाँ किसी प्रकार के अहित के कारण चित्त में भय का संचार हो, उसे त्रास कहते हैं । भरत ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि त्रास की उत्पत्ति वज्रपात, उल्कापात, मेघों की गर्जना, भयानक पशु अथवा भयंकर पदार्थ के दर्शन से होती है ।

महाभैरवनादाद्यैस्त्रासः समुपजायते ।
त्रस्तांगाक्षिनिमेषैश्च तस्य त्वभिनयो भवेत् ।।[1]

अत्यन्त भयानक नाद आदि से त्रास उत्पन्न होता है और अंगों के सिकोड़ने तथा आधी आँख बन्द करने आदि के द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

वितर्क - विचारणादिसम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः ।
वितर्कः सोऽभिनेयस्तु शिरोभ्रूक्षेपकम्पनैः ।।[2]

विचार-विमर्श से उद्भूत अतिशय सन्देहात्मक वितर्क का अभिनय सिर के कम्पनों तथा भ्रूविक्षेप द्वारा किया जाना चाहिए ।

एवमेते त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावा देशकालावस्थानुरूप्येणात्मगत - परगतमध्यस्था उत्तममध्यमाधमैः स्त्रीपुंसैः स्वप्रयोगवशादुपपाद्या इति ।[3]

इस प्रकार ये तैतीस व्यभिचारी भाव देश, काल तथा अवस्था के अनुरूप आत्मगत, परस्थ तथा मध्यस्थ रूप में उत्तम, मध्यम तथा अधम स्त्री - पुरुषों के द्वारा अपने प्रयोग से साक्षात्कार के योग्य बनाये जाने चाहिए ।

1- ना० शा० 7/91

2- ना० शा० 7/92

3- ना० शा० पृ० - 489

पंचम अध्याय

रस संख्या

संस्कृत साहित्य - शास्त्र के मूर्धन्य आचार्य मम्मट ने अपनी विश्रुत कृति 'काव्य प्रकाश' की प्रथम कारिका में ही कवि की निर्मिति कविता के लिए 'नवरसरुचिराम्' विशेषण का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या प्रसिद्ध टीकाकार झलकीकार वामन ने दो प्रकार से की है -

"नवसंख्यका: रसा: श्रृंगारादयो यस्यां सा नवरसा: सा चासौ अतएव रुचिरा मनोहरा च ताम् ।"

अथवा "नव अवयवा: यस्य स: नवावयव: स चासौ रसश्च नवरस तैररुचिराम् ।" इनमें से पूर्वत्र "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" पाणिनीय सूत्र से तथा उत्तरम शाकपार्थिवादि नियम से मध्यम पद अवयव का लोप होकर कर्मधारय समास के द्वारा 'नवरसरुचिराम्' पद व्युत्पन्न होता है । आचार्य मम्मट का यह कथन संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में रसों की कुल संख्या नौ होने की सार्वभौम मान्यता का परिचायक है । 'यशस्तिलकचम्पू' नामक प्रसिद्ध साहित्यिक कृति में भी यही मान्यता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है । जब कृत्तिकार ने गुणालंकार रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, प्रभृति साहित्यिक तत्वों को काव्यवृक्ष के अंग प्रत्यंग के रूप में परिगणित किया है -

त्रिमूलकं द्विधोत्थानं पंचशाखम् चतुश्छदम् ।
योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमि स काव्यकृत्त ।।[1]

यहाँ नवच्छायं से नौ प्रकार के रसों का श्लेष के द्वारा उल्लेख किया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नये वृक्ष का सर्व - सामान्य को मिलने वाला सुख उसकी घनी छाया होती है, उसी प्रकार

1- य० च० 3/274

काव्यगत रसों का सुख सभी सामाजिकों को सहज उपलब्ध होता है । किन्तु संस्कृत के ही आरम्भकालीन कवियों एवं काव्यशास्त्रियों की कृतियों में रसों की कुल संख्या नौ के स्थान पर आठ का ही उल्लेख प्राप्त होता है । कवि - कुलगुरू कालिदास ने नाट्य को अष्टरसाश्रय कहा है -

मुनिना भरतेन य: प्रयाणो भवतीस्वष्टरसाश्रयो नियुक्त: ।[1]

आचार्य दण्डी ने कवि की वाणी को 'अष्टरसायत्ता' का विशेषण दिया है । संस्कृत साहित्यशास्त्र सभी इतिहासकार इस तथ्य को एकमत से स्वीकार करते हैं कि अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर रस का सैद्धान्तिक विवेचन करने वाला आद्य-ग्रन्थ 'भरत-नाट्यशास्त्र' है । नाट्यशास्त्र का षष्ठ अध्याय विशुद्ध रूप से रसपरक है ।

शृंगारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानका: ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञो वेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: ।।
एते ह्यष्टौ रसा: प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।।[2]

द्रुहिण अर्थात् ब्रह्मा ने जिस नाट्यवेद की रचना की और भरत को जिसका उपदेश दिया उनमें शृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत नामक आठ रसों का ही विधान था । अध्याय के अन्त में रसविषयक विवेचन का समापन करते हुए रसों की आठ संख्या का पुनरूल्लेख इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार रसों की कुल संख्या आठ ही है जिनका सलक्षणोदाहरण निरूपण नाट्यशास्त्र में हुआ है -

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिता: ।[3]

1- वि0 प0 1/18

2- ना0 शा0 6/15-16

3- ना0 शा0 6/83

किन्तु नाट्यशास्त्र के इसी षष्ठ अध्याय में नवम शान्त रस का निरूपण भी उपलब्ध होता है, जिसे मोक्ष का प्रवर्तक कहा गया है । इस अंश का निरूपण भीअन्य रसों के निरूपण के समान पहले गद्यात्मक अनन्तर कारिकाओं में किया गया है । बड़ौदा संस्करण में इन श्लोकों की कोई संख्या नहीं दी गई है तथा अन्तिम श्लोक में कहा है -

एव नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विता: ।[1]

इतना ही नहीं इसी सन्दर्भ में शान्त को सभी भावों एवं रसों की मूल प्रकृति होने का विधान भी किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के भाव शान्त के ही विकार है तथा शान्त ही उनकी मूल प्रकृति है ।

भावा विकारा रत्याद्या: शान्तस्तु प्रकृतिर्मत: ।[2]

नाट्यशास्त्र में रसों की संख्या - विषयक मतभेद इन दोनों अंशों से प्रकट होता है , अत: शान्त रस परक अंश निश्चित रूप से मौलिक नहीं कहा जा सकता । सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र किसी एक व्यक्ति द्वारा कृत किसी एक काल की रचना नहीं है, तथापि इसके अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त करने की निम्नतम काल सीमा तृतीय शताब्दी ई0 मानी गई है, पर शान्त रस उक्त - विवेचन के उस सीमा के भीतर का स्वीकार करने में अनेक विप्रतिपत्ति उठ खड़ी होती है । इसके अतिरिक्त जहाँ आठ रसों के विधान के साथ ब्रह्मा का नाम जुड़ा हुआ है वहाँ नव रसों के विधान को नाट्यज्ञों के द्वारा दृष्ट मानना स्वयं इस बात का द्योतक है कि नवम रस की कल्पना बहुत बाद की है जो नाट्य शास्त्र की मूलप्रकृति से मेल नहीं खाती । किन्तु इस अंश को नाट्यशास्त्र से सर्वथा

1- ना0 शा0 पृ0 335

2- ना0 शा0 पृ0 338

असम्पृक्त एवं विशुद्ध रूप से प्रक्षिप्त मानने में भी हमारे समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं । जिनमें से एक कठिनाई यह है कि इस अंश पर अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनवभारती' उसी प्रकार से विस्तृत रूप से उपलब्ध होती है जैसे शेष भाग पर । इतना ही नहीं 'अभिनवगुप्त' ने अपनी टीका में 'शान्त' के भी रस होने की बात बड़े ही वैदुष्यपूर्ण ढंग से किया है । अभिनवगुप्त ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से शान्त रस के विरोधियों के तर्कों का निरसन करते हुए साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दिया । इसका मुख्य कारण यह है कि शान्त-रस की स्थापना से रस-सिद्धान्त की आध्यात्मिक व्याख्या करने में अभिनवगुप्त को सरलता हुई । अतएव उन्हें वीर एवं वीभत्स रसों में शान्त के अन्तर्भाव की बात कथमपि ग्राह्य नहीं हुई ।

आचार्य भामह के अवबेचनों में सभी रसों के नाम या उनकी कुल संख्या का उल्लेख कथमपि नहीं किया गया है । वे शृंगारादि रस कहकर ही रह जाते हैं । भरत के नाट्यशास्त्र में उपलभ्यमान शान्त रस के विवेचन के प्रक्षेप का काल निश्चित रूप से भामह एवं दण्डी के बाद का है । नाट्यशास्त्र में शान्त-रस के प्रक्षेप का काल भट्टोद्भट के बाद का ही है, जिसका संकेत रूद्रटकृत काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु ने -

भरतेन - - - - - - - - - - अष्टौ वा नव वा रसा उक्ताः की उक्ति से किया है ।[1]

आचार्य दण्डी ने अपनी महनीय कृति 'काव्यादर्श' में भरत प्रोक्त रति आदि आठों स्थायी भावों के रस रूप में परिणत होने का अलग-अलग

1- का० ल० पृ० - 366

उल्लेख किया है । अन्त में काव्य में रस की स्थिति को आठ रसों से युक्त कहकर इन्होंने भट्टोद्भट से लेकर अभिनवगुप्त तक के आचार्यों द्वारा निरूपित नवम शान्त रस की सत्ता से सर्वथा अपरिचित होने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है -

इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।[1]

रूद्रट ने अपनी कृति 'काव्यालंकार' में भरतप्रोक्त आठ रसों के अतिरिक्त शान्त और प्रेयान नामक दो और रसों के होने का विधान किया है ।

शृंगारवीरकरूणा वीभत्सभयानकाद्भुता हास्य: ।
रौद्र: शान्त: प्रेयानिति मन्तव्या रसा: सर्वे ।।[2]

इनके अनुसार शान्त तो रस है ही प्रेयान् को भी रस का स्थान प्राप्त है, और इस प्रकार रसों की कुल संख्या दस हो जाती है । रूद्रट का तर्क यह है कि आचार्यों ने शृंगार आदि को रस इसलिए कहा है कि उनमें रसनीयता अर्थात् अनुभव में आने की योग्यता है । चूंकि यह योग्यता निर्वेद और स्नेह आदि भावों में भी पायी जाती है, अत: शान्त और प्रेयान के भी रस होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए -

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यै: ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसा: ।।[3]

1- का०द० 2/292

2- का० ल० 12/3

3- का० ल० 12/4

रूद्रट के टीकाकार नमिसाधु का तो यहाँ तक कहना है कि चित्त की कोई भी वृत्ति ऐसी नहीं है जो परिपोषित होकर रस के रूप में परिणत न हो जाये । उनका तर्क है कि भरत ने रसों की जो आठ या नौ संख्या कही है, उनका भी आधार सहृदयों के हृदय के आवर्जन में प्रचुरता का होना ही है ।

आचार्य उद्भट ने भी रसवत् आदि अलंकारों के निरूपण के प्रसंग में रसों के नाम तथा उनकी संख्या का परिगणन करते हुए नाट्य में भी शान्त सहित नौ रसों के होने का विधान किया है -

श्रृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानका: ।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता: ।

यहाँ शान्त को रसों में परिगणित करके रसों की संख्या नौ मानी गई है । उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने जो अभिनवगुप्त के साहित्यिक गुरू भी थे'काव्यालंकारसारसंग्रह' की उपर्युक्त कारिका की टीका करते हुए कहा है कि श्रृंगारादि ये नौ रस धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरूषार्थचतुष्टय की प्राप्ति के उपाय के रूप में ही काव्य में उपनिबद्ध होते हैं ।

उद्भट के समसामयिक आचार्य वामन ने'कान्ति' नामक गुण में ही रसों का समावेश माना है । किन्तु वामन के ग्रन्थ की प्रसिद्ध टीका कामधेनु ने शान्त सहित सभी नौ रसों को अपनी टीका में उदाहृत किया है ।

आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा'ध्वनि सिद्धान्त' की प्रस्थापना से काव्य के आधायक दोष, गुण, अलंकार, रीति एवं रस प्रभृति तत्वों के स्वरूप

1- का० सा० 4/4

में पर्याप्त निखार आया । आनन्दवर्धन ने किसी भी तत्व का ग्रहण या तिरस्कार किसी भी मान्यता के अनुसार न करते हुए युक्ति एवं तर्क के आधार पर किया है । इन्होंने रसों के रसत्व प्राप्ति का आधार सहृदय सामाजिक के चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं उसके विकास को बताया । शृंगार एवं करूण रसों में चित्त की द्रुति पाई जाती है तथा रौद्र आदि चित्त की दीप्ति से परिलक्षित किये जाते हैं । अतः उनके अनुसार जो भाव काव्य में निरूपित होकर सहृदय सामाजिक के चित्त की द्रुति, दीप्ति या उसके विकास में समर्थ हो जाते हैं वे सभी रस कहे जाने योग्य है ।

भौतिक सुखों के भोगने की तृष्णा के क्षय से होने वाला जो सुख है, उसी का परिपोष शान्त रस के रूप में होता है । जिसकी अनुभूति यद्यपि सभी सहृदयों को समान रूप में नहीं हो पाती तथापि जिनको होती है, उनमें शान्त रस की स्थिति स्वीकार करनी ही होगी । वीर-रस में शान्त - रस के अन्तर्भाव की बात का आनन्दवर्धन ने यह कहकर के निराकरण किया कि दोनों रसों में चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं । जहाँ वीर में अहंकार का प्रकर्ष एवं चित्त का विकास होता है, वहाँ शान्त में अहंकार का प्रशय एवं चित्त की द्रुति । महाभारत को शान्त-रस प्रधान बनाना भी रसों की कुल संख्या के 'नौ' होने के पक्ष की ही प्रकारान्तर से पुष्टि करना है ।

आनन्दवर्धन के परवर्ती पर अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती आचार्य धनन्जय ने स्थायी भावों का परिगमन करते हुए शम के भी स्थायी भाव होने का प्रश्न उठाया है और यह कहकर निषेध किया है कि नाट्य में इसकी पुष्टि नहीं हो पाती -

रत्युत्साहजुगुप्सा: क्रोधो हास: स्मयो भयं शोक: ।
शममपि केचित्प्राहु: पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।।[1]

1- दश0 4/35

धनन्जय का तर्क है कि निर्वेद आदि चित्त के वे भाव हैं, जो क्षणिक होते हैं, अतः उनमें स्थायी भाव होने की क्षमता नहीं है । फिर वे रस के रूप में सामाजिक की वासना का विषय किस प्रकार हो सकते हैं । इनके परिपोष से नाट्य में विरसता की आशंका होती है, अतः इनको स्थायी भाव नहीं मानना चाहिए । फलतः स्थायी भावों की कुल संख्या आठ ही समुचित है -

> निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
> वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।।[1]

भरत के नाट्यशास्त्र में भी शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा वीभत्स से भयानक को उत्पन्न करते हुए शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स नामक चार रसों के ही मौलिक होने का विधान हुआ है -

> तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा शृंगारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति । अत्र -
>
> शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
> वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ।।[2]

संस्कृत साहित्य - शास्त्र के इतिहास में मम्मट की कृति 'काव्य - प्रकाश' को पूर्वोत्तरवर्ती सभी कृतियों में सर्वातिशायि होने का गौरव प्राप्त है । किसी नये सिद्धान्त के उद्भावक न होने पर भी मम्मट का आचार्यत्व इसलिए अद्वितीय माना जाता है कि इन्होंने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों और सिद्धान्तों का जो प्रामाणिक विवेचन अपने ग्रन्थ में कर दिया वह अन्यत्र

1- दश० 4/36

2- ना० शा० 6/39

दुर्लभ है । आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ उल्लास के आरम्भ में ही रसों के नाम का परिगणन करते हुए नाट्य में इनकी संख्या आठ होने का निर्धारण भी किया है -

शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका: ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: ।।[1]

काव्य प्रकाश के टीकाकारों ने कारिका में प्रयुक्त 'अष्टौ' पद की व्याख्या अनेक प्रकार से की है । यहाँ 'अष्टौ' का अवधारणात्मक पद मानकर उसका अर्थ 'अष्टौएव' अर्थात केवल आठ ही किया है । यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'अष्टौ' और 'नाट्ये' पदों को कुछ टीकाकार उपलक्षण मात्र मानते हैं । अत: स्वयं ग्रन्थकार ने शान्त को नवम् रस के रूप में स्वीकार किया है । जिनका स्थायी भाव निर्वेद माना है ।

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस: ।[2]

भटोद्भट, रूद्रट, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने शान्त के भी रस होने का विधान एवं समर्थन किया । जिनके पक्ष एवं विपक्ष में धनन्जय एवं भोज प्रभृति आचार्यों ने अपने मत व्यक्त किये । आचार्य मम्मट ने सभी पक्षों का सम्यक् रूप से अवगाहन कर अपनी स्पष्ट व्याख्या ही की कि नाट्य में आठ ही रस सम्भावित है, पर श्रव्यकाव्य में उन आठों के अतिरिक्त नवम् 'शान्त' के भी रस के रूप में निरूपित होने की बात प्रमाण पुष्ट ही है, जिनका निराकरण नहीं किया जा सकता ।

1- का० प्र० 4/29

2- का० प्र० 4/35

मम्मट की उपर्युक्त उक्ति का साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में स्वागत तो हुआ, विरोध भी हुआ । संगीतरत्नाकरकार शार्ङ्गदेव ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि नाट्य में आठ ही रसों के होने की जो व्यवस्था दी गई है, वह समुचित न होने से ग्राह्य नहीं है । उनका अभिप्राय यह है कि नवम् रस 'शान्त' को यह कहकर वहिर्भूत रखा जाता है कि उसके स्थायी भाव निर्वेद तथा उसके विभावादि का अभिनय संभव नहीं । किन्तु यह उक्ति तभी सटीक होती है जब अभिनेता को भी रस का आस्वाद होता, वह तो वस्तुतः उन भावों से अभिभूत हुए बिना ही उनका अभिनयात्मक प्रदर्शन करता है ।

अष्टावेवरसा नाट्येष्विति केचिदचूदन् ।
तदचारु यतः किंचिन्न रसं स्वदते नटः ।।[1]

रसों की संख्या के विषय में रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ के कुछ विलक्षण तथ्य प्रकाश में आते हैं । उन्होंने शान्त को भी रस स्वीकार करते हुए नौ रसों के सिद्धान्त में ही अपनी आस्था व्यक्त की है । भक्ति को रस न स्वीकार करते हुए रसों की नौ संख्या के सिद्धान्त को वे केवल परम्परा का पालन मात्र मानते हैं ।

'रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्यते इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः ।[2]

1- स० र० 7/137

2- र० ग० प्रथम आनन, पृ० 176

नाट्यशास्त्र में विवेचित रस उसके वर्ण एवं देवता

रस	स्थायी	वर्ण	देवता
शृंगार	रति	श्याम	कामदेव
हास्य	हास	श्वेत	प्रमथ
करुण	शोक	कपोत	यम
रौद्र	क्रोध	रक्त	रुद्र
वीर	उत्साह	गौर	महेन्द्र
भयानक	भय	काला	काल
बीभत्स	जुगुप्सा	नील	महाकाल
अद्भुत	विस्मय	पीत	ब्रह्मा
शान्त	निर्वेद	स्वच्छ	बुद्ध

श्रृंगार रस - भरत आदि आचार्यों ने श्रृंगार रस की प्रथम गणना की है, कारण यह है कि इसकी तीव्रता और प्रभावशीलता सभी रसों से बढ़ कर है। दूसरी बात यह है कि कामविकास सर्वजाति-सुलभ हृदयाकर्षक तथा अत्यन्त स्वाभाविक है। इस रस के प्रभाव से महामुनियों के मन भी चंचल हो गये, उनका आसन डगमगा गया।

भरत मुनि श्रृंगार को रति स्थायी भाव से उद्भुत मानते हैं और उसका वर्ण उज्जवल बताते हैं। श्रृंगार ही विश्व के समस्त शुचि, मेध्य, उज्जवल और दर्शनीय पदार्थों का उपमान हो सकता है। उज्जवल वेष व्यक्ति श्रृंगार - वान कहा जा सकता है। जिस प्रकार पुरुषों के नाम गोत्र और कुल के आचार से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार रसों, भावों और नाट्याश्रित पदार्थों के नाम भी आचारोत्पन्न और आप्तोपदेश सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप श्रृंगार रस भी हृद्य और उज्जवलवेषात्मक होने के कारण गुर्वाचारसिद्ध है। यह उन स्त्री पुरुषों के माध्यम से पैदा होता है जो उत्तम प्रकृति के होते हैं, अतः यह स्वयं प्रकृत्या उत्तम रहता है -

तत्र श्रृंगारो नाम रति - स्थायिभावप्रभवः। उज्जवलवेषात्मकः। यत्किंचि - ल्लोके शुचिमेध्यमुज्जवलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते। यस्तावदुज्जवलवेषः स श्रृंगारवानित्युच्यते।[1]

इसका वर्ण श्याम है और देवता विष्णु हैं। श्यामो भवति श्रृंगारः। श्रृंगारो विष्णुदेवत्यः।[2]

1- ना० शा० पृ० 95-96

2- ना० शा० 6/42 - 44

भरत ने सामान्याभिनय के प्रसंग में जहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के मूल में स्थित काम का उल्लेख मिलता है । काम को यहाँ भरत ने व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ काम के अतिरिक्त है ही क्या ? भरत समस्त भावों की निष्पत्ति काम से ही मानते हैं । काम इच्छागुण सम्पन्न होकर नाना रूप धारण करता है ।

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते ।
सवेच्छा - सगुणसम्पन्नो वहुधा परिकीर्तितः ।।[1]

वृहदारण्यक काम को पुरुषमय मानता है ।

काम एवायं पुरुषः ।[2]

मनु पुरुष के कार्य-कलाप को काम की ही चेष्टा बताते हैं ।

यत्यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ।
अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नहिं कुत्रचित् ।।[3]

शृंग प्राधान्यम्[4] इयर्ति इति शृंगारः । शृंग कर्म उपपद रहते ऋगतौ धातु से 'कर्मण्यण' सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ फिर वृद्धि के अनन्तर शृंगार शब्द की निष्पत्ति हुई । शृंग अर्थात कूट -

शृंगं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके । विषाणोत्कर्षयोः - - - - - -[5]

1- ना० शा० 22/95
2- वृ० 4/4/5
3- म० 2/4
4- शृंग प्रधान्य-सान्वोश्च - अमरकोष नानार्थ वर्ग 26

भावना के उच्चशिखर पर पहुँचाने वाला रस शृंगार कहलाता है । नाट्यशास्त्र में इसी शृंगार को गुर्वचिर सिद्ध, उज्जवलवेषात्मक, शुचि और मेध्य कहा है ।

शृंगार रस स्त्री पुरुष भावमूलक तथा युवा प्रकृति से सम्बद्ध है ।

स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृत्तिः ।[1]

आचार्य रुद्रट परस्परानुरक्त स्त्री पुरुषों की कामानुविद्धा रति को लेकर प्रचलित व्यवहार को शृंगार मानते हैं -

व्यवहारः पुन्नार्योरन्योन्यंरक्तयो रतिप्रकृतिः ।
शृंगारः स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ।।[2]

शृंगार को सभी रसों की अपेक्षा प्रधान बताते हैं, क्यों कि उसकी सी रस्यता अन्य रसों में नहीं मिलती और वह आबालवृद्ध समस्त जगत् में व्याप्त दीखता है । उसका प्रयत्नपूर्वक काव्य में समायोजन जरूरी है, क्यों कि उससे हीन काव्य विरस - विगतरस हो जाता है ।

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः,
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम् ।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नात्,
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम् ।।[3]

1- ना० शा० 6 अध्याय पृ० 309

2- का० ल० 12/5

3- का० ल० 14/38

इस शृंगार रस के दो अधिष्ठान अर्थात अवस्थायें होती है, एक सम्भोग, दूसरी विप्रलम्भ ।

तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।[1]

उसमें सम्भोग ऋतु, माला, अनुलेपन अलंकार, इष्टजन विषय तथा सुन्दर भवन आदि का उपभोग, उपवन, गमन, अनुभवन, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा तथा लीला आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है ।

विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशंकासूया श्रमचिन्तौत्सुम्य निद्रा ।
स्वप्न विबोध व्याध्युन्मादापस्मार जाड्यमरणादिभिरनुभावै -
रभिनेतव्यः ।।[2]

विप्रलम्भ शृंगार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुम्य, निद्रा, स्वपन, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

सुखप्रायेषु सम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः ।
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृंगार इति संज्ञितः ।।[3]

सुखप्राय, प्रिय वस्तुओं से सम्पन्न, ऋतु तथा माल्यादि का सेवन करने वाले स्त्री - पुरुष से युक्त शृंगार रस कहा जाता है ।

पुरुष शब्द से अनुभव करने वाले का अर्थ भोक्ता रूप में लेना चाहिए । संविदना के स्तर पर भोक्ता ही स्थायी - भाव का संवित् रूप है

1- नाO शाO 6 अध्याय पृO 302 - 303

2- नाO शाO 6 अध्याय पृO 305

3- नाO शाO 6/47 पृO 313

अर्थात वही स्थायी का अनुभावन करता है । उपनिषद पुरुष को आत्मय कहते हैं, इसी प्रकार यहाँ पुरुष रति रूप और स्त्री रति रूपिणी कही गयी है । फिर पुरुष में भोक्तृत्व की प्रधानता मानी गयी है और स्त्री को भोग्य कहा गया है । प्रधानता के कारण वह भोग्य के अधीन नहीं होता इसी दृष्टि से नायक के साथ अन्य नायिकाओं के साथ सम्बन्ध होने पर भी शृंगार रस की हानि नहीं मानी जाती । इसके विपरीत भोग्य रूप नायिका परतन्त्र मानी गई है और यदि उसका सम्बन्ध अन्य पुरुष से होगा, तो शृंगार की हानि होती है ।

> ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
> उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति ।।
> नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
> मधुरैश्चांगविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ।।[1]

ऋतु, माल्य, अलंकार, प्रियजन, गान्धर्व, काव्यानुशीलन, उपवन, गमन तथा विहार आदि से शृंगार रस समुद्भूत होता है । नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता से, स्मित तथा मधुर वचनों से, धृति तथा प्रमोद से और अंगों के मधुर संचालन के द्वारा उस शृंगार रस का अभिनय करना चाहिए ।

तस्य नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसंचारललितमधुरांगहारवाक्यादिभिरनु - भावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[2]

सम्भोग का अभिनय नयनों के चातुर्य से, भौहों के चालन तथा कटाक्ष के संचार से, ललित तथा मधुर अंगहारों से तथा कोमल और मधुर वाक्यों के प्रयोग आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

1- ना० शा० आर्या 6/48-49, पृ० 315

2- ना० शा० पृ० 304

व्यभिचारिणश्चास्यलस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः ।[1]

शृंगार के व्यभिचारी भाव आलस्य, औग्र्य {उग्रता} और जुगुप्सा को छोड़ शेष होते हैं ।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैर्निद्रा व्याजमुपाग - तस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।[2]

इसमें प्रथम काम विकार से युक्त मुग्धा नायिका द्वारा आरब्ध सम्भोग शृंगार का वर्णन किया गया है क्योंकि साहित्य शास्त्र के अनुसार पहिले नारी के अनुराग का वर्णन उचित है । यहाँ पर नायक आलम्बन है, शून्यगृह, नायक - निद्रादि उद्दीपन है, मुख दर्शन, चुम्बनादि अनुभाव है । लज्जाहास, परिहासादि व्यभिचारी भाव है । रति स्थायी भाव है ।

अथ विप्रलम्भनामाशृंगारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
प्रथमानुरागमानप्रवास करुणात्मकत्वेन ।।[3]

पूर्वानुराग - दर्शन आदि मात्र से अंकुरित सघन प्रेम वाले नायक और नायिका की संसर्ग न होने के कारण जो चेष्टा होती है उसे प्रथम विप्रलम्भ मानना चाहिए ।

आलोकनादि मात्रप्ररूढ़ानुरागयोरसंप्राप्तौ ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति ।।[4]

1- ना० शा० पृ० 305
2- अ० श० श्लोक सं० 82
3- का० ल० 14/1, पृ० 394
4- का० ल० 14/2, पृ० 395

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदयास्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।[1]

जहाँ पर दो व्यक्तियों का पारस्परिक प्रेम होते हुए भी उनके मिलन का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, उसे पूर्वराग कहते हैं ।

मान :- किसी दूसरी नायिका के संपर्क से उत्पन्न नायक में दोष को लक्ष्य कर ईर्ष्यावश नायिका जिस विकार को प्राप्त होती है उसे मान कहते हैं।

मानः स नायके यं विकारमायाति नायिकासेर्ष्या ।
उद्दिश्य नायिकान्तरसंबन्धसमुद्भवं दोषम् ।।[2]

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना ।
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।।[3]

इस पद्य में कोई सखी किसी नवोढ़ा के दुःख का वर्णन कर रही है । यहाँ पति आलम्बन है, अपराध उद्दीपन है, रोदन आदि अनुभाव है, उसमें ईर्ष्या, असूया व्यभिचारी भाव है तथा रति स्थायी भाव है ।

प्रवास :- ऋतु के अनुरूप अवस्था वाले नायक विदेश जायेगा, जा रहा है, जा चुका है, घर आयेगा, आ रहा है, आ चुका है - इस प्रकार जहाँ अवस्था होती है वहाँ प्रवास विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं ।

यास्यति याति गतो यत्परदेशं नायकः प्रवासो सौ ।
एष्यत्येत्यायातो यथर्त्ववस्थो न्यथा व गृहान ।।

1- मा0 मा0 पंचम अंक

2- का0 ला0 14/15, पृ0 398

3- अ0 श0 श्लोक सं0 29 [अमरुकशतक]

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।[1]

प्रस्थान आदि प्रवास हेतुक विप्रलम्भ का उदाहरण है । गुरुजनों के आदेश आदि से पति के परदेश जाते समय कोई नायिका अपने प्राणों को उलाहना दे रही है । यहाँ पर प्रियतम आलम्बन है, उसका प्रस्थानादि उद्दीपन है, हाथों की कृशता आदि अनुभाव है और कृशता द्वारा व्यंग्य चिन्ता व्यभिचारी भाव है, रति स्थायी भाव है ।

<u>करुण</u> :- जहाँ नायक नायिका में से एक मर जाता है अथवा मृतकल्प हो जाता है और दूसरा उसके लिए विलाप करता है वहाँ करुण विप्रलम्भ शृंगार होता है ।

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गतं प्रलपेत् ।।[2]

'कादम्बरी' में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त । यदि फिर मिलने की आशा टूट जाय अथवा जन्मान्तर में मिलने की आशा हो तब तो करुण-रस ही होता है । परन्तु जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से फिर मिलने की आशा हो तो करुण विप्रलम्भ शृंगार होता है ।

<u>वीर - रस</u> :-

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः ।[3]

भरत के अनुसार उत्तमप्रकृति वाला तथा उत्साह स्थायी भावात्मक रस वीर नाम से जाना जाता है । उत्साह को वह उत्तम लोगों की

1- अ० श० श्लोक सं० 35
2- का० 14/34, पृ० 403
3- ना० शा० पृ० 336

प्रकृति कहते हैं । यह उत्साह ही वीर रस का स्थायी भाव होता है । असंमोह, अध्यवसाय, नय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप और प्रभाव इसके विभाव हैं । स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग तथा विशारदता यह वीर के अनुभाव तथा कार्य है । धृति, मति, गर्व, आवेग यथवासर, उग्रता, अमर्ष, स्मृति तथा रोमांच ये वीर के सहकारी या व्यभिचारी भाव हैं ।

उत्साहात्मा वीरः स त्रेधा युद्ध धर्मदानेषु ।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायकः ख्यातः ।।[1]

वीर का उत्साह स्थायी भाव है । युद्ध, धर्म और दान तीन विषयों में यह तीन प्रकार का होता है । उसमें इतिहास प्रसिद्ध अक्षुब्ध नायक होता है ।

स वासंमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रम शक्तिप्रतापप्रभावादिभि - र्विभावैरुत्पद्यते ।[2]

असम्मोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप तथा प्रभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

रौद्र के समान युद्ध वीर में भी संग्राम तथा आक्रमण आदि होता है । अभिनव के अनुसार उत्साह उत्तम जनों का स्वभाव है, इस कारण उत्साह स्थायी भाव वाला वीर रस उत्तम प्रकृति वाला कहा गया है । इसके अतिरिक्त काव्य तथा नायक में उत्तम प्रकृति वाले नायकों से उत्पन्न होता है अर्थात वे उसके कारण रूप प्रकृति है, इसलिए भी उसे ऐसा कहा गया है । उत्तम वर्ग के पुरुषों का उत्साह सदा आस्वाद्य होता है ।

1- का० ल० 15/2, पृ० 406

2- नाशा० पृ० 336

तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य: । भावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमांचादय ।[1]

वीर रस का अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग तथा कुशलता आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए । धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता अमर्ष स्मृति तथा रोमांच आदि इसके भाव हैं ।

उत्तमप्रकृतिवीर्र उत्साहस्थायिभावक: ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृत: ।।[2]

इसमें जीतने योग्य राक्षादि आलम्बन विभाव होते हैं और उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते हैं । युद्ध के सहायक (धनुष आदि द्वारा सैन्य आदि का अन्वेषणादि इसका अनुभाव है । धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, रोमांचादि इसके संचारी भाव है ।

कार्य करने में (आनन्दपूर्ण) स्थिर उद्योग का नाम उत्साह है -

कार्यारम्भेषु संरम्भ: स्थेयानुत्साह उच्यते ।

<u>उदाहरण</u> -

क्षुद्रा: सन्त्रासमेते विजहत हरय: क्षुण्णशक्रेभकुम्भा ।
- - - - - - - - - - - - - - - - - - [3]

यह वीर रस का उदाहरण है । यह मेघनाद आदि की वानरों आदि के प्रति उक्ति है । दान, धर्म, दया और युद्ध के कारण यह चार प्रकार का होता है ।

1- ना० शा० पृ० 336

2- सा० द० पृ० 117-118

3- हनुमन्नाटक

दानवीर :-

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः इति ।[1]

यहाँ पर त्याग में परशुराम का उत्साह स्थायी भाव है ।

धर्मवीर:-

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये ।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम् ।।[2]

यह युधिष्ठर की उक्ति है - राज्य, धन, शरीर, स्त्री, भाई, पुत्र आदि जो कुछ भी मेरे अधीन है, वह सब धर्म के लिए सदा उपस्थित है ।

युद्धवीर :-

भो लंकेश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते इति ।[3]

यह युद्धवीर का उदाहरण है, इसका तात्पर्य यह है कि यदि कुशल चाहते हो तो सीता दे दो, अन्यथा इन सबका धुआँ उड़ जायेगा ।

दयावीर :-

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्किं भक्षणात्वं विरतो गरुत्मन ।।[4]

सर्पों की वध्यशिला पर दयावश शंखचूड़ के बदले बैठे हुए जीमूतवाहन को एकान्त में ले जाकर बहुत कुछ अंग नोच-नोच कर खा लेने पर भी उनके

1- सा० द० पृ० 118

2- सा० द० पृ० 118

3- सा० द० पृ० 118

4- नागा० 5/16

अकिकृत सौन्दर्य, आनन्दनिमग्न मन और प्रफुल्ल वदन को देखकर चकित हुए गरूड़ जी एक ओर हटकर विस्मयभरी दृष्टि से उनकी ओर देखने लगे । तब उन्होंने यह पद्य कहा।-

<u>करूण-रस</u> :-

अथ करूणो नाम शोकस्थायिभावप्रभव: ।[1]

स्थायिभावप्रभव: का पाठ स्थायिभावात्मक करूण-रस सम्बन्धी स्थापना को बिल्कुल भिन्न स्तर पर ले जाता है । श्रृंगार तथा करूण के स्थायिभाव सजातीय भावों को उत्पन्न नहीं करते, वरन विजातीय भाव {सुख-दु:ख} उत्पन्न करते हैं, अत: इन्हें स्थायिभावप्रभव कहा गया है । अभिनव ने शाप का अर्थ जिनका प्रतीकार सम्भव न हो ऐसे हेतुओं से लिया है । यहाँ शाप द्वारा क्लेश में पड़कर प्रियजनों के वियोग का सहन करूण के अन्तर्गत माना गया है, जब कि साधारण वियोग श्रृंगार के विप्रलम्भ पक्ष में स्वीकृत है ।

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वपि ।
एभिर्भावविशेषै: करूणरसो नाम संभवति ।
सस्वनरूदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलापितैश्च
अभिनेय: करूण रसो देहायासभिघातैश्च ।[2]

ये आर्याएँ भरत ने अपने कथन की पुष्टि के लिए प्राचीनों के मत के रूप में प्रस्तुत की हैं । इनसे भी यह स्पष्ट होता है कि रस सम्बन्धी चर्चा का मुख्य क्षेत्र भरत के समय तक नाट्य या काव्य नही । इस दृष्टि की

1- ना० शा० पृ० 324

2- ना० शा० 6/63-64, पृ० 326

प्रधानता के कारण ही यहाँ इष्ट जन के वध को देखने अर्थात रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने का निर्देश है । साथ ही यदि पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से इस प्रकार की वध अथवा बन्धन आदि की सूचना मिले तो वह भी करुण के विभाव के रूप में स्वीकृत है । यहाँ सुनना भी अभिनय की दृष्टि से कहा गया है ।

जहाँ इष्ट विनाशरूप आलम्बन-विभाव, आशा समाप्तिरूप उद्दीपन विभाव, अश्रुपात अनुभाव और जड़तादि व्यभिचारी भाव के द्वारा शोक स्थायि भाव पुष्ट हो, उसे करुण रस कहते हैं ।

करुणात्मक विप्रलम्भ शृंगार में भी करुण रस के समान रोदन, विलाप इत्यादि होता है, अतः विप्रलम्भ का अन्तर्भाव करुण रस में होना चाहिए । करुण में शोक कारण होता है और विप्रलम्भ में शोक का अभाव होता है, अतः विप्रलम्भ शृंगार का अन्तर्भाव करुणरस में सम्भव नहीं है ।

करुणः शोकप्रकृतिः शोकश्च भवेद्विपत्तितः प्राप्तेः ।
इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहतो नायकस्तत्र ।।
अविच्छिन्ननयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदाः ।
क्षितिवेष्टनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेतिकरुणे स्युः ।।[1]

शोक स्थायी भाव है करुण का । वह इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से होता है । उसमें नायक भाग्य से हत विकृत होता है । अनवरत अश्रुधारा, प्रलाप, विवर्णता, मोह, निर्वेद, धरती पर छटपटाना, विलाप करना, भाग्य को कोसना आदि करुण के अनुभाव है ।

1- का० ल० 15/3-4, पृ० 407

स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोग विभवनाशवधबन्ध विद्रवोपघातव्यसन - संयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते ।
तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्वास स्मृतिलोपादिभिरनु - भावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[1]

शाप के क्लेश में पड़े हुए प्रिय जन के वियोग, वैभव के नाश, वध, वन्धन, पलायन, उपघात तथा व्यसन में पड़ जाने से आने वाले आकस्मिक संकट आदि विभावों से विशेष रूप से उत्पन्न होता है, उसका अभिनय अश्रुपात विलाप करने, मुख सूख जाने, मुख के रंग उड़ जाने, अंगों की शिथिलता उच्छ्वास लेने, स्मृति के विलोप आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

भरत के इस कथन को कि विभावों के द्वारा इस रस का अभिनय करना चाहिए के सम्बन्ध में अभिनव ने प्रश्न उठाया है कि इस रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए रस की स्थिति स्वतन्त्र है और उसका अभिनय किया जाता है । इसको इसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि जिसका करूण रस रूप में आस्वादन होता है, उसका विभावों के द्वारा अभिनय किया जाता है । अर्थात् इन विभावों के द्वारा अभिनय किये जाने पर जिसका आस्वादन होता है वह करूण रस नाम से जाना जाता है ।

व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्य - व्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भ वेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः ।[2]

इसके व्यभिचारी भावों में निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद,

---

1- ना० शा० पृ० 324

2- ना० शा० पृ० 324

अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद आदि होते हैं ।

भवभूति एक करुण रस को ही मानते हैं, अन्य रस पानी के बुलबुले जैसे हैं । जल जैसा करुण ही सबका मूल है । कारण यह है कि करुण का संवेदन बड़ा तीव्र होता है और उसकी मात्रा सुख की अपेक्षा अधिक होती है । एक दिन का दुःख सौ दिनों के सुख पर पानी फेर देता है ।

क्रौंची वियोग कातर क्रौंच की वेदना से कवि के चित्त में वेदना का संचार हुआ । इसी वेदना से उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोकरूप में प्रकट हुआ और अन्त में महाकाव्य का आकार धारण कर लिया । इसी से रामायण करुण रस पूर्ण है और उसका परिपाक अन्त तक सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त उसका निर्वाह किया गया है ।

रामायणे हि करुणो रसः स्वयं आदिकविना सूत्रितः । शोकः श्लोकत्वमागतः इत्येववादिना । निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपन्य - स्यता । [1]

आचार्य विश्वनाथ ने करुण रस की परिभाषा दी है कि इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस आविर्भूत होता है । यह कपोतवर्ण होता है । इसके देवता यमराज है ।

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ।।[2]

1- ध्व0 पृ0 368

2- सा0 द0 116

महाकवि भवभूति के अनुसार करुणरस ही एकमात्र रस है -

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुदबुदतरंगमयान् विकारानम्भो यथा विवर्तान् सलिलमेव तु तत्समस्तम् ।।[1]

राम बनवास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की की हुई दैवनिन्दा है -

विपिने जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ।।[2]

रौद्र-रस :- किसी अन्याय के प्रति क्रोध स्वभाविक होता है । अन्याय करने वाले के प्रति सामान्यतः लोगों के मन में उग्र भाव रहता है और प्रतिकार की भावना से आततायी के रुधिर पान तक कि कल्पना मन में उठती है ।

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्य प्रकृति सग्राम हेतुकः ।[3]

राक्षस, दानव तथा उद्धत मनुष्यों की प्रकृति वाला संग्राम हेतुक क्रोध स्थायी भावात्मक क्रोध रस होता है । अर्थात् ये इसके आलम्वन है ।

स च क्रोधाघर्षणाधिक्षेपानृतवचनोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावै - र पद्यते ।[4]

क्रोध दूसरों के द्वारा उत्पन्न होता है । क्रोध आघर्षण, अधिक्षेप मात्सर्य इत्यादि विभाव होते हैं । सामान्यतः आघर्षण का अर्थ है दोष या

1- उ० र० च० 3/47

2- म० स्तो० प० से उद्धृत

3- ना० शा० 6 अध्याय , पृ० 327

4- ना० शा० 6 अध्याय पृ० 327

अपराध का आरोप है । परन्तु अभिनव ने इसका तात्पर्य स्त्रियों आदि का अपमान या तिरस्कार माना है । सम्भवत: उनकी दृष्टि में द्रौपदी के तिरस्कार से उत्पन्न भीम का क्रोध रहा है । देश, जाति, कुल, विद्या कर्म आदि की निन्दा या उन पर आक्षेप करना अधिक्षेप कहा गया है । इस प्रकार की निन्दा भी क्रोधोद्दीपक होती है । घर के सेवकों आदि के उत्पीड़न को उपघात कहते हैं । साधारणत: उपघात का अर्थ है किसी को आघात या चोट पहुँचाना है । अभिद्रोह का साधारण अर्थ है दुरभिसन्धि करना क्रूरता या अत्याचार करना है । अभिनव ने हत्या की इच्छा को अभिद्रोह माना है । सामान्यत: घृणा, ईर्ष्या तथा द्वेष आदि को मात्सर्य कहते हैं ।

पीटना, फाड़ना, दबाना, {मसल देना} काटना, भेदना {किसी के आर - पार करना}, प्रहार करना, शस्त्र ग्रहण करना, शस्त्रों का फेंका जाना रक्तपात आदि इसके कर्म हैं । इसका अभिनय लाल - लाल आँखें करके, भौंहे चढ़ा कर, दाँतों से ओठ को काटने, गालों के फड़कने तथा हाथों के रगड़ने आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए ।

तस्य च ताडनपाटनपीडन - - - - - - - - - -अभिनय: प्रयोक्तव्य:[1]

रौद्र रस के व्यभिचारी भाव असम्मोह {दृढ़ता या निश्चय} उत्साह आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद, कम्प, रोमांच और स्वर का गदगद होना आदि है ।

भावाश्चास्यासम्मोह - - - - - - - रोमांचगद्‌गदादय: ।[2]

1- ना० शा० 6 अध्याय , पृ० 327-328

2- ना० शा० 6 अध्याय , पृ० 328

भरत ने प्रारम्भ में अपने कथन के सम्बन्ध में कहा है कि यदि राक्षस आदि में ही रौद्र रस की स्थिति मानी गयी है तो इसका भाव यह होगा कि मनुष्यों में उसकी स्थिति नहीं होती ।

बहुबाहवो बहुमुखा: प्रोद्धूतविकीर्णपिंगलशिरोजा: - - - - -
- - - - - - - - - - - - तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम् ।[1]

उसके नेत्र लाल तथा पुतलियाँ चढ़ी हुई होती है । इस कारण इनका रूप भी सदा अत्यन्त काला और भयानक होता है । अभिनव के अनुसार उनका केवल शरीर ही इस प्रकार का नहीं होता है, वरन उसके कार्य भी रौद्र रस का आस्वादन करने वाले माने गये हैं । स्वभाव से ही वे रौद्र होते हैं । इनका तात्पर्य यह है कि चित्त में विकास के अभाव में भी उसका वाचिक तथा कायिक व्यापार क्रोधात्मक ताड़न आदि का होता है । इस कारण जब इनका नाटक में प्रदर्शन तथा काव्य में वर्णन होता है, तब सामाजिकों को उससे रौद्र रस का आस्वाद ही होता है ।

उनके द्वारा श्रृंगार का उपभोग भी प्राय: उग्र रूप में ही किया जाता है । उनका अनुकरण करने वाले जो मनुष्य होते हैं, उनमें भी संग्राम तथा प्रहार आदि चिह्नों से रौद्र रस का अनुमान करना चाहिए ।

श्रृंगारश्च तै: प्रायश: - - - - - - - रौद्रो रसो नुमन्तव्य: ।[2]

काव्यालंकारकार [रुद्रट] ने भी रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध बतलाया है । यह शत्रु द्वारा किये गये पराभव से उत्पन्न होता है । इसमें

1- ना० शा० 6 अध्याय, पृ० 330

2- ना० शा० 6 अध्याय, पृ० 330

नायक अत्यन्त भीषण चेष्टायों वाला, अमर्ष से युक्त और अत्यन्त प्रचण्ड होता है ।

रौद्र: क्रोधप्रकृति: क्रोधोऽरिकृतात्पराभवाद्भवति ।
तत्र सुदारुणचेष्ट: सामर्षो नायकोऽत्युग्र: ।।[1]

विरोधियों के प्रति हृदय में तीक्ष्णता या प्रतिरोध की भावना क्रोध कहलाती है -

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोध: क्रोध इष्यते ।[2]

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं ।
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधै: ।।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना
मयमहमसृङ्मेदोमांसै: करोमि दिशां बलिम् ।।[3]

प्रस्तुत उदाहरण में गुरु द्रोण के वध के पश्चात अर्जुन आदि के प्रति अस्वत्थामा आदि के उक्ति है । यहाँ पर अर्जुनादि आलम्बन है, पिता की हत्या, शस्त्रधारण आदि उद्दीपन है, प्रतिज्ञा अनुभाव है । प्रतीयमान ही व्यभिचारी भाव है, सहृदय सामाजिक में क्रोधप्रकृति रौद्र रस की अभिव्यक्ति होती है ।

रौद्र: क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवत: ।[4]

रौद्र रस में क्रोध स्थायि भाव होता है । इसका वर्ण लाल और देवता रुद्र हैं ।

1- का० ल० 15/13 पृष्ठ 409
2- सा० द०, पृष्ठ 117
3- वै० स० 3/24
4- सा० द० पृ० 117

<u>हास्य-रस</u> :- हास्य - रस एक अपूर्व भाव की सृष्टि करता है । इसका सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है । साधारण हँसी जो गुदगुदाने आदि से पैदा होती है, भौतिक कहलाती है । हास्य रस की हँसी प्रशस्त और सहृदयात्मक मनोभाव के रूप में होती है । इसमें भी शारीरिक क्रिया अनिवार्य है । फिर भी साधारण हास्य से साहित्यिक हास्य का महत्व अधिक है, क्यों कि इसमें बुद्धियोग भी रहता है ।

भरत ने शृंगार से हास्य की उत्पत्ति मानी है - किन्तु हास्य की विस्तृत सीमाक्षेत्र को देखकर उसे केवल शृंगार में सीमित नहीं किया जा सकता ।

हास्य रस का स्थायी भाव है हास । वह दूसरों के विकृत अंग, वेष, चेष्टा आदि से उत्पन्न होता है । वह प्रायः स्त्री और नीच तथा बालक में होता है । इसमें उत्तम पात्र के नेत्र और कपोल विकसित होते हैं और कुछ-कुछ दाँत दिखलाई पड़ते हैं, मध्यम पात्रों का मुँह खुल जाता है और नीच पात्र तो अट्टहास करते हैं, जिससे उनके नेत्रों में जल भी आ जाता है ।

हास्यो हास्यप्रकृतिर्हासो विकृतांगवेषचेष्टाभ्यः ।
भवति परस्थाभ्यः स च भूम्ना स्त्रीनीचबालगतः ।।
नयनकपोलविकासी किंचिल्लक्ष्यद्विजोऽप्यसौ महताम् ।
मध्यानां विवृतास्य सशब्दवाष्पश्च नीचानाम् ।।[1]

हास्य का आलम्बन विदूषक आदि अनेक प्रकार की केश रचना करता है तथा वस्त्रादिक धारण करता है, उसे देख कर ही हास उत्पन्न हो । वह अलंकारों को भी इसी प्रकार धारण करता है । यदि वस्त्राभूषण, देश, काल, प्रकृति, आयु तथा परिस्थिति के अनुकूल नहीं होंगे तो वे हास्य के विभाव हो

1- का० ल० 15/11-12, पृ० 409

सकते हैं । धाष्टर्य का अर्थ है - निर्लज्जता । इस प्रकार के प्रदर्शन हास्य में स्वीकृत हैं । वस्तुओं को प्राप्त करने की दृष्टि से मन की अस्थिरता प्रकट करना लौल्य अर्थात लोलुपता है, और हास्य के अन्तर्गत इनका प्रदर्शन माना गया है । बालकों की आँख तथा गर्दन आदि का स्पर्श कर हँसाने की विधि 'कुहक' है । अभिनव ने व्यंग्य का अर्थ विकलांगता का प्रदर्शन माना है । नाक-कान आदि कटे होने से तात्पर्य है । भाव यह है कि पात्र का रूप व्यंग्यात्मक हो । परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना है कि अगर किसी का अंग भंग हो तो वह दया का पात्र होगा, उपहास का नहीं । परन्तु यदि वह पात्र अपनी इस स्थिति में चारित्रिक अतिरंजना प्रदर्शित करता है, तो वह हास का आलम्बन हो जाता है ।

असत् प्रलाप का अर्थ है - देश, काल, परिस्थिति को ध्यान किये बिना बातें करना । उपर्युक्त सभी बातों का नाट्य में प्रदर्शन हास्यपरक है ।

स च विकृतपरवेषलंकारधाष्टर्यलौल्य कुहकासत्प्रलापव्यंगदर्शनदोषा - दाहरणादिभिर्विभावैरूत्पद्यते ।[1]

हास्य रस का अभिनय ओंठ, नाक तथा कपोल के कम्पन्न, आँखों के खोलने, बन्द करने तथा झपकाने, पसीना निकलने, मुख का रंग बदलने तथा पार्श्व के पीड़न आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

तस्योक्त - - - - - - - - - - - - अभिनेय: प्रयोक्तव्य: ।[2]

हास्य रस के व्यभिचारी भाव अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा, स्वपन, प्रबोध तथा असूया आदि होते हैं । यह आत्मस्थ तथा परस्थ दो प्रकार का

1- ना० शा० 6 अध्याय, पृ० 316

2- ना० शा० 6 अध्याय, पृ० 316

होता है । जब स्वयं हँसता है तब आत्मस्थ होता है और जब दूसरे को को हँसाता है तब परस्थ होता है ।

व्यभिचारिणश्चास्यावहित्था - - - - - तदा परस्थः ।[1]

विदूषक अपने में स्थित विकृत वेषादि विभावों से स्वयं हँसता है और इससे जो हास्य का रस उद्भव होता है, उसे आत्मस्थ स्वीकार किया गया है । दूसरी स्थिति में वह देवी [महादेवी को हँसाता है तब वह मात्र हास्य के आलम्बन रूप में माना जायेगा, और इस हास्य को परस्थ कहा गया है । अभिनव के अनुसार अभिप्राय है कि विभावों को स्वतः न देखकर दूसरों को हँसते हुए देखकर लोग हँसने लगते हैं । ऐसा लोक व्यवहार में देखा जाता है कि विभाव आदि से भी जो गम्भीर प्रकृति के होने के कारण नहीं हँसते, वे भी दूसरों को हँसता हुआ देखकर मुस्करा उठते हैं । उदाहरण के लिए खट्टे अनार आदि का स्वभाव ऐसा संक्रमणशील होता है कि उनको देख कर भी लोगों के मुख में पानी आ जाता है अर्थात् विचारों के संक्रमण में समर्थ हो जाता है । इसी प्रकार हास भी संक्रमणशील और लकड़ी में अग्नि के समान फैल जाता है । अतः स्वगतरूप हास आत्मस्थ और संक्रमणशील हास परस्थ माना जाना चाहिए ।

भरत के समय हास के विभावों की स्थिति स्त्री और निम्न प्रकृति के पुरुषों तक स्वीकार की गयी है, परन्तु यह हास्य के आलम्बन की चर्चा है, हास्य का रसानुभव सभी सामाजिक करते हैं । उस युग में पात्रों की सामाजिक स्थिति का बड़ा महत्व था, सम्भ्रान्त पुरुष हास्य का आलम्बन

1- ना० शा० 6 अध्याय, पृ० 316

नहीं बनाया जा सकता था । यहाँ भरत हास्य के छः भेदों का विवेचन करते हुए उल्लेख करते हैं ।

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ।।[1]

भरत ने इन्हें उत्तम, मध्यम तथा अधम के दो-दो क्रम में रखा है । अभिनव के अनुसार कुछ लोग इन दो-दो के क्रम को विभावादि के तारतम्य के आधार पर स्वीकार करते हैं । परन्तु उनके अनुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार अन्य अनेक भेद विभाव के तारतम्य के अनुसार हो जायेंगे ।

उत्तम प्रकृति के पुरुषों में स्मित माना गया है, यही सक्रान्त होकर हसित कहलाता है । मन्द हास को स्मित कहा जाता है । इसके अधिक व्यापक होने पर हसित हो जाता है । मध्यम प्रकृति के पुरुषों में इससे आगे बढ़ने पर विहसित और आगे बढ़ कर अन्य पात्रों के समीपगत उपहसित हो जाता है । वस्तुतः केवल उपसर्गों के माध्यम से यहाँ सूक्ष्म अन्तर किया गया है । अधम प्रकृति के लोगों में अपहसित तथा अतिहसित होता है ।

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ।।[2]

साहित्यदर्पणकार के अनुसार जहाँ विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि के नादय से हास्य रस का आविर्भाव होता है । इसका स्थायी भाव 'हास' है । वर्ण शुक्ल और अधिष्ठात देवता प्रमथ है ।

1- ना० शा० 6/53, पृ० 320

2- ना० शा० 6/54, पृ० 320

विकृताकार वाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेः प्रमथदैवतः ।।[1]

गुरोर्गिरः पंच दिनान्यधीत्ये वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रय च ।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ।।[2]

पण्डितों की सभा में वस्त्रादिकों का आडम्बर रचकर निःशंक आते हुए किसी मूर्ख को देखकर किसी परिहास-प्रिय पुरूष का वचन है - "आगे से हट जाओ' कुक्कुट मिश्र जी आ रहे हैं । लटकमेलक आदि में हास्य-रस की परिपुष्टि होती है ।

<u>भयानक-रस</u> :- मनुष्य को भयंकर स्थिति के कारण भय उत्पन्न होता है । भय का कारण प्राण गँवाना या शारीरिक कष्ट उठाना या धन-जन की हानि या ऐसा ही अन्य दुःखदायक कार्य होता है, इसका मन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है । भय सहचर भावना है और उसकी सहज प्रवृति पलायन या विवर्जन है । भय का सामना करने की शक्ति न होने के कारण भागने को बाध्य होना पड़ता है ।

बहुतों को भयानक जन्तु भय के कारण न होकर आनन्ददायक बन जाते हैं । सारांश यह है कि जिससे हानि वा दुःख पहुँचना अनिवार्य है उससे भय होता है और जहाँ इन दोनों की अनिश्चयता रहती है वहाँ आशंका कहलाती है । भय का प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है जिससे मुँह सूख जाता है और मन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है । कुछ भय वास्तविक होते हैं, कुछ कल्पित और कुछ भ्रमजनित । यथार्थता ज्ञात होने से यह दोनों

1- सा० द० पृष्ठ 115, श्लोक सं० 214

2- सा० द० पृष्ठ 115

भय दूर हो जाते हैं । भय के समय साहस और धैर्य से काम लेना आवश्यक है । जो साहसी और शूर होते हैं वे सदा निर्भय रहते हैं । भयानक रस मनुष्य को अधीर बना देता है । इसमें शत्रु भी मित्र हो जाते हैं तथा मित्र शत्रु हो जाता है । प्रबल आतंक मनुष्य को शिथिल बना देता है और उसमें आत्म-रक्षा के भाव लुप्त हो जाते हैं ।

भयदायक वस्तु के देखने या सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से जब हृदय में वर्तमान भय स्थायी भाव होकर परिपुष्ट होता है । तब भयानक रस उत्पन्न होता है ।

भय स्थायी भाव से भयानक रस उत्पन्न होता है । भय अत्यन्त भीषण शब्द आदि विषयों से उत्पन्न होता है तथा इस रस में नीच, स्त्री, बालक आदि नायक होते हैं ।

संभवति भयप्रकृतिर्भयानको भयभतीव घोरेभ्यः ।
शब्दादिभ्यस्तस्य व नीचस्त्रीवालयायकता ।।[1]

विकृत ध्वनियों से, पिशाच - प्रेत आदि के दर्शन से, श्रृगाल तथा उलूक से, त्रास तथा उद्वेग से, शून्य घरों, वनगमन, अपने बन्धुजनों के बध तथा बन्धन आदि के देखने, सुनने या चर्चा करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है । विकृत स्वर का अर्थ है अट्टहास । सत्व का प्रयोग पिशाचों के लिए किया गया है । सियार तथा उल्लू आदि अशुभ तथा भयप्रद माने गये है । यहाँ अभिनव ने दूसरों में स्थित भय तथा घबराहट को भयानक का कारण माना है । शुन्य घर बन के समान भयानक लगते हैं । अपने सम्बन्धियों का

1- का० ल० 15/6 पृ० 408

वध तथा वन्धन प्रत्यक्ष रूप से देखने से भय उत्पन्न हो सकता है, पर यदि पहिले घटित हुआ है तो उसको किसी विश्वास पात्र के द्वारा सुन कर भी भाव जाग्रत हो सकता है ।

स च विकृतरव - - - - - - - - - - - - विभावैरुत्पद्यते ।[1]

विभाव रूप कारणों के द्वारा उन कार्यों [अनुभाव] का वर्णन है, जिनसे भय का प्रदर्शन होता है । हाथ - पैर का काँपना यहाँ व्याधि के कम्प से भिन्न है । नेत्रों की चंचलता भी इसी प्रकार श्रृंगार की स्थिति से भिन्न होगी । पुलक अर्थात, रोएँ खड़े होना भी अन्य भाव स्थितियों में होता है । मुख का रंग उड़ जाना, स्वर का बदल जाना आदि कार्यों से भय का प्रदर्शन होता है ।

तस्य प्रवेपितकरचरणनयन - - - - - - - - मरणादयः ।[2]

इस भयानक रस का अभिनय हाथ-पैर के कम्पन, स्तम्भ, अंगों तथा हृदय के कम्पन, ओंठ, कंठ तथा तालु के सूखने आदि अनुभावों से करना अपेक्षित है ।

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ।।[3]

साहित्यदर्पणकार के अनुसार भयानक रस का स्थायी भाव भय है । देवता काल, वर्ण कृष्ण और इसके आश्रयपात्र स्त्री तथा नीच पुरुष आदि होते हैं ।

1- ना० शा० 6 अध्याय पृ० 339

2- ना० शा० छठा अध्याय, पृ० 339

3- ना० शा० 6/73, पृ० 342

भयानको भयस्थायिभाव: कालाधिदैवत: ।
स्त्रीनीचप्रकृति: कृष्णो मतस्तत्वविशारदै: ।।[1]

भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' है । किसी भीषण वस्तु के कारण चित्त में जो विकलता हो जाती है, वही चित्तवृत्ति भय कहलाती है ।

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् ।[2]

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि ।
पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।।
दर्भैरर्द्धावलीढै: श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि: कीर्णवर्त्मा ।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।[3]

प्रस्तुत उदाहरण में राजा दुष्यन्त की सारथि के प्रति उक्ति है । इसमें मृग के भय का वर्णन है । इसमें पीछे चीने वाला रथ या राजा आलम्बन है, शरपतन आदि उद्दीपन हैं, ग्रीवाभंगादि अनुभाव है, श्रम आदि व्यभिचारी भाव है । सहृदय सामाजिक में भयप्रकृतिक भयानक रस की अभिव्यक्ति होती है ।

अद्भुत-रस :- रस का सार चमत्कार है और उस चमत्कार का सार - स्वरूप अद्भुत रस है । चमत्कार में विलक्षणता रहती है और वही चित्ताकर्षण करती है ।

1- सा० द० पृ० ।19
2- सा० द० 3/78
3- अ० शा० प्रथम अंक

अद्भुत रस का स्थायी भाव है विस्मय, विस्मय भी असंभाव्य, स्वयं अनुभूत अर्थ अथवा अनुभव करके अन्य के द्वारा कहे जाने से उत्पन्न होता है ।

स्यादेव विस्मयात्मा रसोऽद्भुतो विस्मयोऽप्यसंभाव्यात् ।
स्वमनुभूतादर्थादनुभूयान्येन वा कथितात् ।[1]

यह दिव्य जनों के दर्शन, अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति, उपवन तथा देव मन्दिर आदि के गमन, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल की सम्भावना आदि विभावों से उत्पन्न होता है । दिव्य पुरुषों से यहाँ तात्पर्य गन्धर्व आदि से हैं । जिसका पूरा होना सम्भव हो ईप्सित कहलाता है और उससे भिन्न जिसकी प्राप्ति संभव न हो मनोरथ है । जिसने देव - मन्दिर के सुन्दर भवन आदि नहीं देखे हैं उनके लिए वहाँ जाना अदभुत रस का विभाव माना जा सकता है ।

स च दिव्यजनदर्शने ---------- विभावैरुत्पद्यते ।[2]

आँखे फाड़ कर देखने, अपलक देखते रहने, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, लगातार हा हा करने, भुजा, वस्त्र, अँगुली आदि के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय किया जाना चाहिए ।

तस्यनयनविस्तारा -------- अभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[3]

अद्भुत का व्यभिचारी भाव स्तम्भ, अश्रु, गदगद, रोमांच, आवेग, सम्भ्रम, जड़ता, प्रलय आदि होते हैं ।

1- का० ल० 15/9, पृ० 408

2- ना० शा० छठा अध्याय, पृ० 345

3- ना० शा० छठा अध्याय, पृ० 345

भावाश्वास्य स्तम्भ - - - - - - - - - जड़ता प्रलयादय: ।[1]

अभिनवगुप्त के मत से चमत्कार शब्द के तीन अर्थ हैं । एक अर्थ है प्रसूत वासना के साथ साधारणीकरण का मिलन जनित वा परिचय जनित एक विशिष्ट चेतना का उद्बोध ।[2]

दूसरा है चमत्कार जनित अलौकिक आह्लाद और तीसरा है चमत्कार द्वारा ही उद्भूत कम्प पुलकादि शारीरिक विकार । उसको साक्षात्कार कहा जा सकता है अथवा मन का अध्यवसाय । निश्चयात्मिका वृत्ति भी उसे कह सकते हैं, संकल्प वा स्मृति कह सकते हैं अथवा स्फूर्ति वा प्रतिभा कह सकते हैं ।[3]

मम्मट ने चमत्कार शब्द का आस्वाद या चर्व्यमाणता यही अर्थ किया है । किसी - किसी ने सौन्दर्यात्मक विशिष्ट बोध को चमत्कार कहा है, पर विश्वनाथ चमत्कार का अर्थ हृदय विस्तार कहते हैं । उसे आश्चर्य भी कहते हैं ।

चमत्कारश्चित्त विस्ताररूपो विस्मयापरपर्याय: ।[4]

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है । विलक्षण वस्तुओं के दर्शन श्रवण आदि से चित्त का एक विकास सा होता है वही विस्मय कहलाता है ।

1- ना० शा० छठा अध्याय, पृ० 345

2- Aesthetic Attitude of the mind.

3- ना० शा० टीका {गायकवाड़ संस्करण} पृ० 28।

4- सा० द० पृ० 120

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।[1]

जनकपुर में श्रीरामचन्द्र जी के धनुष तोड़ देने पर बहुत देर पीछे तक उस धनुर्भंग के शब्द की गूंज को प्रतिध्वनित होते हुए देखकर विस्मित हुए लक्ष्मण की उक्ति है -

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्यत -
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।[2]

इस पद्य में लक्ष्मण का विस्मय स्थायी भाव है । टंकार ध्वनि आलम्बन है । उसकी अतिदीर्घता आदि उद्दीपन है । इस प्रकार महिमा का वर्णन अनुभाव है और इस वर्णन से अनुमित हर्ष आदि व्यभिचारी भाव है । इन सबके द्वारा अद्भुत रस परिपुष्ट होता है ।

वीभत्स-रस :- स्थायी भावात्मक रसों में वीभत्स रस की जुगुप्सा के आधार पर सृष्टि मानी गयी है । इसके विभाव रूप कारणों में अप्रिय वस्तु को देखना आदि माना गया है । अहृद्य का अर्थ है अग्राह्य । हृद्य होने पर भी कोई-कोई वस्तु किसी के लिए स्वभाव से ही अत्यन्त अप्रिय होती है । जिस प्रकार द्विज वर्ग के लिए लहसुन जैसे पदार्थ । धातुओं के दोष से अर्थात् वात, पित्त, कफ के कुपित होने पर कुछ चीजें अप्रिय लगती हैं । श्लेष्मा के रोगी को दूध के प्रति अरूचि होती है । अपने निजी स्वरूप से दूषित न होने पर मल आदि से युक्त वस्तु को अवोध्य कहा जाता है । अभिनव ने अनिष्ट का विशेष अर्थ इस प्रकार दिया है कि निरन्तर भोग करने

1- सा० द० पृष्ठ 120

2- सा० द० पृष्ठ 120

से अधिक भोग की इच्छा न रह जाना । वीभत्स रस के व्यभिचारी भाव अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण ।

भावाश्चास्यापस्मार - - - - - - - - - - मरणादय: ।[1]

वीभत्स रस का स्थायी भाव है जुगुप्सा, वह इन्द्रियों के अत्यन्त अहृद विषयों के देखने, सुनने और वर्णन करने से उत्पन्न होती है । इस वीभत्स रस में हृत्कम्पन्न, कुल्ला करना, मुख सिकोड़ना, शरीर मरोड़ना और उद्वेग आदि होते हैं । उत्तम पात्रों में उपर्युक्त अनुभाव नहीं होते क्यों कि वे स्वभाव से ही गम्भीर होते हैं ।

भवति जुगुप्साप्रकृतिर्वीभत्स: सा तु दर्शनाच्छ्रवणात् ।
संकीर्तनात्तथेन्द्रियविषयाणामत्यहृद्यानाम् ।।
हृल्लेखननिष्ठीवनमुखकूणन सर्वगात्रसंहारा: ।।
उद्वेग: सन्त्यस्मिन्गाम्भीर्यान्नोत्तमानां तु ।।[2]

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है । किसी घृणास्पद वस्तु के दोष दर्शन से उत्पन्न होने वाली घृणा भाव ही जुगुप्सा कहलाती है -

दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।[3]

मालती माधव के प्रस्तुत उदाहरण में माधव श्मशान में शवभोजी प्रेत को देखकर कह रहा है । यहाँ शव या प्रेतरंग ही आलम्बन है, शव को काटना, मांस खाना आदि उद्दीपन है, दर्शक का थूकना, नाक सिकोड़ना इत्यादि अनुभाव है तथा उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव है । सहृदय सामाजिक में जुगुप्सा प्राकृतिक वीभत्स रस की अभिव्यक्ति होती है ।

1- ना० शा० छठा अध्याय पृ० 343

2- का० ल० पृ० 407

3- सा० द० पृष्ठ 120

प्रेयान-रस :- प्रेयान का स्थायी भाव है स्नेह । इसमें शिष्ट भाव से युक्त सज्जन नायक होता है । स्नेह प्रकृति के उपचार संबन्ध के कारण सहवास से उत्पन्न होता है ।

स्नेहप्रकृति: प्रेयान्संगतशीलार्य नायको भवति ।
स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरूपचार संबन्धात् ।।[1]

आगे किसी आचार्य ने इस रस का उल्लेख नहीं किया । प्रेयान रस पर सर्वप्रथम रूद्रट ने प्रकाश डाला और इनके उपरान्त केवल भोजराज ने । 'स्नेह' से इनका तात्पर्य है - सुहृदों पारस्परिक निश्छल एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्ध । रूद्रट प्रयुक्त सुहृद शब्द को यदि मित्र का पर्यायवाची मान लिया जाए तो काव्य शास्त्र में प्रेयान रस की परिकल्पना मौलिक एवं मनोहारी समझी जानी चाहिए इसमें मनोवृत्ति नि:स्वार्थ होती है और बातें कोमल और मधुर होती है । इसमें दो मित्रों का परस्पर व्यवहार ही विभाव होते हैं ।

निर्व्याजमनोवृत्ति: सनर्मसद्भावदेशनालापा: ।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ।।[2]

स्नेह में सर्वत्र अन्त:करण के आर्द्र होने के कारण नेत्रों में अत्यधिक आंसू आना और स्नेहपूर्वक आँखों को फाड़कर अपलक देखना आदि अनुभाव होते हैं ।

प्रस्यन्दिप्रमदा प्रमदाश्रु: सुस्निग्धस्फारलोचनालोक: ।
आर्द्रान्त: करणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ।।[3]

1- का० ल० 15/17, पृ० 410

2- का० ल० 15/18, पृ० 410

3- का० ल० 15/19, पृ० 411

यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया ।

इति वेत्ति न जानाति तत्प्रियं यत्करोति सा ।।[1]

<u>वात्सल्य-रस</u> - अनेक आचार्यों ने वत्सल रस को माना है और रसों में इसकी गणना की है । प्रथम रुद्रट ने जो दसवें प्रेयस का सूत्रपात किया वह वत्सल रस का ही रूप है ।

स्नेहप्रकृति प्रेयान् ।[2]

भोज ने जो रस की गणना की है उसमें वात्सल्य का नाम भी आया है -

श्रृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।[3]

हरिपाल देव तथा दर्पणकार ने भी इस रस की पूर्ण व्याख्या की है ।

शान्तो ब्रह्ममिश्रः पश्चात् वात्सल्याख्यस्ततः परम् ।

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।[4]

केवल स्पष्टतः चमत्कारक होने से ही नहीं, वात्सल्य भावना की उत्कटता, स्ववशरक्षण की समर्थता तथा आस्वाद की योग्यता के कारण वात्सल्य भाव को रस न मानना दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है । वात्सल्य माता-पिता में अधिक रहता है । माता में इसकी

1- सरस्वती कण्ठाभरण 5/77

2- का० 15-17, पृ० 410

3- शृं० प्र० खण्ड 1, पृष्ठ 23

4- सा० द० पृष्ठ 123

अत्यधिक मात्रा दिख पड़ती है । कारण यह है कि शिशु के गर्भस्थ होने के साथ - साथ माता के मन में वात्सल्य का प्रारम्भ हो जाता है और कुछ समय के बाद दुग्ध के रूप में शरीर से फूट पड़ता है । वात्सल्य में सौन्दर्य भावना, कोमलता, आशा, शृंगारभावना आदि अनेक भाव रहते हैं, जिसके सम्मिश्रण से वात्सल्य अत्यन्त प्रबल हो उठता है । वात्सल्य में करुणा और ममता का अधिक होना ही इनके स्थायी भाव मानने का कारण है ।

<u>भक्ति-रस</u> :- भक्ति रस की सांकेतिक उपस्थिति का श्रेय दण्डी को दिया जाना चाहिए, सर्वप्रथम प्रेयालंकार के विवेचन में इसकी अनजाने नींव डाल दी थी । इस अलंकार के उदाहरण में दण्डी ने कृष्ण के प्रति, विदुर के प्रति तथा महेश्वर के प्रति, रातवर्म नामक राजा के प्रीतिप्रकाशक वचनों को प्रस्तुत किया है ।

भक्तिमात्रसमाराध्य: सुप्रीतश्च ततो हरि:[1]

वह इसे देवता विषयक रति से पृथक रखना उचित समझते थे, इसलिए इन्होंने शृंगार रस का स्थायी भाव रति स्वीकार किया है और प्रीति से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करते हुए कहा है ।

प्राक प्रीतिर्दर्शिता सेयं रति: शृंगारतां गता ।[2]

भामह तथा दण्डी प्रेयस् को प्रीति अथवा रति सम्बन्धित मानते हैं और प्रेय: प्रियतराख्यानम् के रूप में समझाकर उसके मधुर स्वरूप का उद्घाटन करते हैं । उद्भट उसे रसवद् अलंकार से पृथक भाव-काव्य के रूप में एक अलंकार मात्र मानते हैं, और भाव मात्र को प्रेयस मानते प्रतीत होते हैं ।

1- का० द० 2/280

2- का० द० 2/281

रूद्रट पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इसे 'प्रेयान्' नाम से एक रस स्वीकार किया है और इसका स्थायी भाव स्नेह बताया है । इसके अन्तर्गत उन्होंने अन्योन्य सुहृदय व्यवहार को ग्रहण करते हुए कहा है :

अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ।[1]

कालान्तर में इसी के आधार पर प्रेयस वात्सल्य, प्रीति आदि कई रसों की स्थापना का प्रयत्न हुआ, यहाँ तक कि श्रद्धा तथा स्नेह भी रस मान लिए गये । रूद्रट ने 'स्नेहप्रकृतिप्रेयान' कहकर प्रेयान् रसों की स्थापना की थी और स्नेह को उसका स्थायी मान था । किन्तु उनकी पंक्ति -

आर्द्रतान्त: करणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ।[2]

के आधार पर सम्भवत: किसी-किसी ने स्नेह को ही आर्द्रता नामक स्थायी से निष्पन्न पृथक रस मान लिया । जिसका अभिनवगुप्त ने नवेतर रसों के साथ खण्डन किया है, साथ ही उन्होंने भक्ति-रस तथा श्रद्धा-रस का भी अन्य रसों में समाहार दिखाया है । हेमचन्द्र, शार्ङ्गदेव, धनंजय, भोज तथा पण्डितराज ने इसका अन्य रसों में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया फिर भी भक्ति रस अपना प्रभाव जमाये बिना न रहा ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने रसों की उपयोगिता चार पुरुषार्थों के आधार पर निश्चित करते हुए केवल नौ ही रस स्वीकार किये हैं -

एव ते नवैव रसा: पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेवो - पदेश्यत्वात् ।[3]

1- का0 ल0 16/18

2- का0 ल0 15/19 उत्तरार्द्ध

3- अ0 भा0 पृ0 341

अन्यों को भाव के अन्तर्गत मान लिया है । परिणामतः भक्ति भी भाव के ही रूप में स्वीकार की गई है । उसका अन्तर्भाव उन्होंने धृति, मति, स्मृति तथा उत्साह में ही कर लेना उचित समझा है और उसे शान्त के अन्तर्गत डाल दिया है ।

अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्ति श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनु प्रविष्टेभ्योऽन्यथे - वागमिति न तयोः पृथग्रसत्वेनगणनम् ।[1]

साहित्यदर्पणकार ने भी वात्सल्य तो माना, परन्तु भक्ति रस का विचार नहीं किया । मम्मट ने इसे देवतादिविषयक रति मात्र मानते हैं ।

शाण्डिल्य {भक्तिशास्त्र के सूत्रकार} भक्ति नामक दसवां रस स्वीकार करते हैं । भक्ति रस की स्थापना का श्रेय मधुसूदन सरस्वती को है, वे इसे समस्त रसों में श्रेष्ठ मानते हैं । उनका कहना है कि चूंकि इसमें भी आस्वाद्यत्व होता है तथा इसका स्थायी भाव होता है इसलिए यह रस कहलाने योग्य है । इसके अतिरिक्त रूपगोस्वामी एवं कविकर्णपूर भी भक्तिरस के समर्थक है । रूप - गोस्वामी समस्त रसों को भक्ति में पर्यवसित मानते हैं, वे भक्ति को मुख्य रस और अन्य रसों को उसका अंग मानते हैं । रूपगोस्वामी ने भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद् रति माना है । उनके अनुसार अन्य किसी की अभिलाषा से शून्य ज्ञान और कर्मों आदि से अनाच्छादित सर्वथा अनुकूल भावना से श्रीकृष्ण का अनुशीलन ही भक्ति है ।

एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ।[2]

भरतमुनि भक्ति को रस के अन्तर्गत नहीं मानते ।

1- अ0 भा0 पृ0 340

2- भक्तिरसामृत0 8/5/89

<u>शान्त-रस</u> :- भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: 'कहकर शान्त रस को पृथक कर दिया है । इसका कारण यह है कि शान्त रस के अभिनय से निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है । अभिनेता जब शान्त-रस का अनुभव करने लगता है तो नट चेष्टा बन्द सी हो जाती है । इस रस से मन में कोई विकार नहीं रह जाता है, न क्षोभ न उद्वेग । चित्त शान्त हो जाता है । परन्तु अभिनवगुप्त ने बिखरे उल्लेखों के आधार पर इसे भरत सम्मत ही माना है ।

प्रतीयतएवेति । मुनीनाप्यंगीक्रियत एव क्वचिच्छम:[1]

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र में आई हुई 'क्वचिद्धर्म:, क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थ:, क्वचित् शम: अर्थात रसों के समान अन्य कुछ पंक्तियों को आधार माना है ।

दुखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद भविष्यति ।।[2]

धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकास्तथैव च ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो य: काम: स तु संस्मृत: ।।[3]

जिस प्रकार सम्भोग की चरमावस्था में सभी काम व्यापारों की उपरति हो जाती है तभी चरमास्वाद अनुभूत होता है । आत्मा के स्वरूप को ढक देने वाली रति, उत्साह आदि से आच्छादित आत्मा को जो स्वरूप है, वही दूर-दूर पिरोये गये मुनियों के बीच दिखाई देने वाले सफेद व चमकते सूता के

1- ध्व0 लो0 पृ0 39।

2- ध्व0 लो0 1/11/112

3- ना0 शा0 24/9।

समान क्वचित् क्षण दो क्षण के लिए भासमान होने पर रत्यादि उपरंजकों के यथावत् रहने पर सुकृद्विभातोऽयमात्मा वचनानुसार एक बार प्रगट हुआ होने पर भी यह आत्मा विषयोन्मुखता रूप सब दुखों के जाल से रहित और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्न रूप में काव्य तथा नाटक प्रबन्ध आदि द्वारा एक सा प्रतीत होता है और एक प्रकार की अन्तर्मुख अवस्था द्वारा लोकोत्तर आनन्द प्राप्त करा कर हृदय को भी वैसा अर्थात् आनन्दमय बना देता है ।

अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः ।[1]

शम स्थायी भावात्मक और मोक्ष में प्रवृत्त करने वाला शान्त नामक रस होता है । शान्त रस प्रारम्भ में नाट्यशास्त्र में विवेचित नहीं हुआ था । परन्तु अभिनव के समय तक इस प्रकरण का रूप स्थापित हो चुका था । कुछ लोगों के अनुसार शान्त शम स्थायी भाव स्वरूप है । तपस्या तथा योगियों के सम्पर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है । काम, क्रोध आदि के अभाव रूप अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए । इसके व्यभिचारी धृति, मति आदि हैं ।

स तु तत्वज्ञान - - - - - - - - - - - - - रोमांचादयः ।[2]

दूसरे इस मत के विपक्षियों के अनुसार शम तथा शान्त समानार्थक शब्द है । उनमें से एक को स्थायी भाव और दूसरे को रस मानना संगत नहीं है । उनचास भावों में शम के बढ़ जाने से निर्धारित संख्या पचास कही जानी चाहिए, जिससे मान्य संख्या में अन्तर आ जाता है । बाद में उत्पन्न होने वाले शृंगार आदि रसों में ऋतु तथा माल्य आदि विभाव प्रतीत होते हैं, किन्तु तप तथा

1- ना0 शा0 छठा अध्याय

2- ना0 शा0 छठा अध्याय

स्वाध्याय बाद में शान्त तथा शम में प्रतीत नहीं होते हैं और यदि इनको तत्व ज्ञान के अनन्तर बाद में आने वाला हेतु माना जाए तो पहले सम्पादित तत्व ज्ञान के प्रति कारण होने से तप तथा अध्ययन की शम के विषय में विभावना नहीं रहेगी । साधक पुरूष तत्व ज्ञान प्राप्त करके भी संसार में दूसरों के दु:ख से दु:खी होते पाये जाते हैं अत: शान्त रस को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

शान्त रस की स्थिति सभी रसों के चरम आस्वाद में तद्विषियों की विमुखता से सम्बद्ध है । किसी विषय के चरम आस्वादन से उससे सम्बन्धित व्यापारों की उपरति हो जाती है, अत: सभी रसों का चरम आस्वाद शान्त रूप में होता है । अन्य रसों की स्थिति में स्थायी भावात्मक वासनाएं स्थित रहती है, उनकी उपलब्धि होती है, जब कि शान्त रस में अपनी चरमावस्था में ये वासनाएं उपशमित हो जाती है । अत: अभिनव सभी रसों की अन्तिम परिणति शान्त रस में स्वीकार करते हैं ।

भरत ने तो स्वयं यह स्वीकार किया है कि आयु तथा व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न रस भिन्न-भिन्न जनों को आस्वाद्य लगते हैं । सभी रस सभी को आस्वाद्य हो ऐसा नियम नहीं । तरूण लोग श्रृंगार रस का आनन्द जितनी मात्रा में ले पाते हैं उतनी ही मात्रा में अन्य रस उन्हें प्रभावित नही करते इसी प्रकार विरागी जनों को जितना आनन्द शान्त रस की अनुभूति से आयेगा उसकी अपेक्षा श्रृंगारादि रस उनको कम ही आकर्षित करेगा । श्रृंगार रस से तो उनका पूर्ण विराग भी हो सकता है ।

भरत ने चार रसों को और उसमें भी वीर तथा श्रृंगार को ही विशेष प्रयोजनीय अथवा प्रधान माना है, अन्य रस उन्हीं के सहायक अथवा उन पर निर्भर बने रहते हैं । भयानक, अद्भुत अथवा वीभत्स रसों को किसी भी काव्य में प्रधान रूप में प्रस्तुत किये जाने की स्वीकृति नहीं दी गई है । इसी प्रकार

शान्त को भी उन्हीं के समकक्ष मान लिया जाये तो क्या हानि ?

शान्त के विरोधी एक तर्क का यह सहारा लेते हैं कि भरत ने 20 वें अध्याय में डिम का वर्णन करते हुए उसे शृंगार तथा हास्य रसों से हीन बताया और षड्लक्षणायुक्त कहा है ।

षड्लक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ।[1]

शान्त के विरोधियों में कुछ लोग तो वे हैं जो उसे वीर या वीभत्स के अन्तर्गत रखकर उसकी अनावश्यकता का प्रतिपादन करते हैं । इसके विपरीत शान्त के कुछ पक्षपाती उसी में दानवीर, दयावीरादि का अन्तर्भाव कर लेते हैं । यहाँ तक कि शान्त से ही आठों स्थायी भावों की उत्पत्ति और उसी में उनका विलय तक मान लिया गया है ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।[2]

किन्तु यह मत दूषित है, क्यों कि वीर में किसी न किसी अंश में अहंकार का'समावेश माना जाता है । यद्यपि'निरहंकाररूपत्व' अथवा'सर्वाकारम हंकाररहितत्व' के कारण दयावीर, दानवीर को वीर रस से भिन्न रखने की प्रवृत्ति भी दीख पड़ती है तथापि उसे शान्त के समीप नहीं ले जाया जा सकता । क्योंकि वीर में उत्साह की विशेषता होती है और दयावीरादि भी इससे बचे नहीं है । शान्त की सिद्धि उत्साह की विशिष्टता के समय नहीं होती शान्त में वैराग्य ही महत्वपूर्ण होता है । अतः दोनों की दिशाएं भिन्न है, अतः दोनों पृथक हैं ।

1- ना० शा० 20/88

2- ना० शा० 6/108

शान्त रस नाट्य में विवेचित नहीं हुआ था, परन्तु अभिनव के समय तक इस प्रकरण का रूप स्थापित हो चुका था । अभिनव प्रारम्भ में नौवें रस के रूप में शान्त रस को मानने वाले के मत के आधार पर इसका निरूपण करते हैं ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में विभिन्न मत का युक्ति युक्त विवेचन देते हुए निष्कर्ष दिया है कि तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्त का स्थायी है । इस शान्त रस के वैराग्य संसार - भीरुता आदि विभाव हैं । उसके वर्णन से शान्त रस का ज्ञान होता है । मोक्ष शास्त्र का विचार आदि इसके अनुभाव है । निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं ।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि इतिहास, पुराण, अभिधान, कोश आदि में नव रस बताये गये हमारे गुरुदेव उत्पलाचार्य के प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी ऐसा ही है । वहाँ कहा है कि -

अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन्प्रदर्शयेत् ।
मध्येवदेव देवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ।।[1]

अभिनवगुप्त का तो यहाँ तक का कहना है कि सभी रसों का आस्वाद शान्त -प्राय ही होता है ।

तत्र रसानां शान्तप्रायएवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या तन्मुख्यतालाभात् ।[2]

1- प्र0 द0 पृष्ठ 117
2- अ0 भा0 पृष्ठ 335

रूद्रट भी शान्त रस को स्वीकार करते हैं। शान्त का स्थायी भाव है सम्यक् ज्ञान। इसमें नायक निरोह होता है। इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों के अन्धकार के विलय और राग के अपगम से सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है।

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य वापगमात् ॥[1]

शान्त में जन्म, बुढ़ापे और मृत्यु के त्रास और विषयों में नीरसता, सुख-दुःख में राग-द्वेष का अभाव आदि अनुभाव होते हैं।

जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये।
सुखदुःखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ॥[2]

दशरूपककार ने शान्त द्वारा चित्तसंवाद की असंभाव्यता का विचार करते हुए इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि शान्त रस मोक्षावस्था रूप होने के कारण सभी सामाजिकों द्वारा संवादनीय नहीं हो सकते। संसार में रागद्वेष ही प्रधान है, अतः रागद्वेष विहीन शान्त से सामाजिक का चित्त संवाद हो सके, यह सम्भव नहीं है।

अन्ये तु वस्तुतस्याभावं वर्णयन्ति - अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेष - योरूच्छेत्तुमशक्यत्वात्।[3]

तथा

न च तथाभूतस्यशान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति।[4]

1- का० लं० 15/15-16
2- का० 15/17
3- दशरूप० 147
4- दशरूप० 165

शान्त के विभावों में आलम्बन देवता, आत्मा अथवा ब्रह्म होते हैं, उद्दीपन प्राय: समग्र विश्व हो सकता है, किन्तु तत्वज्ञान, वैराग्य, आशयशुद्धि साधुसमागम, भगवत्कृपा ही मुख्य है । यमनियमादि को इसका अनुभाव माना गया है तथा सभी भाव इसके संचारी होने योग्य है । अभिनव ने इसका देवता बुद्ध माना है । विश्वनाथ नारायण को इसका देवता मानते हैं । सत्वप्रधानता के कारण इसका रंग श्वेत माना गया है । विश्वनाथ ने 'कुन्देन्दुसुन्दरच्छाया' कहकर इसका रंग श्वेत माना है । वृत्तियों में सात्वती से इसका सम्बन्ध माना है ।

शान्तस्य शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मत: ।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छाय: श्रीनारायणदेवत: ।।[1]

उद्भट ने शान्त का स्थायी 'शम' को बताया है किन्तु इसका तीन कारणों से विरोध किया जाता है ‖1‖ नाट्य शास्त्र के कुछ संस्करणों में शान्त रस का वर्णन न होने के साथ शम का भी वर्णन उपलब्ध नहीं होता । ‖2‖ शम को स्वीकार करने पर संचारियों आदि की कुल संख्या पचास माननीहोगी भरत केवल उन पचास भावों को स्वीकार करते हैं । ‖3‖ शम और शान्त एक दूसरे के पर्याय से हैं । तीसरे आक्षेप को अभिनवगुप्त ने लौकिक तथा अलौकिक का भेद स्थिर करके समाधान प्रस्तुत कर दिया है ।

शमशान्तयो: पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् ।
सिद्धसाध्यते यदलौकिकत्वेन - - - - लौकिकालौकिकत्वेन -
साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरति सुलभमेव ।[2]

1- सा० द० 3/250

2- अ० भा० पृ० 335

केशवमिश्र ने सम्यग्ज्ञान को शान्त का स्थायी बताया है -

सम्यग्ज्ञान समुत्थानः शान्तो निस्पृह नायकः ।
रागद्वेष परित्यागे सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ।।[1]

किन्तु सम्यग्ज्ञान शम का विभाव-रूप तत्वज्ञान है । विभाव को स्थायी मानने में कोई युक्ति नहीं है । आनन्दवर्धन ने ही पहली बार इसकी स्थापना की है ।

यच्चकामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत षोडशी कलाम् ।।[2]

किसी - किसी ने उत्साह, जुगुप्सा अथवा रति को शान्त रस का स्थायी भाव बताया है । किन्तु उत्साह को शान्त से सम्बन्ध स्थापित करना भूल होगी । अभिनव ने आत्म - ज्ञान को ही शान्त का स्थायी माना । अन्य सभी भावों को अस्वीकार करके आत्म-ज्ञान को ही शान्त का स्थायी मानना चाहिए ।

डा० राघवन ने रूद्रभट्ट के अप्रकाशित ग्रन्थ 'रसकलिका' के आधार पर लिखा है कि रूद्रभट्ट ने वीर रस के भेदों के समान शान्त के भी वैराग्य, दोष, निग्रह, सन्तोष तथा तत्व साक्षात्कार नामक चार भेद माने हैं ।

अथ शान्त :- विषयेभ्यो विरक्तस्य तत्वज्ञस्य विवेकिनः ।
रागादिनिर्विकारस्त्वं शान्तिरित्यभिधीयते ।।

सा चतुर्विधा - वैराग्यम् दोषनिग्रह तत्वसाक्षात्कारित वेति ।
विषयेभ्यो निवृत्तिर्वैराग्यम् - रागाद्यभावो दोषनिग्रहः -
तृष्णोन्मूलनं सन्तोष - - - । तत्वसाक्षात्कारः ।[3]

1- अ० शे० पृ० 75
2- ध्व० पृ० 390
3- र० क० पृ० 54

यह चारों वस्तुतः उसके भेद नहीं हैं, अपितु साधन मात्र है । वीर रस के दयावीरादिभेदों से इसकी समानता स्थिर नहीं की जा सकती, क्योंकि दयावीरादि वीर-रस की प्राप्ति का साधन नहीं है और न उनके स्थायी भाव के प्राप्ति साधक ही हैं । किन्तु शान्त रस या उसके स्थायी की उपलब्धि में वैराग्यादि अवश्य ही साधन रूप है । अतएव वे शान्त के भेद नहीं कहे जा सकते ।

निर्वेद प्रायः अमंगल रूप है, अतएव वह प्रारम्भ में ग्रहण करने योग्य नहीं, तथापि व्यभिचारी भाव होकर भी वह स्थायी भाव है । यह बतलाने के लिए उसका प्रथम ग्रहण किया गया है ।

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।[1]

जिसका निर्वेद स्थायी भाव है, वह शान्त - रस भी नवम रस है ।

1- का० प्र० पृ० 157

षष्ठ अध्याय

रस-निष्पत्ति

रसनिष्पत्ति

भारतीय काव्य शास्त्र में रसनिष्पत्ति का विषय सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी रस निष्पत्ति से ही रस का विवेचन प्रारम्भ होता है, भरत ने मूलतः रस के स्वरूप का नहीं अपितु रस निष्पत्ति का ही व्याख्यान किया है -

विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।[1]

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र में संयोग और निष्पत्ति शब्द का प्रयोग है जिसका कि अर्थ अस्पष्ट है इसी को लेकर परवर्ती आचार्यों में गहन शास्त्रार्थ हुआ है। भरत ने निष्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है -

यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति -------- -------- तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।[2]

जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से ‖भोज्य‖ रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी ‖नाट्य‖ रस रूप को प्राप्त होते हैं।

1- ना० शा० - पृ० 93.

2- ना० शा० - पृ० 92.

संयोग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए भरत ने लिखा है कि -

यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसनास्वादयन्ति सुमनसः - ---------- सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।[1]

जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भाव का आस्वादन करते और हर्षादि को प्राप्त होते हैं । नाट्यशास्त्र में रस सम्बन्धी कुछ विवेचन प्रश्नोत्तर शैली में भी मिलता है । उदाहरणार्थ प्रश्न होता है कि रस को रस क्यों कहा जाता है ? उत्तर है कि रस्यमान अथवा आस्वाद्यमान होने के कारण ही इसको रस कहा जाता है । नाट्य से प्राप्त होने के कारण ही इसे नाट्य रस कहा जाता है । भाव से तो रस तो रस की उत्पत्ति होती है, परन्तु रसों से भावों की नहीं । इसके प्रमाण में 'नाट्यशास्त्र' एक अनुवंश्य श्लोक प्रस्तुत करता है जो अधोलिखित है -

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ।।[2]

अर्थात न तो रस भाव से रहित होता है और न भाव रस से, अपितु अभिनय में एक दूसरे सहारे ही इनकी सिद्धि होती है । इस श्लोक का द्वितीय चरण 'नाट्य शास्त्र' के पूर्व स्थापित सिद्धान्त का विरोधी सा प्रतीत होता है, परन्तु बात वस्तुतः वैसी नहीं है । न भावो रसवर्जितः का तात्पर्य यह नहीं कि रस से भावों की उत्पत्ति होती है, वरन इसका

1- ना० शा० - पृ० 93.

2- ना० शा० - 6/36

तात्पर्य केवल इतना ही है कि नाट्य में रस के सम्बन्ध से ही विभावादि को विभावादि कहा जाता है ।

आठ स्थायी, तैंतीस व्यभिचारी तथा आठ सात्त्विक कुल मिलाकर उनचास भाव हैं जो काव्य या नाट्य रस के कारणभूत हैं । सामान्य गुण के योग से रसों की निष्पत्ति होती है । सामान्य गुण का अर्थ साधारणी - कृत रूप से प्रतीत होता है । जिस प्रकार किसी कार्य की सिद्धि राजा तथा उसके अनेक नौकर चाकर मिल कर करते हैं, तो वह सिद्धि राजा की ही कही जाती है, उसी प्रकार प्रधान होने के कारण स्थायी भावों को ही रसत्व को प्राप्त करने वाला कहा जाता है ।

भट्टलोल्लट का रसनिष्पत्ति विषयक मत

यह मीमांसा सिद्धान्त पर आधारित है तथा इनका मत 'रसोत्पत्ति - वाद' कहा जाता है । भरत के रस सम्बन्धी सूत्र का परवर्ती काव्यशास्त्र में अनेक प्रकार से व्याख्यान विवेचन प्रारम्भ हो गया और रससिद्धान्त का क्रमश: विकास होने लगा । भट्टलोल्लट भरत - सूत्र के प्रथम व्याख्याकार हैं । लोल्लट का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । अभिनवगुप्त के ग्रन्थ अभिनवभारती में और ध्वन्यालोकलोचन में लोल्लट के रस सम्बन्धी मत के उद्धरण मिलते हैं ये उद्धरण अत्यन्त संक्षिप्त हैं और अभिनव द्वारा अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये हैं अत: अत्यन्त अपर्याप्त होने के साथ ही सर्वथा प्रामाणिक भी कदाचित नहीं है । इनके अतिरिक्त दूसरा आधार है मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत लोल्लट का मन्तव्य जो और भी संक्षिप्त है तथा अभिनवभारती से उद्धृत मन्तव्य से थोड़ा सा भिन्न भी है । इसके विषय में दो सम्भावनायें हैं - मम्मट ने भी लोल्लट का ग्रन्थ देखा हो और उसके आधार पर उपर्युक्त मन्तव्य उद्धृत किया हो, दूसरा यह कि उनका आधार तो अभिनवगुप्त के ग्रन्थों के तद्विषयक उद्धरण ही रहे हों, परन्तु अपने समय तक विकसित रस - सिद्धान्त के प्रकाश में उन्होंने अभिनव की व्याख्या में थोड़ा सा संशोधन कर दिया हो ।

इसी अत्यन्त अल्प सामग्री के आधार पर लोल्लट के मत की व्याख्या और विवेचना करनी होगी -

विभावादिभि: संयोगाऽर्थात्स्थायिन: ततो रसनिष्पत्ति :-

- - - - -

मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात् ।[1]

1- अ० भा० पृ० 442·

तथाहि पूर्वावस्थायां य स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः । नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाद - यरस इति केचित् ।[1]

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः - - - - - - - - - -

तद्रूपतानुसन्धानात्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट - प्रभृतयः ।[2]

इन उद्धरणों के आधार पर भट्टलोल्लट के मन्तव्य के विषय में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

§1§ संयोग का अर्थ जो भरत ने किया है अर्थात् स्थायी भाव के साथ संयोग वही अर्थ लोल्लट ने भी किया है ।

§2§ स्थायी भाव का आश्रय है अनुकार्य रामादि ।

§3§ सीतादि आलम्बन उसे अनुकार्य के चित्त में उत्पन्न करते हैं । इस प्रसंग में 'उत्पत्ति' और 'उद्भूतता' दो शब्दों का प्रयोग किया गया है । अब प्रश्न यह है कि उत्पत्ति का अर्थ यहाँ वास्तव में 'अभाव' में 'भाव' की कल्पना है या उदबुद्धि मात्र है । यदि 'कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत् लोल्लट के मन्तव्य का ही अंश है, तब तो विवाद केवल शाब्दिक रह जाता

1- ध्व0 चौखम्बा द्वितीय उद्योत

2- का0 प्र0 चतुर्थ उल्लास

है । जब स्थायी भाव वासना रूप से विद्यमान है, और विभाव ही उसको उदबुद्ध ही करता है तब तो उदबुद्धि और अभिव्यक्ति में कोई भेद ही नहीं रह जाता । किन्तु यदि यह टिप्पणी केवल अभिनव की है तब उत्पत्ति का आधार असत्कार्यवाद ही मानना पड़ेगा ।

§4§ अनुभाव का अर्थ रस-जन्य चेष्टायें नहीं हैं अर्थात् श्रृंगार रस में विभोर राग की चेष्टायें नहीं वरन भावों के अनुवर्ती विकास अर्थात् उपचित स्थायी भाव के नही अनुपचित स्थायी भाव और व्यभिचारियों के भी अनुवर्ती विकार । उपचित स्थायी भाव रस है अत: उसके अनुवर्ती विकार तो कार्य ही होंगे कारण नहीं, जबकि अनुपचित स्थायी भावों के और संचारियों के अनुवर्ती विकार स्थायी भाव के उपचय के कारण होते हैं ।

§5§ व्यभिचारी स्थायी के सहभावी होते हैं । किन्तु 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिंगम्' अर्थात मन में एक साथ दो चेतनायें नहीं हो सकती । इस नियम के अनुसार स्थायी और व्यभिचारी में सहभाव कैसे माना जा सकता है । अत: व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के साथ रहते हैं, युगपत स्थिति में नहीं ।

§6§ रस मूलत: एवं मुख्यत: अनुकार्यगत होता है और गौण रूप में अनुसंधान के बल से नटगत भी । अभिनव द्वारा उद्धृत वाक्यावली के अनुसार अनुसन्धान-कर्त्ता नट ही है - अनुसन्धान के बल से उसमें भी रस की उत्पत्ति हो जाती है । यहां अनुसन्धान शब्द व्याख्यापेक्षी हैं । 'अनुसन्धान' शब्द के आचार्यों ने अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं §1§ आरोप §2§ अभिमान, §3§ योजन । इसके आधार पर अभिनव द्वारा उद्धृत वाक्य में आरोप का अर्थ होगा नट में रामात्वादि का आरोप, अभिमान का अर्थ होगा नट का उस समय के लिये

अपने को रामादि समझना और योजन का अर्थ होगा पहले जो मैं नट था वही अब मैं राम हूँ {अशुद्धानुसंधान} और इसके बाद "मैं राम हूँ" {शुद्धानु-संधान} इन तीनों में स्थूल दृष्टि से तो विशेष भेद नहीं है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह भेद स्पष्ट हो जाता है ।

नट में रामादि अनुकार्य की तुल्यता के अनुसन्धान के कारण सामा-जिक उन्हीं पर रामादि का आरोप कर लेता है । परिणामस्वरूप सामाजिक चमत्कृत होकर आनन्द का अनुभव करता है ।

नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः ।[1]

संक्षेप में रस सूत्र की लोल्लट कृत व्याख्या का रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं । अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध से उसकी अनुमिति कराते हैं तथा व्यभिचारी भाव पोषक-पोष्य भाव से सम्बन्ध से उसकी रस रूप में पुष्टि करते हैं । इस रस की अवस्थिति यद्यपि मूल रूप में अनुकार्य में ही होती है, तथापि अनुकर्ता के कौशलपूर्ण अभिनय के कारण प्रेक्षक उसी पर रामादि का आरोप कर लेता है ।

<u>मत की आलोचना</u> -

लोल्लट के मत के इस रूप के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक पक्षों से आक्षेप किये हैं । नैयायिकों की ओर से लोल्लट के उत्पत्ति सिद्धान्त का खण्डन न्यायनुमोदित कारण-कार्य सिद्धान्त के आधार पर किया गया है ।

1- का० प्रदी० पृ० 88.

नैयायिक रस-विषयक उत्पत्तिवाद को दो कारणों से अस्वीकार करते हैं । उनके कार्य कारण सिद्धान्त से इस उत्पत्तिवाद को समर्थन प्राप्त नहीं होता । कार्यकारणवाद के अनुसार कारण को नियत पूर्ववर्ती माना जाता है किन्तु रस को विद्वानों ने असंलक्ष्यक्रम घोषित करके मानों इसके विभावादि के पौर्वापर्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया है । दूसरे रस को 'विभावादि-जीवितावधि' कहकर मानो यह स्पष्ट कर दिया है कि विभाव आदि कारणों के नष्ट होने के साथ ही रस की सत्ता भी समाप्त हो जाती है । इसके विपरीत व्यवहारिक जगत में देखा जाता है कि निमित्त कारण का नाश कार्य को प्रभावित नहीं करता । अतः लोल्लट के उत्पत्तिवाद की, नैयायिक दृष्टि में सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती ।

सामानाधिकरण सिद्धान्त द्वारा खण्डन -

सामानाधिकरण सिद्धान्त के अनुसार जिसमें कार्य उत्पन्न होता है उसी में कारण भी विद्यमान रहना चाहिए, किन्तु भट्टलोल्लट अनुकार्य में रस मानते हुए भी आस्वाद का अधिकारी प्रेक्षक को स्वीकार करते हैं । प्रेक्षक और अनुकार्य सर्वथा पृथक हैं । ऐसी दशा में कारण को अनुकार्यगत तथा कार्य को प्रेक्षकगत मानने से समानाधिकरण की सिद्धि नहीं होती अतएव रसास्वाद का सिद्धान्त उक्त मत के अनुकूल नहीं पड़ता ।

उपचितावस्था और शंकुक द्वारा खण्डन -

लोल्लट के परवर्ती आचार्य शंकुक ने उनके द्वारा प्रतिपादित 'स्थायी भाव की उपचितावस्था' सिद्धान्त को अमान्य घोषित करते हुए कहा है कि स्थायी भाव की उपचितावस्था को रस और अनुपचितावस्था को भाव मात्र मानने पर उसकी मंद, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यस्थादि स्थितियों की अनावश्यक कल्पना करनी होगी तथा रस की भी तीव्रतम, तीव्रतरादि कोटियाँ

स्वीकार करनी होगी दूसरे यदि उपचित स्थायी भाव ही रस है तो हास्य के स्मित अवहसितादि छः भेदों को किस आधार पर स्वीकार किया जा सकेगा। अतः अनेक आधार पर की गई रस-कल्पना भी निर्मूल ही मानी जायेगी।

किं च अनुपचितावस्थः स्थायीभाव उपचितावस्थो रसं इत्युच्यमाने एकैकस्य स्थायिनो - - - - - - - - - तस्मान्न भावपूर्वत्वं रसस्य ।[1]

आरोपवाद और उसकी अनुपयुक्तता -

भट्टलोल्लट का मत था कि अनुकर्त्ता पर ही हम वास्तविक अनुकार्य का आरोप कर लेते हैं और उसका परिणाम हमारे लिये आनन्दमय होता है। उसी चमत्कार रूप आस्वाद को हम रस कहते हैं। इसी कारण लोल्लट के मत को आरोपवाद कहा जाता है। किन्तु हम एक वस्तु पर अन्य वस्तु का आरोप तभी कर सकते हैं जब हमें उसके सदृश किसी अन्य वस्तु का ज्ञान होने के साथ - साथ उस वस्तु का स्मरण भी हो। उदाहरणतः रज्जु को सर्प समझने के लिए पूर्व से ही रज्जु तथा सर्प की समानता का बोध और उसका स्मरण न होने पर आरोप सम्भव नहीं। इस विचार के प्रकाश में लोल्लट का आरोपवाद खरा नहीं उतरता। लोल्लट ने जिस अनुकार्य में रस माना है। वह पौराणिक काल्पनिक, ऐतिहासिक अथवा समकालीन कोई भी हो सकता है। ऐतिहासिक पौराणिक तथा काल्पनिक व्यक्ति के सम्बन्ध में यह निःशंक भाव से कहा जा सकता है कि प्रेक्षक उनमें से किसी से भी परिचित नहीं होता, वह उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखे हुए भी नहीं है। समकालीन अनुकार्य को भी सभी ने देखा ही हो, यह अनिवार्य नहीं है। अतः अनुकार्य से अपरिचित रहकर भी प्रेक्षक किस भांति उनका आरोप नट पर कर सकता है, इसका उत्तर भट्टलोल्लट नहीं दे पाये

1- काव्या० पृ० 90

करुण दृश्य और आरोप की निस्सारता -

आरोप मात्र से दूसरे का दुःख भी सुख या आस्वादनीय दशा में परिवर्तित हो जायगा, यह कल्पना भी अनहोनी है । किसी व्यक्ति का किसी अन्य व्यक्ति पर आरोप करके प्रेक्षक को आनन्द क्यों होगा ? राम, सीता अथवा हरिश्चन्द्र के दुःख का नट में आरोप कर देने मात्र से वह दुःख सुख में परिवर्तित हो जायेगा, यह विचित्र कल्पना है । व्यवहारिक दृष्टि से वह शोक के रूप में ही रहेगा अतएव लोल्लट का मत व्यवहार्य नहीं कहा जा सकता ।

आरोप रस तथा अनुभूति -

आरोपवादीरस के ज्ञान मात्र से प्रेक्षक को आनन्द की कल्पना करता है । किन्तु रस आस्वादनीय होने के कारण ज्ञानलभ्य नहीं, अपितु अनुभूत्या - त्मक है । अनुभूति बौद्धीक ज्ञान से सर्वथा भिन्न है । ज्ञान बुद्धि का सहारा लेता है और अनुभूति हृदय का कोना ढूंढती है । पहले में सत्यासत्य का विवेक जाग्रत होता है और दूसरे में हृदय डूब जाता है । जिस प्रकार चन्दन शीतल होता है उसकी शीतलता का अनुभव नहीं किया जा सकता अपितु लेप करने पर ही शीतलता का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है । उसी प्रकार राम, सीता में रति है यह तथ्य हमें आनन्द नहीं दे सकता । इसके लिए हमारी स्वयं की अनुभूति आवश्यक है ।

भट्टलोल्लट का पक्ष -

इन सभी आक्षेपों को देखते हुए अनेक विद्वानों ने भट्टलोल्लट के मत का समर्थन किया है । इन विद्वानों ने भट्टलोल्लट को मीमांसक के रूप में

देखा है किन्तु स्पष्ट रूप से यह ज्ञात नहीं हो पाया कि मीमांसा दर्शन के आधार पर उनके मत का कैसा स्वरूप होना चाहिए । मीमांसा वेदवादी दर्शन है और वेद की प्रामाणिकता के लिए वेदातिरिक्त वह किसी बाह्य प्रमाण की खोज में विश्वास नहीं रखता । अत: इसे स्वत: प्रामाण्यवाद भी कहा जाता है । मीमांसकों का एक दल अख्यातिवाद का पोषक है । उनका मत है कि किसी वस्तु के ज्ञान का प्रमाण वह वस्तु स्वयं है तथा किसी काल - विशेष में होने वाला किसी वस्तु का बोध उस काल में उस वस्तु का सत्य ज्ञान ही है । अन्य किसी समय में यह ज्ञात होता है कि अमुक वस्तु वह नहीं है, जो हमने समझी थी । जिस समय वस्तु के सम्बन्ध में जो बोध होता है उसी समय किसी विरोध का ज्ञान न होने के कारण, वह ज्ञान ही हमारे लिये सत्य है । मीमांसक की विचार सरणि में भ्रम की कहीं भी सत्ता नहीं है । यही कारण है कि भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में इसकी चर्चा नहीं आई है ।

लोल्लट ने रसास्वाद को प्रेक्षक की दृष्टि से अनुभव नहीं किया । यदि हम यह स्वीकार कर लें तो लोल्लट का सिद्धान्त तत्सम्बन्धी आक्षेपों से मुक्त हो जाता है और आरोपवाद की कल्पना परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित हवाई महल के समान निस्सार सिद्ध हो जाती है । यह आक्षेप अवश्य किया जा सकता है कि प्रेक्षक का विचार न रखने से उनका मत एकांगी हो गया । प्रेक्षक ही रस की वास्तविक आश्रय भूमि है । इस पक्ष को छोड़ देने से रस सूत्र की सम्यक विवृत्ति नहीं हो सकती । परन्तु इतना अवश्य है कि अनुकार्य को ही वास्तविक रसाश्रय मानकर उन्होंने कवि वर्णित अनुकार्य की ओर संकेत करते हुए कवि-कल्पना को श्रेय देने का प्रयत्न किया है । अनुकार्यगत रस मानने का तात्पर्य यदि इस प्रकार ग्रहण किया जाये तो आपत्ति और भी कम हो जाती है । कवि कल्पना के अनुसार ही अनुकर्त्ता भाव प्रदर्शन की चेष्टा करता है और उसी के अनुरूप प्रेक्षक उसे ग्रहण करता हुआ आनन्दित होता है ।

शंकुक का रसनिष्पत्ति विषयक मत

भरत के रससम्बन्धी सूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याता शंकुक हैं । इनका मत न्याय सिद्धान्त पर आधारित है । भट्टलोल्लट के समान ही केवल नाममात्र शेष है । रसानुमितिवाद मत से सम्बद्ध कुछ उद्धरण 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक' लोचन में और एकाद उद्धरण काव्य - प्रकाश में मिलता है - हेमचन्द्र तथा प्रदीपकार की रस विवेचनाओं में उद्धृत शंकुक का मत प्रायः इन्हीं पर आधारित है ।

तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यैः - - - अनुकरणत्वादेव
च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः ।
विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः । - - - वाचिका -
भिनयरूपतयाऽवगमयन्ति ।

x x x x x

अतएव स्थयिपद सूत्रे भिन्नविभक्तमपि नोक्तम् - - - - - - - -
- - - - - - अर्थक्रियादि मिथ्याज्ञान दृष्टा -
मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।। इति
न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः । - - - - - - -
- - - — यः सुखी रामः असावयमिति
प्रतीतिरस्तीति । तदाह -
प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ।।

विरूद्धबुद्धिसम्भेदाद् अविवेचितसम्प्लव: ।
युक्तया पर्यनु युज्यते स्फुरन्ननुभव: कथा ।।[1]

ध्वन्यालोक लोचन के दूसरे उद्योत में शंकुक का नाम दिये विना ही अभिनवगुप्त ने उनकी रस विषयक मान्यता को उद्धृत किया है : -

अन्ये तु - अनुकर्तीर य: - - - - इति नाट्याद्
रसा नाट्यरसा: ।[2]

मम्मट ने काव्यप्रकाश में शंकुक का मत उद्धृत किया है -

काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिवर्तितस्वकार्यप्रकटेन च नटेनैवप्रकाशितै: - - - सामाजिकानां वासनया वर्व्यमाणो रस इति श्री शंकुक: ।[3]

इन उद्धरणों के आधार पर शंकुक का अभिप्राय इस प्रकार है -

1- अनुकार्यगत स्थायी भाव का नट द्वारा अनुकृत रूप रस संज्ञा से अभिहित होता है - अर्थात स्थायी भाव वस्तुत: अनुकार्य रमादि में ही अवस्थित रहता है । नट अपने कौशल द्वारा उसका अनुकरण करता है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी स्थायी भाव का अनुभव कर रहा है । "स्थायी भाव की यह नाट्यानुकृत्ति ही रस है ।"

2- विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तो नाट्य में उपस्थित रहते हैं, किन्तु स्थायीभाव उपस्थित नहीं होता । शब्द आदि से केवल उसका वोध हो सकता है प्रतीति नहीं - उसका उपस्थापन तो केवल अभिनय के द्वारा ही हो सकता है । अत: सामाजिक विभावादि लिंगों से उसका अनुमान करता है । 'नट द्वारा अनुक्रियमाण रामादि के स्थायी भाव ।'

1- अ0 भा0 पृष्ठ : 446 - 50

2- ध्व0 लो0 द्वितीय उद्योत

3- का0 प्र0 चतुर्थ उल्लास

3- अनुकरण की प्रक्रिया [क] विभावादि का अनुकरण काव्य के आधार पर होता है - अर्थात कवि ने विभावादि का जैसा चित्रण नाटक में किया है अनुकर्त्ता उसी के अनुसार व्यवहार करता है [ख] अनुभावों का अनुकरण अभिनय कला की शिक्षा से सम्भव हो जाता है । [ग] व्यभिचारी भावों का अनुकरण नट अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा कर लेता है - लोकानुभव में नट चिन्ता, हर्ष आदि में मनुष्य की जिस प्रकार की मुद्रा देखता है वैसी ही मुद्रायें चिन्ता, हर्ष आदि के वास्तविक अनुभव के विना ही कृत्रिम रूप से बनाकर उक्त व्यभिचारियों का अभिनय कर लेता है - इस प्रकार विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी का अभिनय इस कौशल के साथ किया जाता है कि कृत्रिम होने पर भी वास्तविक प्रतीत होते हैं ।

यह विवेचन अभिनय - कला की दृष्टि से तो उपयोगी है ही, एक विशेष महत्त्व इसका यह भी है कि अनुकार्य के वास्तविक स्वरूप का प्रश्न क्या है, इसका भी उत्तर पहली बार मिल जाता है । अनुकार्य से अभिप्राय वास्तव में काव्यनिबद्ध रामादि का है, ऐतिहासिक रामादि का नहीं, मूलतः तो ऐतिहासिक रामादि ही अनुकार्य है, परन्तु वे नट के नहीं कवि के अनुकार्य है कवि निबद्ध रामादि ।

4- यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि जब नटगत स्थायी-भाव अवास्तविक है, तो प्रेक्षक द्वारा उसका अनुमान मिथ्या ज्ञान हुआ और इस मिथ्या ज्ञान के आधार पर प्रेक्षक का नाट्य रसास्वादन वास्तविक कैसे माना जायेगा ? इसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है - नट में राम की प्रतीति भ्रान्ति मात्र नहीं है क्योंकि नाट्य में नट को राम के रूप में देखते समय न सन्देह का अनुभव होता है, न यथार्थता का और न भ्रान्ति का ही नट राम है, ऐसा

भी लगता है और नट राम नहीं हैं, यह भी लगता है । ऐसी स्थिति में नट में राम की प्रतीति एक विचित्र प्रतीति होती है जो सन्देह, यथार्थ - ज्ञान, भ्रान्ति किसी भी वास्तविक अनुभव के तद्रूप नहीं है । अतः नाट्य की प्रतीति एक विशेष कला जन्य प्रतीति है, जिसे भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान मानना असंगत है ।

कला की इसी विशिष्ट प्रतीति को 'चित्रतुरगन्याय' का आश्रय लेकर स्पष्ट किया गया है । नट में राम की प्रतीति सम्यक अथवा यथार्थज्ञान नहीं है, क्यों कि नट वास्तव में राम नहीं है । वह मिथ्या ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि नट में रामत्व का आरोप उस तरह से निराधार नहीं है जिस तरह से कि रज्जु में सर्प का भ्रम, वह संशय ज्ञान भी नहीं है अर्थात नाटक का प्रेक्षण करते हुए सामाजिक के मन में यह सन्देह नहीं उठता है कि सामने नट है या राम, क्योंकि सन्देह तो कला प्रतीति का सबसे बड़ा विघ्न है - संशय ग्रस्त मन कला का आनन्द नहीं ले सकता और अन्त में यह प्रतीति सादृश्य ज्ञान भी नहीं है क्योंकि प्रेक्षक को यह प्रतीति नहीं होती कि सामने है तो नट ही किन्तु राम के सदृश है । अतः यह प्रतीति सामान्य न होकर विलक्षण है । जैसे कि अश्व के चित्र में अश्व की प्रतीति अर्थात् यह प्रतीति कला की प्रतीति है जो सामान्य प्रतीति भेद से भिन्न है । इस प्रकार शंकुक ने भी अपने ढंग से कलानुभूति की विलक्षणता का आख्यान किया है ।

शंकुक के मत का खण्डन -

शंकुक के मत का खण्डन अभिनवगुप्त ने अपने आचार्य भट्टतौत के माध्यम से किया है । भट्टतौत के ग्रन्थों के अभाव में यह निर्णय करना आज कठिन है कि ये सभी तर्क भट्टतौत के ही हैं अथवा अभिनवगुप्त के

अपने तर्क भी इसमें अन्तर्भुक्त हैं । इनका खण्डन का सारांश यही है कि प्रेक्षक की दृष्टि से स्थायी भाव का अनुकरण सिद्ध हो सकता है, न नट की दृष्टि से, न तत्व विवेचक की दृष्टि से और न भरत ने ही इनका संकेत किया है ।

प्रेक्षक की दृष्टि से अनुकरणवाद का खण्डन :-

प्रमाण के अभाव में प्रेक्षक यह कैसे अनुभव कर सकता है कि नट राम का अनुकरण कर रहा है । अनुकरण की प्रतीति के लिये तो अनुकार्य और अनुकर्त्ता की क्रिया - दोनों का ज्ञान अपेक्षित है, जिसने रामादि को देखा है वही उनके रूप व्यवहार की अनुकरण की प्रतीति कर सकता है पर रामादि को किसने देखा है । विभावादि के अनुकरण की प्रतीति जहाँ इन्द्रियों के माध्यम से होती है, वहाँ स्थायीभाव के अनुकरण की प्रतीति मन {आत्मा} का विषय है, अतः मूर्त विभावादि की ऐन्द्रिय प्रतीति के द्वारा अमूर्त भाव की मानसिक प्रतीति की कल्पना असंगत है । यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार लोक जीवन में नर नारी के वास्तविक व्यवहार को देखकर सामाजिक को रति की प्रतीति होती है इसी प्रकार रंगमंच पर भी नट नटी के कृत्रिम व्यवहार को देखकर सामाजिक को रति की प्रतीति होती है तो यह तर्क भ्रान्त है । कारण यह है कि यदि प्रेक्षक नट नटी के व्यवहार को कृत्रिम समझता है तब उसे रति की भ्रान्ति मात्र हो सकती है - कृत्रिम या अनुकृत रति की प्रतीति नहीं और यदि वह नट नटी को वास्तविक समझता है तब उसे वास्तविक रति की प्रतीति होगी, रति के अनुकरण की नहीं । अन्त में यह तर्क दिया जाय कि सामाजिक को नट वस्तुतः क्रुद्ध न होने पर भी क्रुद्ध सा प्रतीत होता है और स्थायी भाव के सादृश्य की प्रतीति ही उसके अनुकरण की प्रतीति है - तब भी तथ्य की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सादृश्य

की प्रतीति मान लेने पर तो सामाजिक को नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति ही होगी । इस प्रकार प्रेक्षक की दृष्टि से स्थायी भाव की अनुक्रिय - माणता सिद्ध नहीं हो पाती ।

नट की दृष्टि से अनुकरणवाद का खण्डन :-

नट की दृष्टि से भी स्थायी भाव का अनुकरण सिद्ध नहीं होता । यदि अनुकरण का अर्थ है - सदृशकरण, तब मूल व्यक्ति को देखे बिना कैसे सम्भव है ? और यदि उसका अर्थ पश्चाद्करण तब नट ही क्यों, कोई भी व्यक्ति जो रत्यादि का अनुभव करता है रामादि के स्थायी भाव का अनुकरण कर सकता है - फिर तो लौकिक भावानुभूति भी रस हो जायेगी । एक प्रश्न यह उठता है कि नट शोकादि स्थायी भाव का अनुकरण किस साधन के द्वारा करता है, अपने शोकादि के द्वारा । तब यह अनुकरण प्रत्यक्ष शोक की अनुभूति से भिन्न कैसे हुआ ? अश्रुपात आदि से किन्तु नट के अश्रुपात से तो अनुकार्य के अश्रुपात अर्थात अनुभाव का ही अनुकरण हो सकता है, स्थायी भाव का नहीं । शंकुक की ओर से एक विकल्प और भी प्रस्तुत किया जा सकता है - नट जीवनगत अनुभव के आधार पर अपने रत्यादि भावों के आलम्बनादि का स्मरण कर तदनुरूप अनुभावों का प्रदर्शन करता हुआ उचित कण्ठध्वनि से काव्य का उच्चारण कर स्थायी भाव का अनुकरण करता है, किन्तु यह भी स्थायी भाव अनुकरण नहीं कहा जा सकता - अतः नट की दृष्टि से भी स्थायी का अनुकरण असिद्ध है ।

वस्तुस्थिति की दृष्टि से अनुकरणवाद का खण्डन :-

तत्व दृष्टि से वस्तुस्थिति का विवेचन करने पर भी रस की अनुकरण - रूपता सिद्ध नहीं होती । अभिनव का तर्क है कि 'बाद में प्रतीत होने वाले को

वस्तुवृत्त नहीं कह सकते ।[1] इस वाक्य का वास्तविक अर्थ क्या है यह स्पष्ट नहीं है । अभिनव ने यहाँ केवल इतना कहा है और जो वास्तव में वस्तुवृत्त है, उसको हम आगे चलकर कहेंगे । आचार्य विश्वेश्वर, डा० कान्ति चन्द्र पाण्डे आदि ने भी इस पर प्रकाश नहीं डाला है । इसका आशय कदाचित यह है कि अनुकरण बाद की घटना होती है - तथ्य के घटित होने के बाद ही उसका अनुकरण सम्भव है । अतः अनुकरण की प्रतीति 'अनुव्यवसायमान' तथ्य है जबकि रस सद्यःपरनिर्वृतिरूप है । इस प्रकार तथ्य दृष्टि से रस अनुकरण रूप नहीं माना जा सकता ।

शंकुक के मत की वास्तविक त्रुटि यह है कि कृत्रिम विभावादि के द्वारा रस का अनुमान करने के कारण उपस्थित हुई है । उनका मत है कि कृत्रिम विभावादि के द्वारा अनुमान की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? अनुमान तो वास्तविक विभावादिलिंग से ही सिद्ध हो सकता है ।

शंकुक ने इस आपत्ति की कल्पना करके ही अभिनेता के अभिनय कौशल के सहारे अनुमान की सिद्धि मानी थी । उन्होंने बताया कि यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे कहीं दूर पर उठती धूल को देखकर उसे धूम समझकर उस स्थान पर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है -

> नन्वेवं कृत्रिमाणां तेषां व्याप्त्यभावात्कथमनुमापकत्वमितिचेन्न । उपस्थापक विशेषमहिम्ना रत्यादिकार्यत्वेन ज्ञातेभ्यस्तेभ्योऽनुमानसंभवात् धूमत्वेन ज्ञाताद् धूलीपटलादग्न्यनुमानवत् ।[1]

किन्तु शंकुक का तर्क अपनी कसौटी पर खरा नहीं उतरा । उनके उदाहरण में धूल अर्थात साधनपद अनुमानकर्ता से बहुत दूर हैं । इतनी दूर है कि उसे धूल और धूम में अन्तर ही नहीं ज्ञात होता । किन्तु नाट्य में दर्शक के लिए

1- र० प्र० पृष्ठ 23

रंगमंच प्रत्यक्ष और समीप है, जिससे इस प्रकारके अनुमान की आवश्यकता नहीं पड़ती । नाट्य में तो दर्शक पूर्व से ही जानता है कि उसके पात्र वास्तविक नहीं है , नट या अवास्तविक मात्र है । यह जानते हुए भी उसे तो आनन्द आता है निश्चय ही उसका अनुमानातिरिक्त कोई कारण होना चाहिए ।

नटे स्थायिबोधप्रतिसन्धानेऽपि सामाजिकानां रसोद्बोधनानुमितिपक्ष - स्यासम्भव इत्यादि बोध्यम् ।[1]

शंकुक के मत में एक त्रुटि यह भी है कि वह न्याय सिद्धान्त की जिस आधार भूमि पर पनपा है उसी के विरोध में खड़ा प्रतीत होता है । नैयायिक क्षणिकवाद के प्रतिपादक है, उनके अनुसार आनन्द की अनुभूति भी क्षणिक होना चाहिए, किन्तु रसानुभूति को क्षणिक मानने से काव्य की रोचकता में विघ्न उपस्थित होता है ।

भरत के मत से भी रसानुकरणवाद सिद्ध नहीं होता क्योंकि नाट्य - शास्त्र में ऐसा कोई भी संकेत नहीं है - वरन उसके विरुद्ध ही कुछ प्रमाण मिल जाते हैं । भरत की यह उक्ति भी कि 'नाटक में सप्तद्वीप का अनुकरण होगा' उक्तमत की पोषणा नहीं करता । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब नाटक में सारे संसार का अनुकरण होता है तब स्थायी भाव का ही अनुकारण ही क्यों न माना जाये ? इसका उत्तर यह है कि यदि यह मान भी लिया जाये कि स्थायीभाव का भी अनुकरण होता है, फिर भी यह तो सिद्ध नहीं होता कि स्थायी भाव का यह अनुकरण 'रस' है ।

इस प्रकार शंकुक का अनुकृतिवाद सर्वथा असिद्ध हो जाता है । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सिद्धान्त को अनुमितिवाद की अपेक्षा

1- का० प्रदी० टीका पृ० 65

मूलत: अनुकृतिवाद कहना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि अभिनव का पूरा बल अनुकृतिवाद के खण्डन पर ही है । आगे चलकर मम्मट ने सहृदय की दृष्टि से व्याख्या करते हुए रस की अनुमिति पर अधिक बल दिया और उनके अनुसरण पर शंकुक का सिद्धान्त अनुमितिवाद नाम से प्रसिद्ध हो गया । परन्तु इस प्रसंग में ऐतिहासिक दृष्टि से मम्मट की अपेक्षा अभिनव का मत निश्चय ही अधिक प्रामाणिक है ।

शंकुक के सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है । भरत का दृष्टिकोण व्यवहारिक ही है उन्होंने मूलत: नाट्य व्यवसाय और गौणत: सामाजिक को दृष्टि में रखते हुए रस का व्यवहारिक विवेचन किया है, जिसमें दर्शन का प्रपंच नहीं है । लोल्लट के विवेचन में दार्शनिक चिन्तन का प्रवेश तो अवश्य हो गया है पर वह उनकी दृष्टि पर आरूढ़ नहीं हुआ और भरत के समानान्तर चलते हुए उन्होंने अपनी व्यवहारिक दृष्टि पर ही अधिक विश्वास किया है । उनके दार्शनिक सिद्धान्त के विषय में बड़ा विवाद है - और वास्तव में उचित प्रमाण के अभाव में उसका निर्णय करना सम्भव भी नहीं है । परन्तु शंकुक के विषय में इस प्रकार के सन्देह के लिए विशेष अवकाश नहीं है । उपलब्ध उद्धरणों से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रवृत्ति निश्चय ही दर्शन की ओर थी - उन्होंने अपने रस विवेचन में दर्शन का उपयोग किया है और उसका आधारभूत दर्शन निश्चय ही न्याय है । लिंगो के द्वारा लिंगी का अनुमान तथा 'चित्रतुरगन्याय' आदि की धारणाएँ तथा शब्दावली इसका प्रमाण है । किन्हीं विद्वानों का यह भी तर्क था कि शंकुक की आस्था वैदिक न्याय की अपेक्षा बौद्ध न्याय में ही अधिक थी । किन्तु यहाँ एक शंका उठती है और वह यह कि रस सिद्धान्त के प्रति एक बौद्ध दार्शनिक के आकृष्ट

होने की सम्भावना कहाँ तक हो सकती है ? वैदिक दर्शनों - विशेषकर शैव दर्शन आदि के साथ रस सिद्धान्त का जैसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है वैसा अवैदिक दर्शनों के साथ नहीं ।

शंकुक भट्टलोल्लट से कुछ आगे ही बढ़े हैं । यद्यपि वे अनुकर्ता की स्वानुभूति को बिलकुल भी स्वीकार नहीं करते और न कवि को ही मान्यता देते हैं । किन्तु चित्रतुरगन्याय की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि उन्हें कवि कल्पना स्वीकार थी । जिस प्रकार कोई भी चित्र बनाकर चित्रकार की कल्पना के सजीव रूप में उपस्थित नहीं हो सकता, उसी प्रकार विना कवि कल्पना के ऐतिहासिक पात्रों में भी प्राणस्पन्दन नहीं भरा जा सकता । कवि का कल्पना तथा स्मृति का योग तो स्वीकार करना ही होगा । शंकुक की प्रधान त्रुटि यही थी कि उन्होंने अनुकर्ता की कल्पना और स्मृति को लक्षित नहीं किया । साथ ही प्रेक्षक को भी केवल अनुमान के सहारे छोड़ दिया ।

भट्टनायक का रसनिष्पत्ति विषयक मत

भट्टनायक का मत सांख्य सिद्धान्त पर आश्रित है । भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक का मत रसभुक्तिवाद नाम से विख्यात है । अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन दोनों में ही इनके मत का विवेचन अधिक विस्तार एवं आदर के साथ किया है, यद्यपि यहां भी उनका मत खण्डनात्मक ही रहा है ।

भट्टनायकस्त्वाह रसा न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते
--------- देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात् ।
न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात् - - - - - - - - - - - - तन्न
प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता । उत्पत्तावपि तुल्यमेतद् दूषणम् ।
शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य - - - - - - - - - - व पूर्ववद् विकल्पयम्
तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन - - - - - - - - - - -
परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति ।[1]

ध्वन्यालोकलोचन में भी भट्टनायक मे मत का लगभग 32 पंक्तियों में विवेचन है । परन्तु उसमें मुख्यत: खण्डन ही किया गया है ।

काव्यप्रकाश का उद्धरण निश्चय ही उपयोगी है । वह यद्यपि अत्यन्त संक्षिप्त है, फिर भी अभिनवभारती के उद्धरण से उसमें दो मार्मिक स्थलों पर भेद है, जो भट्टनायक के मत की व्याख्या में निश्चयपूर्वक योगदान करता है ।

1- अ० भा० पृष्ठ 462 - 465

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति - सतत्वेन भोगेन भुज्यते ।[1]

भट्टनायक रस सूत्र की व्याख्या के हेतु नवीन मार्ग का अवलम्बन लिया । भट्टनायक के समय तक ध्वनि सिद्धान्त प्रचारित हो चुका था । भट्टलोल्लट तथा शंकुक की व्याख्यायों में दो प्रधान दोष है । यदि एक ओर उनकी व्याख्या परगतत्व दोष से दूषित है तो दूसरी ओर आत्मगतत्व दोष से भी मुक्ति नहीं मिल पाई है । दोनों आचार्य रस को अनुकार्यगत मानकर चले हैं । इनके सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि आदरणीय पात्रों के प्रति हमारी रति कैसे उत्पन्न होगी । रस को अनुकार्यगत मानने पर नट अथवा प्रेक्षक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता । नट भी परगत भावों के प्रदर्शन में न तो सफल हो सकता है और न उसकी रूचि ही होगी । परिणाम - स्वरूप नट तथा सामाजिक दोनों तटस्थ रहने की चेष्टा करेंगे । तटस्थता औदासीन्य का बोधक है । उदासीन व्यक्ति से आस्वाद की आशा भी नहीं की जा सकती । अतः भट्टलोल्लट तथा शंकुकादि का मत दोषपूर्ण है ।

भट्टनायक ने उक्त दोषों को दूर करने के लिये जिन उपायों का सहारा लिया है उनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय साधन है, तीन शक्तियां । भट्ट - नायक ने पूर्व स्वीकृत अभिधा शक्ति के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियों की स्थापना की ।

1- का० प्र० पृ० 106 - 107

अभिधा अर्थ विषयक व्यापार है । किसी काव्य का पाठ करते उसे सुनते अथवा दृश्य देखते हुए सबसे पहले जिस शक्ति के सहारे सामाजिक को ज्ञान प्राप्त होता है, वह अभिधा ही है । दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप को सुनकर हम तुरन्त अभिधा शक्ति के सहारे उसका अर्थ ग्रहण करते हुए भी यह समझ जाते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्ति से कुछ कह रहा है । काव्य में यह व्यक्ति बोध एक बाधा उपस्थित करता है, क्यों कि यदि प्रेक्षक या श्रोता शकुन्तला और सीता को उनके व्यक्तित्व के साथ जानता है तो उन्हीं में रस समझकर तटस्थ रह सकता है । अतः भट्टनायक ने व्यक्तिशून्य बोध के लिए भावकत्व शक्ति की कल्पना की । भावकत्व ही एक मात्र वह शक्ति है जो व्यक्ति को सविध हृदय बनाये रखती है । उसी के कारण अभिधा में विलक्षणता आती है और वही रस आस्वाद्य के लिए मन को तैयार करती है । भट्टनायक का विचार है कि यदि भावकत्व शक्ति ही न हो तो काव्य में वृत्ति भेद, श्रुति कटु आदि दोष वर्जन आदि का भी कोई महत्व नहीं है । तात्पर्य यह है कि अभिधा का महत्व केवल अर्थ ग्रहण करा देने तक ही है, मन में अर्थ रमा देने के लिए किसी दूसरी शक्ति का सहारा चाहिए, यह दूसरी शक्ति भावकत्व ही है ।

तत्राभिधा भागो यदि शुद्धः स्यात्ततन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलंकाराणां को भेदः ? वृत्तिभेदैवैचित्र्यं चाकिंचित्करम् । श्रुतिदुष्टादिवर्जनम् च किमर्थम् ? तेन रसभावानाख्योद्वितीयो व्यापारः यद्वशाभिधाविलक्षणैव ।[1]

1- ध्व0 लो0 द्वितीय उद्योत पृष्ठ 182-183

भट्टनायक के अनुसार काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व है । सामाजिक इस शक्ति के द्वारा भावकत्व द्वारा भावित रसादि का भोग करता है । यह भोग साधारण, लौकिक भोग नहीं है, वरन् यह परब्रह्मास्वाद के सदृश है और अनुभव तथा स्मृति रूप द्विविध लौकिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण है । किन्तु सतोगुण की प्रधानता के द्वारा चित्त का विस्तारादि होने तक चैतन्य - स्वरूप, आनन्दात्मक, परब्रह्मास्वादसहोदर अनुभूतिरूप रस का भोग नहीं हो पाता ।

अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन - - - - - - - - - - - संविदविश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते ।[1]

इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार रस-सूत्र के निष्पत्ति शब्द का अर्थ वस्तुत: भोग है । विभावादि स्थायी के भोजक हैं और स्थायी भोज्य, जिसका विभावादि के सहारे भोग किया जाता है । भट्टनायक के रस सम्बन्धी मत के दो पक्ष हैं -

(1) निषेध पक्ष (2) विधि पक्ष ।

निषेध पक्ष :-

भट्टनायक ने निषेध पक्ष में रस की प्रतीति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का खण्डन किया है । प्रतीति तथा उत्पत्ति का फलितार्थ प्राय: सामान्य है । अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है आनन्दवर्धन के ध्वनि तथा व्यंजना सिद्धान्त से । जो भट्टनायक को सर्वथा अग्राह्य था ।

1- अ० भा० पृ० 277

प्रतीति के विषय में पहला प्रश्न तो यह है कि वह परगत होता है या स्वगत ? यदि वह परगत है अर्थात् अनुकार्य अथवा नट रस की प्रतीति करता है, तो सामाजिक का उससे क्या सम्बन्ध । यदि वह स्वगत है अर्थात यह माना जाये कि सामाजिक को स्वयं ही रस की प्रतीति होती है, तब अनेक बाधायें सामने आती हैं ।

प्रतीति के दो रूप हो सकते हैं : प्रत्यक्ष और परोक्ष । रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मानने पर करुणादि रसों में नायक नायिका के शोक से सामाजिक को शोक का अनुभव होगा और दूसरी तरफ शृंगारादि रसों में दूसरों की प्रेम-क्रीड़ा के साक्षात्कार से सहृदय के चित्त में लज्जा, जुगुप्सा आदि का उदय होने से चित्त की तन्मयता नष्ट हो जाती है जिससे रसानुभूति की सम्भावना ही नहीं रहेगी । किन्तु ऐसा होता नहीं है - प्रेक्षक को न तो दुःख का अनुभव होता है और न लज्जा आदि का । क्यों कि प्रेक्षक वास्तविक राम सीता का जिन्होंने दुःख या संभोग सुख का अनुभव किया था, साक्षात्कार नहीं करता । वे तो रस के विभाव नहीं है, राम सीता के कल्पनात्मक रूप ही रस के विभाव हैं, अतएव प्रत्यक्ष प्रतीति - दुःख से दुःख तथा रति क्रीड़ा से लज्जा आदि के उदय होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्यों कि जब कारण ही वास्तविक नहीं है तो कार्य कैसे वास्तविक होगा ? इसके अतिरिक्त काव्यगत विभाव - सीता पार्वती आदि में तो सहृदय की पूज्य बुद्धि है, वे सामान्य कान्ता तो नहीं है, जिसके प्रति उसका सहज रतिभाव हो सके और फिर अलौकिक कार्यों के विषय में क्या कहा जायेगा ? अतः प्रत्यक्ष प्रतीति असिद्ध है ।

परोक्ष प्रतीति के भी दो रूप हैं - [1] शब्दार्थ ज्ञान और [2] स्मृति । इनमें से प्रथम में तो साक्षात्कारात्मक अनुभूति की सम्भावना ही

नहीं है, क्यों कि अर्थबोध मात्र में आस्वाद नहीं होता । स्मृति की कल्पना भी सार्थक नहीं है, क्यों कि स्मरण तो उसका हो सकेगा जिसका कि हमने कभी प्रत्यक्ष दर्शन या अनुभव किया है । अत: परोक्ष प्रतीति भी सिद्ध नहीं होती ।

उत्पत्ति के विरुद्ध में भी सभी तर्क यथावत् प्रस्तुत किये जा सकते हैं । अभिव्यक्ति के विरोध में पहले तो परगतत्व और स्वगतत्व का ही प्रश्न उठता है । यदि पूर्वस्थिति रस की अनुकार्य या नट के चित्त में अभिव्यक्ति मानी जाय तब फिर यही उत्तर होगा कि सहृदय के लिए यह तो व्यर्थ ही हुई । यदि रस की अभिव्यक्ति सहृदय के चित्त में होती है तो विभावादि अभिव्यंजक कारणों के न्यूनाधिक्य से रसाभिव्यक्ति में भी तारतम्य की कल्पना करनी पड़ेगी । जिस प्रकार अभिव्यंजक दीपक आदि का प्रकाश प्रखर होने से पदार्थ का रूप अधिक व्यक्त होता है और मन्द होने से कम, इसी प्रकार काव्य में अभिव्यंजक विभावादि की शक्ति के तारतम्य से रसाभिव्यक्ति में भी तारतम्य सिद्ध हो जायेगा - जो रस की अखण्डता का बाधक होने के कारण अमान्य है । अत: रस की अभिव्यक्ति की कल्पना भी संगत नहीं है ।

विधि पक्ष :-

भट्टनायक के मतानुसार रस की भुक्ति होती है और अपने मत की सिद्धि के लिए वे काव्य के तीन व्यापारों की कल्पना करते हैं । अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व ।

अभिधा जिसके द्वारा काव्य में शब्दार्थ का बोध होता है - यह काव्य इतिहास, पुराण तथा शास्त्रादि सभी में समान रूप से व्याप्त होता है ।

दूसरा व्यापार है भावकत्व । इसकी सत्ता केवल काव्य और नाट्य में ही मिलती है । काव्य में दोषाभाव तथा गुण एवं अलंकार के सद्भाव और नाटक

में चतुर्विध अभिनय के कारण शास्त्रादि से भिन्न प्रभाव क्षमता उत्पन्न हो जाती है । शास्त्रादि में शब्दार्थ से अभिधा के द्वारा जहाँ केवल अर्थ-बोध होता है, वहाँ काव्य में भावकत्व के कारण कई अन्य विशेषताओं का समावेश हो जाता है ।

1- सहृदय के चित्त का व्यक्तिगत राग द्वेष जन्य अज्ञान दूर हो जाता है - अर्थात वह व्यक्तिगत राग द्वेष से मुक्त हो जाता है । अपने पराये की भावना जो आनन्दानुभूति की प्रमुख बाधक है, उस समय नहीं रहती ।

2- विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है - जो इस व्यापार का मूल गुण है ।

3- तत्पश्चात रस भावित हो जाते हैं अर्थात जैसा कि मम्मट के उद्धरण से स्पष्ट है स्थायी भाव भावित होकर रस में परिवर्तित हो जाता है ।

यही रस की निष्पत्ति है : निष्पत्ति का अर्थ है स्थायी भाव का भावित हो जाना । आचार्य विश्वेश्वर ने इसका अर्थ 'साधारणीकृत' किया है ।

आक्षेप :-

अभिनव ने भट्टनायक के मत के विरुद्ध में अनेक आक्षेप किये हैं ।

1- रस तथा रस भोग का अन्तर ही अभिनवगुप्त को अस्वीकार्य है । भावित स्थायी भाव ही रस है, इसमें इनको आपत्ति नहीं है । यह भी मानते हैं कि 'सर्वथा रसनात्मक तथा वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है' - किन्तु यह भाव अन्ततः आस्वाद रूप ही हो जाता है अतः आस्वाद्य और आस्वाद या रस और रस भाव का जो अन्तर भट्टनायक ने कल्पित किया है, वह असंगत है ।

2- दूसरा आक्षेप यह है कि प्रतीति और भुक्ति का भेद मिथ्या है, भुक्ति भी प्रतीति ही है, क्यों कि प्रतीति के बिना किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं है । अतः रस प्रतीति का खण्डन कर रस भुक्ति की स्थापना संगत नहीं है ।

3- तीसरा आक्षेप यह है कि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत 'भोग' के स्वरूप की व्याख्या तात्त्विक नहीं है । उनके अनुसार भोग का अर्थ है - सत्वोद्रेक की अवस्था में चित्त की आत्मा में विश्रान्ति जो प्रकाशानन्दमयी तो होती है किन्तु रजस और तमस के अनुबन्ध के कारण उस स्थिति में भी चित्त में द्रुति, विकास और विस्तार की प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं । रस भोग में चित्त की इन तीन दशाओं की स्थिति अभिनव को अमान्य है । उनका तर्क है कि जितने रस होते हैं उतनी रस प्रतीतियाँ हो सकती हैं - इतना ही नहीं सत्त्व आदि गुणों के अनुपात भेद से प्रत्येक भाव की अनुभूति में चित्त की ये तीन दशायें ही क्यों मानी जाय ? इस उद्धरण में 'का त्रित्वेनैयत्ता'[1] का अर्थ आचार्य विश्वेश्वर ने किया है - अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व - ये तीन व्यापार ही क्यों माना जाये ? किन्तु यह ठीक नहीं है त्रित्व से अभिप्राय यहाँ द्रुति आदि तीन दशाओं का ही हो सकता है ।

4- चौथा आक्षेप यह है कि रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों न मानने पर उसे या तो नित्य माना जायेगा अथवा असत् क्योंकि जो नित्य है उसकी ही उत्पत्ति नहीं होती । इस तर्क को ऐसे भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसकी न उत्पत्ति होती है न अभिव्यक्ति यदि वह सत् है तो उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए और यदि असत् है तो उत्पत्ति होनी चाहिए । संसार में जितने तत्व हैं उनकी सत्ता की कल्पना उपर्युक्त दोनों पद्धतियों में से किसी एक के द्वारा अवश्य होनी चाहिए । दर्शन के सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद सिद्धान्तों की उद्भावना इन्हीं की सिद्धि के लिए हुई । अतः रस की अभिव्यक्ति और उत्पत्ति दोनों का ही निषेध कर देने से उसकी सत्ता ही असिद्ध हो जाती है ।

5- अन्तिम आक्षेप यह है कि भावकत्व एवं भोजकत्व की कल्पना के लिए शास्त्र का कोई प्रमाण भी नहीं है । इन दोनों का कार्य प्रमाण सिद्ध व्यंजना से ही चल जाता है ।

भट्टनायक के मत को सदोष प्रमाणित करते हुए भी उसकी मौलिकता तथा गम्भीर चिन्तन को स्वीकार करना पड़ेगा । उनके द्वारा प्रतिपादित सत्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि को आगे चलकर अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने स्वीकार किया । और उनके समान रस को आगे परब्रह्मास्वाद सहोदर कहने की ऐसी परिपाटी चली जो कि आज़ तक चली आ रही है । उन्होंने रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए दृश्य के साथ - साथ श्रव्य काव्य का भी विचार किया । परब्रह्मास्वादसहोदर रस को स्मृति आदि से भिन्न बताने का काम भी भट्टनायक की ओर से हुआ । तात्पर्य यह है कि भट्टनायक ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह भले ही उनकी नवीन सद्भावनाओं और नवीन नामों के कारण आचार्यों के बीच त्रुटिपूर्ण माना गया हो, किन्तु यह भी सत्य है कि उक्त सिद्धान्त मौलिक होने के साथ - साथ बहुत अंशों में मनोवैज्ञानिक और स्वीकार्य सिद्ध हुआ है ।

अभिनवगुप्त का रसनिष्पत्ति विषयक मत

आचार्य भट्टतौत के शिष्य तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर अभिनव - भारती तथा ध्वन्यालोक पर लोचन नामक नामक टीकाओं के विख्यात लेखक अभिनव - गुप्त शैव सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर आंकने के कारण नवीन आपत्तियों के साथ इस क्षेत्र में उतरे । ये रस सूत्र के चौथे व्याख्याता थे । इनका मत अलंकारशास्त्र पर आधारित है । आलोचना के लिए उन्होंने खण्डन शब्द का निषेध करते हुए संशोधन शब्द का ही व्यवहार किया है । अभिनवगुप्त का मत 'रस व्यक्तिवाद' नाम से विश्रुत है । उनका कथन है कि हमने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों का परीक्षण करने के उपरान्त संशोधन मात्र किया है - खण्डन नहीं ।

भट्टनायक ने रसास्वाद के कारणों पर बड़ी योग्यता पूर्वक प्रकाश डालते हुए भी इस बात को अलक्षित ही छोड़ दिया था कि रसास्वादकर्त्ता प्रेक्षक, पाठक या श्रोता के स्वयं के भावों से भी रसास्वाद में सहायता मिलती है । उन्होंने सारा महत्त्व केवल काव्य शक्तियों को ही दिया । अभिनव ने उनके मत में इस त्रुटि को लक्षित किया और रस का सीधा सम्बन्ध सामाजिक के भावों से बताया । उन्होंने सामाजिक के हृदय में पूर्व से ही स्थित कतिपय वासनारूप संस्कारों की कल्पना की । रस परिपोष के लिए सामाजिक में अनादिवासना की आवश्यकता है । यह वासना सबमें होती है । वासना संवाद ही रस का मुख्य हेतु है ।

अतएव सर्व सामाजिकानामेक घनतयैव प्रतिपते: सुतरां रस परिपोषाय । सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात् ।[1]

1- अ0 भा0 प्रथम भाग पृ0 279

इन्हीं वासनागत संस्कारों को स्थायीभाव कहा जाता है । न्यूनाधिक्य रूप में यह सभी प्राणियों में जन्मजात रूप में पाये जाते हैं ।

जात एव हि जन्तुरियतभि: संविद्भि: परीतो भवति ।

तथा

न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य: प्राणी भवति । केवलं कस्य - चित्काचिदधिका चित्तवृत्ति: काचिदूना ।[1]

किसी में कोई भाव प्रधान होता है किसी में कोई अन्य भाव प्रधान होता है । यदि एक अत्यधिक क्रोधी है तो अन्य अत्यन्त मृदुल, सरल और करुणापूर्ण चित्त वाला दिखाई देता है । कभी ऐसा भी होता है कि एक ही भाव की विशेष साधना के कारण भी दूसरे भाव गौण और प्राय: लुप्त से प्रतीत होने लगते हैं । कभी - कभी अवस्था भेद से भी इनमें गौण प्रधान भाव उत्पन्न होता रहता है । अभिनव को इस विचार की सामग्री वस्तुत: महाकवि कालिदास की निम्न पंक्तियों में मिली -

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु: ।[2]

वासना के रहते हुए भी अभिनव ने सहृदय के लिए काव्यानुशीलना - भ्यास, लौकिक अनुभव, विमल प्रतिभाशालीहृदय तथा वीतविघ्नता को रसास्वाद के लिए आवश्यक बताया है । जब तक सामाजिक का हृदय वीतविघ्न

1- अ0 भा0 प्रथम भाग पृ0 282

2- अ0 शा0 5/2

स्थिति में न पहुँचेगा, तब तक रसास्वाद की कल्पना नहीं की जा सकती । वस्तुतः रस तो वीतविघ्नप्रतीति ही है ।

सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः ।[1]

तटस्थता तथा विषया वेशादि के अपसृत हो जाने पर रस साक्षात हृदय में प्रवेश करता सा जान पड़ने लगता है ।

निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये नि विशमानं चक्षुषोरिव विपरिर्वतमानं भयानको रसः ।[2]

वीतविघ्न स्थिति में होने वाली शान्ति अपने आप इतनी चमत्कारपूर्ण होती है कि उसे ही रसन, आस्वाद, भोग, विश्रान्ति, संविति आदि अनेकानेक पर्यायों से समझाया जाता है । इस दशा को अनिर्वचनीय ही कह सकते हैं । विभावादि रसास्वाद में किस प्रकार सहायक होते हैं इत्यादि के सम्बन्ध में उन्होंने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण सिद्धान्त को ही अपनाया ।

तत्काव्यार्थो रसः । x x x काव्यात्मकादपि शब्दाद - धिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः । - - - - - - - - - - - - - - - - - - - साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्‌ द्वाव्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते ।
तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरुपस्वाभावाद भीत इति - - - - - - - - तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखितः । एव परोऽपि ।

1- अ० भा० प्रथम भाग पृ० 280

2- अ० भा० पृ० 279

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तुपिततम् - - - - - - सा वह्निना सवितचमत्कार: । x x x x

सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस: ।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतय: ।[1]

तस्मादनुत्थानोपहत: पूर्वपक्ष: । रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदय संवादिति महत्सादूसम् । - - - - - - - -

तस्मात्स्थितमेतत् - अभिव्यज्यन्ते रसा: प्रतीत्यैव च रसयन्त इति ।[2]

लोके प्रमदादिभि: स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववता काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण - - - - -

ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादिको रस: ।[3]

इन उद्धरणों के आधार पर अभिनवगुप्त के मत के सारांश को इस प्रकार समझा जा सकता है -

1- सर्वथा आस्वादनात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है, अर्थात नाटक एवं काव्य के उपकरणों द्वारा साधारणीकृत होकर देश - काल, स्व पर व्यक्तिगत रागद्वेष की चेतना से मुक्त होकर रत्यादि भाव आस्वाद्य अथवा सुखमय प्रतीति के विषय बन जाते हैं । यही आस्वाद्य भाव और उसकी सुखमय प्रतीति ही रस है । अभिनव के मत से - शुद्ध अद्वैत भावना की दृष्टि से सुखमय प्रतीति के विषय साधारणीकृत भाव को भी रस कहा जा सकता है ।

1- अ० भा० पृ० 470 - 473

2- ध्व० लो० पृ० 187 - 190

3- का० प्र० पृ० 129 - 130

2- रसास्वादन में सहृदय की आत्मा न तो सर्वथा उपेक्षित होती है और न विशेष रूप से उल्लिखित अर्थात रस की प्रतीति तो सहृदय की आत्मा ही करती है, परन्तु यह प्रतीति व्यक्तिगत नहीं होती ।

3- यह साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर ही न होकर समष्टि के धरातल पर भी होता है । काव्य और नाट्य के उपकरणों के चमत्कार से आत्मतत्व की अद्वैतता के कारण सभी सामाजिक भाव की समान रूप से प्रतीति करते हैं । इसमें साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है और प्रतीति सर्वथा निर्विघ्न हो जाती है, अर्थात् व्यक्तिगत संसर्ग का एकान्त अभाव हो जाने से आस्वादन पूर्णत: आनन्दमय हो जाता है । अद्वैतवादी अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ तंत्रालोक में इसी समष्टिगत रसानुभूति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है ।[1]

4- स्थायी भाव प्रत्येक सहृदय के चित्त में संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं । संस्कार रूप से होने के कारण वे समान भी होते हैं - क्योंकि अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सभी सामाजिकों की एक जैसी वासना रहती है ।

5- काव्यात्मक शब्द से {वाक्य से} सहृदय व्यक्ति को सामान्य अर्थ बोध {वाच्यार्थ ज्ञान } से अधिक प्रतीति होती है । सामान्य अर्थ बोध और इसमें भेद यह है कि यह प्रतीति वाक्य में गृहीत कालादि विभाव से मुक्त साधारणीकृत होती है और साक्षात्कारात्मिका होती है अर्थात इसमें मन की आखों के समान {कल्पना में} चित्र सा अंकित हो जाता है । आधुनिक शब्दावली में अर्थबोध धारण रूप होता है और यह प्रतीति बिम्ब रूप होती है ।

---

1 - र० ग० का० शा० अ० { डा० प्रेमस्वरूप गुप्त } पृष्ठ 175

6- इस वैशिष्ट्य का आधार है शब्दार्थ में गुणालंकार का उचित समावेश । भट्टनायक ने इसे भावकत्व व्यापार का अंग माना है । प्रत्येक व्यापार के तीन अंग होते हैं । करण, फल और इन दोनों की मध्यवर्तिनी इतिकर्त्तव्यता । अभिनव के मत से प्रस्तुत व्यापार में फल है साधारणीकरण, इतिकर्त्तव्यता है उचित गुणालंकार का समावेश और करण है ध्वनन अर्थात, शब्दार्थ की व्यंजना शक्ति । इस प्रकार जब भावकत्व व्यापार का भी प्राण ध्वनन या व्यंजना ही है तो इस नवीन कल्पना की क्या आवश्यकता है ?

7- भोजकत्व की शक्ति तो शब्दार्थ में मानी ही नहीं जा सकती, वह तो चित्त की क्रिया है - वस्तुत: रसास्वाद और भोग दोनों की स्थिति अभिन्न है । शब्दार्थ इस क्रिया का प्रेरक मात्र है और यह शक्ति भी व्यंजना से ही प्राप्त होती है । इसी कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाने से सहृदय का चित्त निजमोहसंकट से मुक्त होकर भाव के भोग में समर्थ होता है - अत: इस अलौकिक कर्त्तव्य में भी ध्वनन व्यापार ही मूर्धाभिषिक्त है, अर्थात व्यंजना ही प्रधान कारण है । इस प्रकार भोजकत्व काव्य का कोई पृथक व्यापार नहीं है । रस को ध्वनीय मान लेने पर भोजकत्व दैवसिद्ध हो जाता है - उसकी पृथक कल्पना अनावश्यक हो जाती है ।

8- रस ब्रह्मास्वाद के समान है, यह अभिनव को भी स्वीकार्य है ।

9- रस की अभिव्यक्ति ही होती है, यह निर्विवाद है । आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य स्थायी भाव ही रस है । स्थायी भाव अनादिवासना के रूप में प्रमाता के चित्त में विद्यमान रहता है । नाट्य तथा काव्य में प्रस्तुत विभावादि का सम्पर्क होने से वह अभिव्यक्त होकर रसनीय बन जाता है या रस में परिणत हो जाता है । इस प्रकार विभावादि व्यंजक

है और स्थायी भाव व्यंग्य है । दूसरे शब्दों में रस व्यंग्य है । अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ हुआ व्यंग्य - व्यंजक सम्बन्ध ।

10- अभिनव का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत था - इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है । वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रतिष्ठापकों में अग्रणी है । अभिनव ने रस को निर्विघ्न प्रतीति माना है और स्थायी भाव को हमारे हृदय में पूर्व से ही स्थिति स्वीकार किया है । जिस प्रकार स्रष्टा परम शिव की अन्तःव्यापी इच्छामात्र से सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार सहृदय के हृदय में स्थायी भाव वासना रूप में अवस्थित है और समय पाकर वही रस रूप में व्यक्त हो जाते हैं । किन्तु जिस प्रकार परमशिव की इच्छा विघ्नहीन है उसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति के लिए भी सहृदय का हृदय सभी विघ्नों से मुक्त होना चाहिए, तभी विश्रान्ति अनुभव होगी ।

भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः अभिनव का मत ही मान्य हुआ - शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के पुष्ट आधार पर उन्होंने जिस आत्मा - स्वाद रूप रस की प्रकल्पना की थी उसने रस सिद्धान्त को पूर्णतया आवेष्टित कर लिया । परिणाम यह हुआ कि भरत का मूल सिद्धान्त भी उससे आच्छन्न हो गया और परवर्ती आचार्य भरत को भूल कर या भरत के नाम से अभिनव के मत को उद्धृत करते रहे । अभिनव का विवेचन अत्यन्त प्रौढ एवं पुष्ट है ।

अभिनव के मत की सबसे बड़ी शक्ति तो यह है कि पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के सिद्धान्तों की अपेक्षा उसका दार्शनिक आधार अत्यधिक गम्भीर एवं प्रामाणिक है । जिस प्रकार अधिकांश दार्शनिक मतवादों का पर्यवसान अद्वैत में हो गया, इसी प्रकार रस विषयक सभी मान्यतायें भी आत्मास्वाद की कल्पना में अन्तर्लीन हो गयी ।

अभिनव ने ही सर्वप्रथम रस के सहृदयनिष्ठ रूप की कल्पना की थी । भट्टनायक के मत में भी रस अर्थात उसके वस्तुपरक सत्ता का तिरोभाव नहीं हुआ - परन्तु अभिनव ने उसकी आस्वादरूपता का निर्भ्रान्त शब्दों में कल्पना की । रसास्वादन आनन्दमय ही होता है - इस तथ्य की स्थापना का श्रेय तो भट्टनायक को ही है किन्तु अभिनव ने उसे शैव आनन्दवाद का दृढ आधार प्रदान कर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध कर दिया ।

अद्वैत सिद्धान्त के आत्मानन्द के साथ आनन्दवर्धन के व्यंजनावाद का सहज समन्वय कर अभिनव ने रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किया । वास्तव में अद्वैत और व्यंजना का अनिवार्य सम्बन्ध है, जब केवल एक तत्त्व की सत्ता है तो यह सम्पूर्ण विश्व प्रपंच उसकी [illegible] न होकर अभिव्यक्ति ही हो सकता है । अभिनव की तत्वदर्शिनी प्रत्य - भिज्ञा इस तथ्य का अनायास साक्षात्कार कर दोनों के समन्वय द्वारा रस - सिद्धान्त के अन्तरंग और वहिरंग को दृढ आधार प्रदान किया ।

अभिनव ने रस विवेचन की एक प्रमुख सिद्धि है समष्टिगत रस की प्रकल्पना । अभिनव का दर्शन मूलत: व्यक्तिवादी है, किन्तु उन्होंने रस चक्र की पूर्णता अन्तत: सामूहिक रस चेतना में ही सिद्ध की है । जिस सामाजिक कलानुभूति की स्थापना आधुनिक युग में साम्यवाद अथवा समाजवाद के प्रभाव द्वारा हुई है अभिनव ने अपने ढंग से उसका अपूर्व व्याख्यान किया है -

तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजन: खलु ।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ।।
तत एवोच्यते भल्लनटप्रेक्षोपदेशेन ।
सर्वप्रमातृतादात्म्य पूर्णरूपानुभावकम् ।।[1]

1- तन्त्रा० (डा० प्रेमस्वरूप गुप्त) 10·5·85

परममाहेश्वर अभिनवगुप्त का भारतीय काव्य शास्त्र पर एकच्छत्र साम्राज्य रहा है , अतः उनका गौरव तो सर्वमान्य एवं सर्वविदित है ।

अभिव्यक्तिवाद भी अन्य मतों के समान आलोचना से न बच सका । यथा - यह कहा गया है कि रस की अभिव्यक्ति स्वीकार करने का तात्पर्य था रस की पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना । जो वस्तु पहले से विद्यमान नहीं है उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती । अतएव रस अभिव्यक्त है, यह कहना उचित नहीं है ।

अभिव्यक्तिवाद पर किये गये इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त ने स्वयं दे दिया है, अभिनव ने लोचन में 'रसाः प्रतीयन्ते इति ओदनं पचती - तिवद्व्यवहारः' पंक्ति के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि रस तो उसी रूप में अभिव्यक्त होता है जैसे चावल भात के रूप में आ जाता है । जिस प्रकार चावल के ही पकने पर भात कहा जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव की भी रस-रूप में अभिव्यक्ति होती है ।

विभावादि तथा रस में कारणकार्य सम्बन्ध को मान लेने पर विभावादि में पौर्वापर्य भी मानना पड़ेगा, किन्तु उनके बीच साहचर्य सम्बन्ध माना गया है । ऐसी दशा में कार्य-कारण पर निर्भर अभिव्यक्तिवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकेगा ।

अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार अभिव्यक्तिवाद को प्रस्तुत किया है, उसको स्पष्ट समझने के लिए 'दीपघटन्याय' का सहारा लिया जाता है । जिस प्रकार दीप का प्रकाश होते ही घट उसी के साथ प्रकाशित हो उठता है ठीक उसी प्रकार विभावादि और रस का सम्बन्ध मानना चाहिए । अतः विभावादि का रस के साथ पौर्वापर्य सम्बन्ध न मानकर समकालिक सम्बन्ध मानने में कोई हानि नहीं है ।

इस उदाहरण के सम्बन्ध में यह आपत्ति की जा सकती है कि दीप तथा घट कितने भी समकालिक हों फिर भी दर्शक को उन दोनों के पृथकत्व का बोध रहता ही है । इसके विपरीत रस-प्रतीति को स्वयं अभिनव ने 'विभावादिसंवलितप्रतीति' मानते हैं । वह समूहालम्बनात्मक प्रतीति है । अतः यहाँ पर दीप तथा घट की पृथक स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता । अभिनवगुप्त के लिए यह आपत्ति बाधक सिद्ध न होकर साधक ही सिद्ध हुई । उन्होंने इसी विचित्रता के नाते रस को अलौकिक स्वीकार किया है -

अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः । - - - - - - - - - - - - - - - पानकादिरसास्वादो पि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।[1]

अनुमितिवाद का समर्थन करते हुए 'व्यक्ति-विवेक' के लेखक महिमभट्ट ने भी अभिव्यक्तिवाद का विरोध किया है । महिम ने अभिव्यक्ति की तीन प्रकार की कल्पना की । प्रथम यह है कि कारण में ही कार्य को निहित मानकर समय आने पर उसकी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है, जैसे दूध से दही की अभिव्यक्ति मानी गई है । द्वितीय यह है कि कार्य के रहते हुए भी बिना कारण के दिखाई न देने की स्थिति भी हो सकती है अर्थात ऐसा हो सकता है कि घट पूर्व से ही अन्धकार में रखा हो, वह वर्तमान हो किन्तु बिना दीप के प्रकाश के वह दिखता नहीं । दीपक के आते ही वह प्रकाशित हो जाता है । तृतीय स्थिति को हम धूम तथा अग्नि के उदाहरण से समझ सकते हैं । कालान्तर में पुनः किसी पूर्वानुभूत विषय की भी स्मृति द्वारा पुनः अभिव्यक्ति हो सकती है जैसे 'धूम से अग्नि की अभिव्यक्ति' ।

1- अ० भा० पृ० 285

महिमभट्ट द्वारा किये गये इन आक्षेपों का वास्तविक कारण यह है कि उन्होंने अपनी ओर से अभिव्यक्ति की परिभाषा प्रस्तुत की और उन उदाहरणों को ले लिया है, जिनका अभिव्यक्तिवादी ने उल्लेख तक नहीं किया है ।

अभिनव की ओर से दीप तथा घट का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । महिम द्वारा कथित अन्य उदाहरणों को अभिनव ने स्वीकार नहीं किया है । अभिनव ने इस प्रकार का उदाहरण वस्तुत: यह बताने के लिए रखा था कि व्यंजित की अनुभूति व्यंजक निरपेक्ष नहीं होती । अनुभूति के समय दोनों की उपस्थिति बनी रहती है, केवल उसके ज्ञानका आग्रह नहीं रहता । अभिव्यक्तिवाद पर उठाई गई महिम की आपत्तियों की व्यर्थता इन बातों से स्वत: सिद्ध हो जाती है ।

अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति सिद्धान्त पर की गई आपत्तियों की निस्सारता तथा साहित्य के क्षेत्र में उसकी अधुनातन मान्यता इस बात का प्रमाण है कि अभिनवगुप्त का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है । अभिनवगुप्त के द्वारा दी गई व्याख्या में रससूत्र का भाव पूर्णतया खिल सका । शंकुक तथा अभिनव अथवा भट्टनायक तथा अभिनव में कई समानतायें पाई जाती हैं । तथापि ये आचार्य अभिनव के समान सूत्र की व्याख्या न कर सके । अभिनवगुप्त ने आगे बढ़कर सामाजिक से रस का सम्बन्ध घटित करके सूत्र को सरल बना दिया है । रसिकगत आस्वाद का उचित कारण बताया गया है । अभिनव - गुप्त ने स्थायी को वासनारूप कहकर उसे नित्य स्वीकार कर लिया, किन्तु शंकुक उसे अनुमेयमात्र ही मानते रहे । शंकुक ने जिस स्थायी भाव को नट में अनुमेय माना, वह उनके अनुसार वस्तुत: नट में [illegible] नहीं था । इसके विपरीत अभिनव ने उसे 'प्रेक्षकगत' मानकर अनुभूतिगम्य तथा एक सत्य मान

लिया । शंकुक के मत में बड़ी उपहसनीय बात यह रह गई कि वे स्थायी - भाव के अनुमान मात्र से आनन्द मानने लगे उनके लिए स्थायी भाव ही रस रह गया, जबकि अभिनव ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया कि रस स्थायी - भाव मात्र से विलक्षण होता है । - - - - 'स्थायिविलक्षणो रस:'। तात्पर्य यह है कि शंकुक तथा अभिनव के प्रतिपादन में आकाश-पाताल का अन्तर है । दोनों की कोई समता नहीं है । शंकुक अंधेरे में टटोलते हुए व्यक्ति के समान हैं, जबकि अभिनव की व्याख्या एक सजग और सुवित्त व्यक्ति की व्याख्या ज्ञात होती है ।

सप्तम अध्याय

साधारणीकरण

साधारणीकरण शब्द के मूल में च्वि प्रत्यय है। अतद्रूप के तद्रूप होने अर्थात् किसी पदार्थ को अन्य गुण या विशेषता से युक्त करने में जो उसमें पूर्णतः अनुपस्थित हो च्वि प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। पाणिनि के अनुसार कृ, भू, अस् धातु के योग में विकल्प से विकार रूप को प्राप्त प्रकृति के अर्थ में वर्तमान विकारवाचक शब्द से स्वार्थ में च्वि प्रत्यय होता है:-

कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः। ‖1‖
इस सूत्र पर वार्तिक है---

अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् ‖ वा॰ 3340 ‖ इस सूत्र की व्याख्या है:--
विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादियोगे ॥ ‖2‖

जब वस्तु का मौलिक स्वरूप विकार रूप को प्राप्त होकर उसके परिणत रूप से अभिन्न हो जाता है, तब च्वि प्रत्यय का योग रहता है। उल्लेखनीय है कि जो वस्तु इस रूप में परिणत होती है, उसकी मौलिक संकल्पना ही नवीन संकल्पना में परिणत होती है।

वैजेन्टाइन का विवेचन इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्टता से व्याख्यायित करता है- ‖3‖

इस संदर्भ में सूत्रस्थ संपद्यकर्तरि भी जानना है। इस प्रक्रिया में वस्तु के प्रकृत स्वरूप से उसका विकृत रूप अधिक महत्वपूर्ण एवं संवेद्य है। यही साध्य है:

‖1‖ पा॰ अ॰ 5/4/50 ॥
‖2‖ सि॰ कौ॰ पृष्ठ 634

(3) It should be stated that the ------------ may optionally come. LAGHU KAUMUDI P. 367.

प्रकृति विकाररूपेण सम्पत्तिरिति लभ्यते।
येन रूपेण प्रागभूतं यद्वस्तु तस्य तद्रूपप्राप्ताविन्यर्थ:। [1]

इस प्रकार का प्रयोग है उन्मनीकरण अर्थात अनुन्मना: उन्मना: संपद्यते तं करोतीत्यर्थ:। अत: जो वस्तु मूल रूप में असाधारण है, उसे साधारणीकरण बनाने के अर्थ में साधारणीकरण पद प्रयुक्त होता है।

असाधारण: साधारण: संपद्यते तं करोतीति, साधारणीकरोति। संरचना की दृष्टि से च्वि प्रत्यय के परे होने पर साधारण के अवर्ण का अस्यच्वौ- 7/4/32 सूत्र के आधार पर ईत्व हो जाता है। [अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ] अत: व्युत्पत्ति का प्रकार यह होगा --- साधारण शब्द से अभूततद्भाव में कृ धातु के योग में च्वि होता है। साधारण + च्वि + करण। च्वि का लोप तथा "अ" को "ई" हो जाने पर साधारणीकरण शब्द निष्पन्न हुआ।

इस संदर्भ में कृष्णीकरण का समानान्तर प्रयोग द्रष्टव्य है। इसमें कृष्ण उस परिवर्तित वर्तमान वस्तु या पात्र को द्योतित करने वाला माध्यम या करण है। जिसने "कृ" धातु से संयुक्त होकर अपने पूर्ववर्ती स्थिति से भिन्न नवीन दिशा अथवा दशा ग्रहण कर ली है, अर्थात् जो पदार्थ पहले-पहल कृष्ण न था वह कृष्णत्व से अनुरंजित कर दिया गया है। कृष्णत्व उसका सहजात गुण न होकर अर्जित, आगन्तुक या आरोपित धर्म है। जिसमें अतीत का अंश लुप्त है तथा वर्तमानता कृष्णत्व के रूप में अभिन्न होकर उद्भूत हो रहे है---

वस्तुत: अकृष्ण: सन् वेषादिना कृष्णाभावं प्राप्नोतीत्यर्थ - - - - - - - - - -
- - - - - - - - - - - वर्तमान: विकारभूतकृष्णवाचक: शब्द: [2]

---

[1] सि0 कौ0 पृष्ठ 634

[2] सि0 कौ0 [बाल मनोरमा] पृष्ठ 634

अभिनव भी नट में नटत्व तथा कृष्णत्व के बोध के द्वन्द्वात्मक सन्दर्भ को साधारणीकरण की भूमिका में उपस्थित करते हैं। प्रमाता की विशेष बुद्धि वर्तमान काल में उदबुद्ध होती है तथा अतीत के माध्यम से इसकी अर्थक्रिया क्रमशः धूमिल होती जाती है, अतः जब प्रमाता कृष्ण रूप को नट में अध्यवसित देखता है, तो दोनों चेतनाओं के संघर्ष से क्रमशः पात्र का वैशिष्ट्य लुप्त हो जाता है तथा निर्विशेष तत्व की अनुभूति होती है।

प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपाय: - - - - - - - - - - - - -
- - - - - - - - - - - - - सत्ये तदोपस्यानिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात् ﴾1﴿

साधारणीकरण सिद्धान्त "साधारण" शब्द की आधार-भूमि पर विकसित हुआ है। दर्शन और साहित्य के अनेक अनुषंगों को अपनी परिधि में आयत्त करता हुआ यह शब्द एक असाधारण अर्थ गरिमा भी समाहित किये हुए है।

साधारण का व्यापक और प्रसिद्ध अर्थ निर्विशेष है। निर्विशेष का अभिप्राय है वस्तु की भेदक प्रकृति का तिरोधान तथा व्यक्ति विशेष का व्यक्ति सामान्य में पर्यवसान। प्राचीन आलंकारिकों ने सीतादि व्यक्ति विशेष के कामिनी रूप में पर्यवसान की ओर इंगित कर साधारण शब्द के इस प्रमुख अर्थ को ही साधारणीकरण की सीमा में नियंत्रित किया है।

साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थिति:। ﴾2﴿

साधारण की व्युत्पत्ति है — सह धारणया। साधारण + अण — ﴾3﴿

﴾1﴿ अ० भा० पृष्ठ 475

﴾2﴿ का० प्र० पृष्ठ 66

﴾3﴿ आ० सं० हि० को० पृष्ठ 1095

स्पष्टत: धारणा शब्द के निहितार्थ भी इस अवधारणा में समाहित है। धारणा "धृ" धातु से निष्पन्न है। ‖ धृ धारणे — धृ + णिच् + युच + टाप ‖ धारणा के द्वारा मन को धारण किया जाता है।

धारणेत्युच्यते चेयं धार्यते यन्मनस्तया। ‖1‖

प्रमाता की भावमग्नता का अर्थ द्योतित करने के लिए भी इसका गर्भिताशय ग्रहण किया जाता है--

परिवेतुमुमांशु धारणां कुसुमूतं प्रययास्तु विष्टरम्। ‖2‖

काव्यानुभूति की सीमा में यदि इसकी व्याख्या करें तो यह वह हृदयसंवादात्मिका वृत्ति है जो काव्येतर व्यापारों से मन को खींचकर काव्य वस्तु में स्थिर करती है। मनु के अनुसार धारणा मन के किल्विष पापों का विनाश करती है।

प्राणायामै: दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्। ‖3‖

अभिनव के अनुसार काव्य का प्रथम कर्तव्य- कर्म यही है कि प्रमाता स्वगत-परगत की भावना से मुक्त होकर कल्मषरहित होता है।

"निविडनिजमोहसंकटताकारिणा ‖ भट्टनायक ‖
विघ्नबहुलेश्वरी विलक्षणनिर्विघ्नप्रतीति" इत्यादि पदसमुच्चयों में काव्यास्वाद की यही प्रक्रिया ध्वनित है।

‖1‖ या०व० 3/201
‖2‖ र० 8/18
‖3‖ म० स्मृ० 6/72

गोता मे विषयों को उपलब्धि के समस्त द्वारों को संयमित तथा मन को संकल्प-विकल्प से रहित हृदय मे अवरुद्ध करने के अनन्तर योग धारणा मे प्रवृत्त हुआ साधक का विवेचन भी मानसिक एकाग्रता को इसी भूमिका की ओर इंगित करता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मन: प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। ॥1॥

सर्वसाधारण द्वारा बिना किसी भेदभाव के जिस वस्तु का अनुभव या आस्वाद किया जा सके, वह वस्तु भी साधारण है। भट्टनायक ने भी स्वगत प्रतीति को काव्यास्वाद में बाधक हो प्रमाणित किया है --

स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दु:खित्वं स्यात्। ॥2॥
अभिनव के अनुसार भी --
स्वैकातानां - - - - - - - - - - - - एव परमो विघ्न:। ॥3॥

ममत्व, परत्व आदि की संकीर्ण बुद्धि का परित्याग करके हो काव्यार्थ का वास्तविक आस्वाद किया जा सकता है।

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादे: परिच्छेदो न विद्यते ।। ॥4॥

॥1॥ श्री० म० भ० गी० पृष्ठ 217
॥2॥ ना० शा० भाग । पृष्ठ 276
॥3॥ ना० शा० भाग । पृष्ठ 280
॥4॥ सा० द० 4/43 पृष्ठ 83

साधारणीकरण की महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय उपलब्धि यह है कि यह अवधारणा काव्य अथवा नाट्य में अभिव्यंजित कवि के विशिष्ट भाव बिम्बों के साथ सहृदय की व्यक्तिनिष्ठ आस्वादचेतना के अन्त:सम्बन्ध का व्यावहारिक एवं शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करती है।

काव्यार्थ अथवा नाट्य प्रयोग के समय सामाजिकों की एक जैसी वासना एवं चित्तवृत्तियों में एकतानता की प्रतीति, मूलत: सख्य भाव की प्रेरणा भूमि में ही अंकुरित होती है। एक ही नाट्यार्थ में विविध प्रमाता तन्मय तथा एकीकृत होकर वैयक्तिक संसर्गों से मुक्त तथा सामाजिक भाव से आन्दोलित होते हैं— नानात्व तथा असाधारणत्व के मूल में एक ही मूल तत्व का अनुसन्धान मानव-मात्र में निहित एक ही राग-तत्व को परिभाषित करता है। वैयक्तिक चेतना में परिमित होने के कारण मानव की अनुभूति व्यक्तिबद्ध तथा असाधारण होती है, किन्तु व्यक्ति संसर्ग से मुक्त होकर वह व्यापक हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति का देश-काल से अनुबद्ध वैशिष्ट्य तिरोहित हो जाता है तथा प्रमाता स्व-पर की चेतना से युक्त अनुभूति का निर्विशेष भाव से अन्तर्भावन करता है।

ऋग्वेद तथा अन्य वेदों जहाँ जीवन मूल्यों के आदर्श की परम्प्रतिष्ठा हुई है, वहाँ कवि और काव्य के अन्त: सम्बन्ध को भी उन्हीं आदर्श मूल्यों की पृष्ठभूमि में परिभाषित एवं व्याख्यायित किया गया है। अत: कहीं प्रत्यक्षत: और कहीं परोक्ष रूप से वैदिक वाङ्मय में ऐसे प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं, जिनसे साधारणीकरण की परवर्ती अवधारणा को व्याख्यायित करने की अनेक संभावनाएँ अनुस्यूत हैं। सख्य भाव से प्रेरित सामाजिक भाव ही वह प्रेरणा-भूमि है, जिसमें सौन्दर्यानुभूति अथवा जीवन के किसी क्रियात्मक क्षण में मानव समनस्क एवं एकतान होते हैं। समान हृदय, द्वेष रहित समान मन, समान मन्त्रणा तथा इच्छा कर्म एवं ज्ञान में समान भावपन्नता ऋग्वेद का परम प्रतिपाद्य है।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। [1]

आत्म बिम्ब मूलक सिद्धान्त पर सुप्रतिष्ठित होने के कारण ये मानव चेतना को सहज ही साधारणीकृत करते है।

यथा —

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः ।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ।। [2]

ऋग्वेद में व्यक्त सौन्दर्य मूलतः विराट सत्ता का प्रोद्भास है। प्रमाता की असीम चेतना विराट सत्ता की निःसीम दिव्य चेतना में समाहित होकर अपनी संकुचित रागदशा से उन्मुक्त हो जाती है। प्राकृतिक परिदृश्यों के असाधारण अनन्त विस्तार तथा अलौकिक ऐश्वर्य मानव चेतना में विमुग्धता तथा अनन्तता की अनुभूति जगाते है।

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् ।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ।। [3]

अतः अब यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि ऋग्वेद का कवि सौन्दर्य के विराट प्रभाव से अभिभूत था, जो कवि और प्रमाता को प्रीति और आह्लाद के अन्तःसूत्र में अनुस्यूत करता है।

विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य आस्वाद एवं आह्लाद के रूप में भी उसका सीमित प्रयोग हुआ है। सोमरस के आस्वादमूलक अर्थ में उन्माद, प्रतिक

---

[1] अ० शा० 5/5
[2] ऋ० 1/113/7
[3] ऋ० 1/35/4

तथा आह्लादपरक व्यंजनाएं भी अन्वित हुई है तथा क्रमशः सामाजिकनिष्ठ आह्लाद का पर्याय बन गया जो अभिनव और उनके परवर्ती रस-चिन्तकों की अवधारणा का मेरुदण्ड है। स्वयंभूब्रह्म आत्मास्वाद से तृप्त विषयांतर सम्पर्क से शून्य प्रयोजनातीत निष्काम भूमिका में स्थित है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभु रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।। (1)

यह मनोमय आह्लाद अथवा आत्मास्वाद की भूमिका साधारणीकरण की भूमिका है।

औपनिषदिक चिन्तन की मूल उपलब्धि लौकिक ऐन्द्रिय अनुभूति को अतिक्रान्त करने वाली आध्यात्मिक अनुभूति के विविध आयामों का उद्घाटन है। इस अनुभूति को मूलतः आत्मदर्शन के स्तर पर व्याख्यायित किया गया है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। (2)

परमात्मा के साक्षात्कार से हृदयग्रन्थि के भेदन के अनन्तर उद्भूत होने वाले आत्माह्लाद का यह स्वरूप ही निर्विघ्ननिष्ठैकतानता-अन्यसत्त्वोद्रेक एवं प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति जैसी अवधारणाओं की भूमिका बना।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। (3)

---

(1) अथर्व 10/8/44

(2) ईशा० मंत्र 6, पृष्ठ 26

(3) मुण्डक 2/28 पृष्ठ 217

साधारणीकरण की यह पुष्ट भूमिका है। संकुचित स्वार्थ-वृत्ति से मुक्त हृदयवत्ता साधारणीकरण व्यापार का सहज परिणाम है। यह व्यापकता की परिकल्पना उपनिषद् का निष्कर्ष है। इसी के समानान्तर आकाशाख्य ब्रह्म की संकल्पना भी साधारणीकरण की अवधारणा को बल देती है।

तेऽयमन्तोऽन्तराकाश आकाशाख्यं ब्रह्म । [1]

बाह्याकाश एवं सहृदय के हृदयान्तर्गत आकाश का सामरस्य ही साधारणीकरण की भूमिका है—

उपनिषदों का प्रतिपाद्य मूलतः ब्रह्म-जीव के अद्वैतपरक सम्बन्ध की आनन्दानुभूति है। अतः काव्य-वस्तु से सहृदय की चित्तवृत्ति की तदाकारिता की संकल्पना को जहाँ इस अवधारणा से प्रेरणा मिली वहाँ साधारणीकरण के सन्दर्भ भी इसी से प्रभावित हुए। स्पष्टतः इस आनन्द तत्त्व की मूल प्रेरणा अनेकता की निरपेक्षित आकांक्षा है।

साधारणीकरण काव्यानुभूति की देशकालातीत चेतना, काव्य से निजत्व, पात्रों के वैशिष्ट्य का तिरोभाव प्रमाता की ममत्व परत्व के संसर्गों से मुक्ति, वर्ण्य-विषय में एकाग्रता के कारण से इतर वस्तुओं की अनुभूति का अभाव, वर्ण्य-विषय के प्रति प्रमातामात्र में एक ही भाव का उदय, आश्रय से तादात्म्य, सर्वभाव की उपलब्धि एवं समान भोक्तृत्व की अवधारणा उपनिषदान्तर्गतों का अनेक स्तरों पर अनुसरण करती है।

तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत। [2]

---

[1] छा० 8/1/1 पृष्ठ 806

[2] बृ० 1/4/10 पृष्ठ 243

आदि कवि ने सौन्दर्यबोध के अनेक धाराओं के माध्यम से काव्यशास्त्रीय मूल्यों का पूर्वाभास दिया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि मूलतः समाश्रित-सम्पन्नता के विविध कोणों को भाव तथा कला पक्ष के स्तरों पर अनुदित करती है। काव्यार्थ पुनः पुनः अनुसन्धान अर्थात अन्तर्भावन के द्वारा आस्वाद्य बनता है। स्वयं कवि भी उस अन्तर्भावन के द्वारा रचना क्षण से मुक्त होकर उसका आस्वाद कर सकता है, राग-द्वेष से मुक्त होने के कारण काव्य का भावन अनिवार्यतः आनन्दात्मक अनुभूति को प्रेरित नहीं कर सकता। आदि कवि की प्रथम काव्य प्रेरणा लौकिक शोकानुभूति की अलौकिकता में उद्भावना के रूप में उद्बुद्ध होती है। इस प्रेरणा का प्रथम रूप लौकिक कारुण्य ही है। निषाद द्वारा कामविमुग्ध क्रौंच पक्षी की दुर्दशा देखकर ऋषि को लौकिक करुणा ही प्रथम क्षण में जागृत होती है।

ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत। (1)

किन्तु जब यह शोक अथवा कारुण्य या विषाद प्रतिकृत्या स्वभावतः शापवतोः सतः से श्लोकत्व में परिणत हो जाता है, तो कवि के लौकिक शोक तथा क्रमशः काव्यार्थ अन्तर्भावन के द्वारा पुनः पुनः अनुसन्धान से परिणत होकर आस्वाद्य बन जाता है। अतः उसके लोकोत्तर धरातल में परिणति पाकर ऋषि को आह्लाद होता है।

प्रतिजग्राह संतुष्टस्तस्य तुष्टोऽभवन्मुनिः । (2)

लौकिक भाव अभिव्यंजनात्मक उपकरणों से समन्वित होकर ही आनन्द की सृष्टि करता है।

---

(1) वा० रा० (बालकाण्ड 2/13) पृष्ठ 31

(2) वा० रा० (बालकाण्ड 2/19) पृष्ठ 32

अन्तर्मुखी होता है। कालिदास यह मानते हैं कि यह अन्तर्मुखी व्यापार या भावन व्यापार बाह्य रूप से धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्व की ओर अग्रसर होता है। कालिदास से वर्णित भाव विभाव द्वारा भावनीय बनकर स्थायि भावों द्वारा साम्मित होते हैं।

क्रमशः लौकिक स्मृति क्षीण हो जाती है और वह तन्मयता की लोकोत्तर भूमि पर पहुँच जाता है, किन्तु जैसे ही उसे कलात्मक अभिव्यंजना की कृत्रिमता का बोध होता है, उसकी तन्मयता भंग हो जाती है।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता।। (1)

इस तन्मयता की चरम स्थिति को ही अभिनव ने स्वगत परगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः कहा है।

(1) अ0 शा0 6/21

भरत ने नाट्यशास्त्र में काव्य अथवा नाट्यानुभूति से प्रेरित प्रमातृगत अनुभूति के विश्लेषणद्वारा ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिससे साधारणीकरण की अवधारणा में निहित कतिपय तत्वों का स्थूल आख्यान उपलब्ध है। भरत के अनुसार विभावों की सापेक्षता में भावित किये जाने वाले भाव कहलाते हैं। ये भाव अभिनेता के द्वारा शिक्षाभ्यास से उद्भावित किये जाते हैं। कवि के निगूढ़ भावों को दर्शकों के प्रति संवेद्य बनाने में भावप्रदर्शन की प्रबल भूमिका है, क्योंकि ये अनेकविध अभिनयों से युक्त रसों का भावन करते हैं। भाव की व्युत्पत्ति है विभाव्यते अनेन इति विभावः। विभावितम् विज्ञातम् समानार्थक है।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ।। (1)

भरत के अनुसार भावों में कवि के अभिप्राय को व्यक्त करने की मौलिक क्षमता निहित है। साधारणीकरण शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे इस तत्व का स्पष्ट संकेत देते हैं। आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तःकरण में स्थित भाव साधारणीकृत होकर आस्वादन की योग्यता प्राप्त करते हैं।

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।। (2)

सत्व शब्द यद्यपि यहाँ सात्त्विक भावों का वाचक है, तथापि भट्टनायक ने रजस्, तमस् से अस्पृष्ट द्रवीभाव विस्तार तथा विकासरूप सत्त्वगुण के प्राधान्य

---

(1) ना० शा० 7/4 पृष्ठ 80

(2) ना० शा० [illegible]

तथा तज्जन्य प्रकाश, आनन्दमय साक्षात्कार एवं विश्रान्ति-रूप अनुभव की जो अवधारणा प्रस्तुत की है, उसका मूल संकेत भी इसमें निहित है।

ये भाव ही रसाभिव्यक्ति के मूल हेतु हैं तथा इन्हीं के सामान्य गुणों के संयोग से रसादि निष्पन्न होते हैं। सामान्य गुण योग में साधारणीकरण शब्द की अन्तर्ध्वनि अवश्य विद्यमान है। टीकाकारों तथा आलोचकों ने इसी सन्दर्भ में इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा -- साधारणीकरण सिद्धान्त के बीज नाट्यशास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं। यथा-- "एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते" अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है। [1]

सामान्यगुणयोगेन का अर्थ है — इन विभिन्न भावों के द्वारा इनके माध्यम से रस प्रतीति करवाना अथवा विशिष्टता या व्यक्तिनिष्ठ भावों को साधारणीकरण की भूमि पर प्रतिस्थापित कर बोधगम्य या प्रतीतियोग्य बनाना। [2]

भरतनाट्यमंजरी के सम्पादक श्री० के० भट्ट ने भी सामान्यगुणयोग का अर्थ साधारणीकरण ही लिया है। [3]

भरत भावों में हृदय-संवादिता का मौलिक गुण स्वीकार करते हैं। भाव सम्पूर्ण शरीर में शुष्क काष्ठ में अग्नि की भाँति शीघ्रता से व्याप्त हो जाता है।

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।। [4]

---

[1] र० सि० पृष्ठ 193
[2] ना० शा० पृष्ठ 306
[3] भ० ना० म० पृष्ठ 101
[4] ना० शा० पृष्ठ 80

नाट्यशास्त्र में ऐसे प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं, जिनसे साधारणीकरण संबंधी परवर्ती चिंतन के सूत्र सहज ही सुलभ हो जाते हैं। भट्टनायक के सत्त्वोद्रेकसंबंधी सिद्धान्त का अर्थात इस सत्त्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार रूप में अनुभूत किया जाता है।

भरत- इह हि नाट्यधर्मिप्रवृत्ता सुखदु:खकृता भावास्तथा सत्त्वविशुद्धा: कार्या: यथा सरूपा: भवन्ति। [1]

सात्त्विक भावों के उत्पत्ति मन की एकाग्रता का परिणाम है। इस सत्त्व के कारण कवि अनुकर्ता अथवा प्रमाता पात्र के सुख-दु:ख को अपने सुख-दु:ख के रूप में स्वीकार करता है। अनुकर्ता सुख-दु:खात्मक भावों का प्रदर्शन इसी कारण करता है कि सहृदय भाव सत्त्व द्वारा अधिकाधिक सौम्य रूप में संवेद्य हो। सत्त्व की निम्नलिखित परिभाषा भी तन्मयीभवन की भूमिका का ही स्पर्श करती है।

सत्त्वं हि नाम मन: प्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनस: समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। [2]

कीथ कैन भट्ट तथा घोष ने इसका अनुवाद मन की सन्तुलित अथवा एकाग्रीकृत भावना किया है। स्वगत प्रतीति का निषेध साधारणीकरण की अनिवार्यता की ओर इंगित करता है। अमरों के प्रति असुरों के क्रोध का निवारण करते हुए भरत भी नाट्य कृति को परगत भावना से मुक्त विशुद्ध भाव के रूप की अभिव्यक्ति मानते हैं।

तन्नात्र मन्यु: कर्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति। [3]

---

[1] ना० शा० पृष्ठ 95

[2] ना० शा० पृष्ठ 95

[3] ना० शा० पृष्ठ 9

अभिनव ने भी स्वगत सुखदुःखादि प्रतीतियों के आस्वादन को रसेतर संवेदनाओं से समुद्गम का कारण मानकर साधारणीकरण में परम निहित ही माना है। स्वगत परगत भावना से मुक्त होकर ही विश्वमात्र के हृदय में प्रतिबिम्बित भावों का अनुभावन साधारणीकरण की भूमिका है। ब्रह्मा दैत्यों से कहते हैं--

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।। (1)

अभिनव का कथन है साधारणीकरण परिमित नहीं है। भरत ने भी "नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्" के द्वारा नाटक से विविध रुचियों के दर्शकों को सन्तुष्ट करने की अपरिमित योग्यता का आख्यान किया है।

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। (2)

भरत ने स्पष्ट कहा है कि एक ही प्रेक्षक से नाट्यार्थ अथवा काव्यार्थ की अनेकायामी अर्थछवियों को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती। अतः विशेष नाट्य-विधाओं में अपरिमित संभावनाओं का समावेश होना चाहिए, जो विविध दर्शकों को एक साथ परितोष प्रदान कर सके।

रसास्वाद से सम्बद्ध भाव की अवस्था तो उन्होंने प्रेक्षक के धरातल पर अनिवार्य माना है। जो प्रेक्षक पात्रों के अभिनय के अनुसार अपने हृदय में भावानुगमन की अनुभूति करने में समर्थ है, वही अधिकारी सामाजिक या सहृदय है।

---

(1) ना० शा० पृष्ठ 8
(2) ना० शा० पृष्ठ 9

तब पात्र के आनन्दित होने पर आनन्दित, शोकार्त होने पर शोकविगलित, क्रोध के समय क्रुद्ध, भय के समय भयभीत हो, उसे ही केवल प्रेक्षक कहा गया है। ऐसा ही प्रेक्षक किसी भाव दशा में प्रवेश कर भावानुकरण या भावानुप्रवेश में समर्थ हो सकता है —

यस्तुष्टे तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
क्रुद्धः क्रोधे भये भीतः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः।
एवं भावानुकरणे यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः। १।

१। ना० शा० 27/62-63

भामह ने सदाश्रयता अर्थात् महान चरित्रों से सम्बद्धता, नायकाभ्युदय तथा लोक स्वभाव की ओर इंगित कर मानव मात्र की भावसत्ता को प्रभावित करने वाले तत्वों की ओर इंगित किया है। साधारणीकरण के मूल में निहित रसोद्बोधन की उस शक्ति का भी यहाँ संकेत निहित है, जो भाव के विषय को उस रूप में उपस्थित करने की पृष्ठभूमि बनाती है, जिससे वह सबके समान भाव का आलम्बन हो सके। भामह ने नायक के वंश, वीर्य, श्रुति तथा उत्कर्ष की व्यंजना की अनिवार्यता की ओर इंगित किया है। प्रतिनायक के अप्रासंगिक उत्कर्ष के विधान से काव्य-शरीर में व्याप्त नायक की अभ्युदयपरक जिजीविषा को जहाँ एक भिन्न आयाम मिलता है, वहाँ सहृदय की भावभूमि में आलम्बन का वह स्वरूप उपस्थित नहीं हो सकता, जो मानव मात्र का विभाव बन सके। केवल भाव पूर्वक काव्य में प्रतिनायक के उत्कर्ष की भी अतिरिक्त व्यंजना की जा सकती है।

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे।। (1)

उदाहरणार्थ -- "प्रसाद" की परिभाषा देते हुए वे उसके सर्वसाधारण के बोध-स्तर की ओर सहज ही इंगित करते हैं —

आविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्। (2)

इसी प्रकार भाविक अलंकार में अभिव्यंजनागत सौन्दर्य से अन्वित होकर प्रबन्धगत अतीत और भविष्य के वर्णन सहृदयों के सम्मुख प्रत्यक्ष होते हैं।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः। (3)

---

(1) का० 1/23
(2) का० 2/3
(3) का० 3/53

साधारणीकरण की प्रेरणा भूमि के रूप में भामह ने प्रत्यक्ष को कल्पना रहित ज्ञान नहीं माना है, अपितु नाम जात्यादि योजना युक्त कल्पना परक ज्ञान स्वीकार किया है।

कल्पनां नाम जात्यादियोजनां प्रतिजानते। 1.1

भामह ने प्रत्यक्ष में जात्यादि अर्थात् उपाधिविशिष्ट व्यक्ति के अन्तः साक्षात्कार का संकेत देकर साधारणीकरण की मूल चेतना को प्रकारान्तर से सामान्यीकरण की निम्न कोटि में रखकर विशेष में अविशेष की कल्पना की सत्तात्मक भूमिका में प्रतिष्ठित करते हैं।

संवादी एवं विसंवादी अनुभूतियों से संश्लिष्ट होकर व्यक्तिबद्ध लोकानुभव अतिशायित रूप से अतिक्रान्त हो जाता है। अनुभूतियों को जब कल्पना की अन्तर्दृष्टि मिलती है, तो वे विशृंखलित होकर पुनः भिन्न रूप में संयोजित हो जाती हैं। भामह ने इसी अतिक्रान्ति को वक्रोक्ति कहा है। आशय यह है कि अनुभूतियों के सामंजस्य की दिशा सामान्यानुभूति के समान ऋजु न होकर वक्र होती है। काव्य में अभिव्यंजित होकर वर्ण्य-वस्तु जब मूल अनुभूति को अतिक्रान्त करती है तो उस व्यक्ति रूप से मुक्त होकर विभावित अर्थात साधारणीकृत होती है। भामह के "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते" में काव्य के सामान्यातिरिक्त अभिव्यंजना वैशिष्ट्य से काव्यार्थ को विभावित करने की इसी शक्ति का संकेत है।

1.1 काव्या. 5/6

काव्य में वर्ण्य-विषय की व्यवस्था को दण्डी उतने ही अंश में प्रासंगिक मानते हैं, जितने में वह सहृदय की मानसिक भूमिका के अनुरूप है।

सामाजिक के हृदय को स्पर्श करने वाली लोक सामान्य कथावस्तु तथा धर्ममूलक विषय को सामाजिक अंश मानने लगता है। अभिनवगुप्त इसे रसास्वाद का प्रथम विघ्न मानते हैं, जिसके निराकरण के लिए वे जिन उपायों को आवश्यक मानते हैं, वे दण्डी की अवधारणाओं से साम्य रखते हैं।

तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तु विषयः।
प्रख्यातरामादिनामकत्वेणपरिग्रहस्योपायः। "1"

माधुर्य गुण के विवेचन में दण्डी रस तथा माधुर्य में अभेद मानते हैं। जिस शब्दार्थविन्यास माधुर्य से सहृदय आनन्दित हो, उसे रस कहा जाता है।

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।। "2"

अलंकारों के विवेचन में भी दण्डी ने कतिपय ऐसे संकेत दिये हैं, जिनसे वस्तु, प्रकृति और स्वभाव की अनेकरूपता का वह परिदृश्य उद्घाटित होता है, जो वैविध्य में निहित एकरूपता का प्रमाण देता है। स्वभावोक्ति का वैशिष्ट्य इसी में है कि वह नानात्व में निहित वस्तु की मूल प्रकृति को उद्भासित करती है। जाति की यह संकल्पना भी साधारणीकरण के निकट है।

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती। "3"

"1" अ० भा० पृष्ठ 274

"2" का० द० पृष्ठ 45

"3" का० द० पृष्ठ 77

अलंकारवादी होते हुए भी उद्भट, भामह, दण्डी अथवा अपने समसामयिक आचार्यों की अपेक्षा रसवाद के विकसित स्वरूप के प्रति अधिक आस्थाशील है। रसवदादि प्रसंग में रस के अनन्तर संविधान वर्णन से उन्होंने ऐसे अनेक सूत्र दिये है, जो भाषा के भावमय प्रयोग के माध्यम से सम्प्रेषित होने वाली कवि की अनुभूति तथा प्रमाता की संवेदना के अन्त:सम्बन्ध को परिभाषित करते हैं। प्रेयस्वत् की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि इसमें अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि की सूचना से युक्त काव्य का निर्माण किया जाता है। इस सन्दर्भ में उद्भट ने स्वशब्दक शब्दों से रसवत्ता का विवेचन किया है। यथा---

रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।। (1)

प्रतिहारेन्दुराज के मन्तव्य का सार यह है कि रति आदि भावों का साधारण स्वरूप रत्यादि शब्दों के द्वारा साधारणीकृत नहीं किया जा सकता। अनुभावों के माध्यम से ही वह विभावों से स्थापित होकर प्रतीत हो सकता है, किन्तु अंतत: वह पात्र की मन:-स्थिति में निहित रति आदि भाव की सूचना देकर असाधारण भावों को, एक सीमा तक संक्षोभित अवश्य करता है---

रत्यादीनां - स्वशब्दा अपि। (2)

ऊर्जस्वि अलंकार के स्वरूप-विवेचन में उद्भट ने अनौचित्य को काव्यास्वाद की भूमिका पर विश्लेषित किया है। औचित्य मूलत: यथायोग्य स्थिति का पर्याय है। यह यथायोग्य स्थिति साधारणीकरण का नियामक तत्व है। पर्यायान्तर से

---

(1) का० सा० पृष्ठ 354
(2) का० सा० लघुवृत्ति पृष्ठ 352

अभिव्यक्ति आस्वाद की एक विशिष्ट भूमिका को ही परिभाषित करता है। समाहित में रस, रसाभास, भाव और भावाभास की वृत्ति के प्रशमन की अभिव्यंजना का संकेत है। समाहित का अर्थ है समाधान।

वस्तुत: काव्यास्वाद की भूमि में इतर भावों की शून्यता दो स्तरों पर स्वीकार्य है। प्रथम स्तर पर उसमें देशान्तर शून्यता की व्यंजना है और दूसरे स्तर पर इतर रसों की संस्कार शून्यता का संकेत है। कहने का आशय यह है कि उद्भट ने प्रकारान्तर से काव्यानुभूति के उस भूमिका का उल्लेख किया है, जिसमें विघ्नों की अस्पष्टता अथवा अतिरिक्त वैकृता के कारण अनुभूति के साधारणीकृत होने में बाधा उत्पन्न होती है। किन्तु यह अनुभूति भी रसानुभूति के ही विविध कोणों को परिभाषित करती है। रसानुभूति की यह व्याख्या उद्भट ने शब्दार्थगत चमत्कार या अभिव्यंजना-वैचित्र्य की प्रासंगिकता को दृष्टि में रखकर उपस्थित की है।

वामन ने रीतिरात्मा काव्यस्य की अवधारणा के द्वारा काव्य की आत्मा के अनुसंधान का वस्तुनिष्ठ प्रयास किया है। रीति का लक्षण है -- "विशिष्ट पदरचना रीति:"। इसमें "विशिष्ट" पद विशेष अर्थ सापेक्ष है। रीति की मूल प्रकृति गुणों द्वारा निर्धारित होती है। अत: विशिष्ट का अर्थ है गुणनिष्ठता। विशेषो गुणात्मा। गुणों की सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण उसकी संवेद्यता है।

नाऽसन्त: संवेद्यत्वात्। [1]

संवेद्यता से आशय सहृदय की संवेद्यता ही है। कामधेनु का कथन है--

सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात्। [2]

वस्तुत: वामन की दृष्टि में सहृदय संवेद्यत्व ही ऐसा निकष है जिस पर काव्य के सौन्दर्य की सार्थकता का निर्धारण किया जा सकता है। प्रसाद गुण की परिभाषा

अर्थवैमल्यं प्रसाद:। [3]

जो सहृदयप्रयोज्यता से सम्बन्ध रखती है क्योंकि विवक्षित अर्थ का सम्बन्ध मूलत: प्रसन्नता से ही है। समाधि का लक्षण है -- अर्थदृष्टि समाधि:। एकाग्रचित्त ही काव्य के सारभूत प्रसाद को आत्मसात कर सकता है। समाधि मूलक होने से अर्थ-दर्शन को समाधि कहते हैं।

अर्थस्य दर्शनं दृष्टि: । समाधिकारणत्वात् समाधि:। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात्। [4]

---

[1] का0 सू0 पृष्ठ 100

[2] का0 सू0 [कामधेनु टीका] पृष्ठ 100

[3] का0 सू0 [कामधेनु टीका] पृष्ठ 105

[4] का0 सू0 [कामधेनु टीका] पृष्ठ 109

वस्तुतः वामन काव्यार्थ के बोध में समाधि, निष्पत्ति एवं तन्मयता की अवधारणा से परिचित हैं, जो मूलतः प्रमातृगत अवधारणा है। समाधि का अर्थ है-- इन्द्रियों का बाहरी विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होना-- भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कलाकार के चित्त में रसानुभूति नहीं होगी, तब तक सहृदय को भी रस-बोध नहीं करा सकता। कलाकार अन्तस्तर की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है। (1)

कालिदास ने समाधि की शिथिलता को सर्जक कलाकार और सहृदय, दोनों के स्तर पर रसबोध में बाधक माना है। (2)

वामन प्रत्यक्षतः रस को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं करते।

दीप्तरसत्वं कान्तिः। (3)

रस के महत्त्व का अनुभव करते हुए उसे काव्य गुणों के अन्दर स्वीकार किया है। जिस रचना में शृंगारादि रस दीप्त रहते हैं, उसे कान्तिगुण कहते हैं। इस प्रकार आत्मा के सौन्दर्य सिद्धान्त को वामन विशिष्ट पदरचना के माध्यम से वस्तुनिष्ठ आधार पर प्रस्तुत करते हुए भी सहृदय की भूमिका को गौण नहीं बनाते। सर्जन प्रक्रिया के विवेचन के माध्यम से भी वे जन्मान्तरगत संस्कारवासना संवाद तथा प्रज्ञाभिनिवृत्तिमूलक भेदान्तरपन्नता के ऐसे अनेक संकेत देते हैं, जिनसे साधारणीकरण की परवर्ती भूमिका निर्मित हुई है। यथा--

---

(1) का० मी० भा० दो० पृष्ठ 109

(2) कु० मा० मि० 2/2

(3) का० सू० 'काव्येषु लोका' पृष्ठ 115

कवित्वबीजं प्रतिभानम् जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। "तथा" चित्तस्यैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तस्मादवधानम्। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति। [1]

यह ठीक है वामन उस काव्य में भी सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, जिसमें रस का पूर्ण परिपाक नहीं है, किन्तु रस को वे मान्यता देते हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से सहृदय के काव्यार्थ के साधारणीकरण की आवश्यकता की ओर इंगित करते हैं।

---

१. का० सू० (कामधेनु टीका) पृष्ठ 35-36

अलंकारवादी आचार्यों की भाँति रुद्रट का मुख्य प्रतिपाद्य यद्यपि अलंकार ही था; तथापि काव्य-वस्तु की सर्वजन-संवेद्यता, अभिव्यंजनात्मक उपादानों की रसानुभूति-परकता तथा काव्यानुभूति की कवि एवं सहृदयपरक व्याख्या के स्तर पर उन्होंने सहृदयनिष्ठ रसास्वाद की ऐसी भूमिका निर्मित की है, जिसमें साधारणीकरण की परिधि में आने वाले कतिपय सूत्रों का सहज ही अध्याहार हो गया है। रुद्रट ने नाट्य-विषय की परिधि में मुक्त कर काव्य के व्यापक आयाम में रस-विधान का निर्देश किया है। नीरस शास्त्र सहृदयों के हृदय को आन्दोलित नहीं कर सकते, अत: धर्मार्थ, काम, मोक्ष पर आधृत जीवन के राग विरागपरक व्यापक क्षेत्र का तादात्म्य मूलत: रागात्मक वृत्ति के द्वारा ही संभव है। अत: सहृदय तक काव्य में निबद्ध उन जीवनानुभूतियों को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए कवि को रस-समृद्ध काव्य की रचना करनी चाहिए।

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्य: ।
तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् । §1§

अन्यत्र भी रुद्रट ने जीवन के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक आयाम को व्याप्त करने वाले प्रबन्ध काव्य में जीवन की वैविध्यमयी रागात्मक अनुभूतियों को स्थान देने के लिए कवियों से आग्रह किया है।

एते रसा: रसवतो रमयन्ति पुंस: सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ।। §2§

---

§1§ का० लं० पृष्ठ 360
§2§ का० लं० पृष्ठ 417

वास्तव: रुद्रट का यह दृष्टिकोण कवि और सहृदय के अन्त:सम्बन्ध की उस भूमिका की ओर इंगित करता है तथा जगत की अनेक भावात्मक अन्तर्दशाओं के साथ प्रमाता के साक्षात्कार और अनुभूतियों के संसार का अवकाश प्रदान करती है। साधारणीकरण की अवधारणा अनेक भावात्मक बाह्य सृष्टि के साथ सहृदय के तादात्म्य तथा सृष्टि के मौलिक स्वरूप के साथ उसके प्रकृत सामंजस्य की ओर इंगित करती है। रुद्रट काव्य वस्तु के स्तर पर सहृदय के हृदय संवाद के अनुरूप तादात्म्य जुटाने के लिए सकललोककमनीय चरित्रों को प्रबन्ध सृष्टि के केन्द्र में रखना आवश्यक समझते हैं। सकललोककमनीय वस्तु न केवल नायक के चरित्र को गरिमा प्रदान करती है, अपितु वह सहृदय के स्तर पर भी बृहत्तर आयाम में संवेद्य होती है।

इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम् ।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम् ।
सकललोककमनीयम् सकलजनकान्तम् । (1)

रुद्रट ने प्रकारान्तर से साधारणीकरण की मूल संकल्पना की ओर इंगित किया है। राजा परिवर्तनशील है, किन्तु देवता अब भी वैसे ही है।

अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये। (2)

---

(1) का० ल० (नमिसाधु-टीका) 1/6 पृष्ठ 6
(2) का० ल० (नमिसाधु-टीका) 1/10 पृष्ठ 7

यह ठीक है रुद्रट रस के स्वरूप अथवा निष्पत्ति की गंभीर चर्चा में नहीं पड़े तथा उनकी दृष्टि मूलत: अलंकारवादी है, फिर भी व्यभिचारिक भावों को रस-रूप में अभिव्यक्ति रस-भावादि की रसवत् आदि अलंकारों के रूप में अस्वीकृति इत्यादि की स्थापनाएँ रस के प्रति उनकी मौलिक दृष्टि को रेखांकित करती हैं। उन्होंने प्रेयस नामी रस की मौलिक कल्पना भी की है, जिसके विषय में उल्लेखनीय यह है कि निश्छल प्रकृति के साहचर्य एवं सौहार्द तथा स्वभाव की समानता पर आधृत पारस्परिक व्यवहार इत्यादि संदर्भों का साधारणीकरण की भूमिका से सीधा सम्बन्ध है।

स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरुपचारसंबन्धात् । १।१

वस्तुत: यह किसी भिन्न का नहीं, अपितु रागानुभूति के मौलिक तत्व का आख्यान है।

१।१ का० ल० 15/17 पृष्ठ 411

ध्वनिकार यद्यपि कल्पनामूलक अभिव्यंजना (अलंकार) तथा विचारमूलक वस्तु की व्यंजनामात्र को भी काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व स्वीकार करते हैं, किन्तु वे केन्द्र में रस-ध्वनि को ही रखते हैं। अलंकार अथवा वर्णन मात्र केवल माध्यम है, जो रस के केन्द्र में ही अपना औचित्य सिद्ध कर सकते हैं।

मुख्या व्यापार-विषया: सुकवीनां रसादय: । (1)

काव्य में महत्व अनुभूति का है। कल्पना एवं वस्तु की अपेक्षा सहृदय की चेतना को झंकृत करने में रस-ध्वनि का महत्व, अनुभूति होने के कारण विशेष है। अत: ध्वनिकार का कथन है कि कवि को काव्य निर्माण में पूर्णत: रस की परतन्त्रता स्वीकार करनी चाहिए। रसहीन और नीरस काव्य कवि के लिए मूर्तिमान अपवाद है, उसके निर्माण की अपेक्षा काव्य सर्जन में प्रवृत्त न होना श्रेयस्कर है।

आशय यह है कि ध्वनिकार ने रस को काव्य का प्राणभूत तत्त्व उद्घोषित कर कवि तथा सहृदय के अन्त:सम्बन्ध को रागात्मक सम्प्रेषणीयता के स्तर पर ही स्वीकार किया है। एक स्तर पर वे महाकवि को शब्द और अर्थ (अभिव्यक्ति और अनुभूति) को गौण बनाकर रस को मुख्य व्यापार में प्रतिष्ठित करने का निर्देश देते हैं तो दूसरे स्तर पर वे सामाजिक में सहृदयत्व की अपेक्षा इसी स्तर पर करते हैं कि वह रसतत्त्व को उद्बुद्ध करने वाले शब्दार्थ की मार्मिकता को आत्मसात कर सके। जिस प्रकार जौहरी रत्नतत्त्वविद् होते हैं, काव्य रस के तत्त्वविद् सहृदय होते हैं।

---

(1) ध्व० आ० टी० पृष्ठ 354

वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविद:,
सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा: ।   [1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनिकार यद्यपि साधारणीकरण का विवेचन नहीं करते, किन्तु उसके मौलिक अन्त:सूत्रों का साक्ष्य अवश्य उपस्थित करते हैं। साधारणीकरण के एक कोण पर यदि वे काव्यार्थ तथा उसको अभिव्यंजित करने वाले गुणालंकार एवं रीति आदि का रसपरतन्त्र विवेचन प्रस्तुत करते हैं तो दूसरे स्तर पर रस के भोक्ता तथा आश्रय सामाजिक की मानसिकता तथा काव्यास्वाद की प्रक्रिया की अपेक्षित भूमिका का भी उल्लेख करते हैं। अत: कवि एवं सहृदय के अन्त:सूत्रों को ध्वनिकार की अवधारणाओं के माध्यम से सहज ही आकलित किया जा सकता है।

ध्वनिकार कवि की सर्जन-क्षमता रस व्यंजना के निकष पर ही ग्राह्य मानते हैं। उनका कथन है कि व्यंजना का क्षेत्र बहुत व्यापक है, अत: कवि को रस व्यंजना पर ही ध्यान एकाग्र करना चाहिए।

व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् - - - - - - - - - - व्यंग्यव्यंजकभावे यत्नत: अवधीतो।   [2]

रस को ग्रहण करने से ही कवि कर्म में व्यवस्था और औचित्य आता है तथा देश-काल में विकीर्ण सामग्री औचित्य की भूमिका पर व्यवस्थित होकर प्रमाता में देशकालातीत अनुभूति जगाती है।

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देश कालादिभेदिनी ।।   [3]

---

[1] ध्व0 लो0 टी0   पृष्ठ 364
[2] ध्व0   पृष्ठ 529-30
[3] ध्व0 4/7   पृष्ठ 545

साधारणीकरण के मूल सूत्र नानात्व में एकत्व अनुसन्धान के अन्दर से खुलते हैं। जीवन और जगत की संख्यातीत व्यापक अनुभूतियों को कवि अपने सर्जन के केन्द्र में प्रतिबिम्बित कर उनको एक अपूर्व दीप्ति संवलित कर देता है। कवि की कारयित्री प्रतिभा का संस्पर्श पाकर अनुभूतियों के अणुओं से निर्मित काव्य-जगत सहृदय के सम्मुख एक परिचय भरी नवीनता से युक्त होकर मूर्त होता है।

वहुविस्तारोऽयं - - - - - - - - - - - - - - - - - - - विवर्तते । [1]

ध्वनिकार ने साधारणीकरण के दो सूत्रों का पूर्वाभास दिया है। प्रत्येक नया कवि कुछ आम प्रसंगों का भी अपनी अनुभूति तथा अभिव्यंजना के स्तर पर पुनरनुसंधान करता है तथा प्रमाता अनन्तता को प्राप्त अनुभूति अणुओं को पुन: आम बिम्बों में रूपान्तरित कर कवि के अनुभूति परिवेश में साधारणीकृत होता है। दूसरा तथ्य यह है कि कवि लौकिक अनुभूति को काव्यानुभूति में रूपान्तरित कर विशिष्ट भाव परिवेश का निर्माण करता है। वह अरमणीय पदार्थ-विशेषों को लोकोत्तर रमणीय रूप में परिणत कर सहृदयों में विनिवेशित करता है।

अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ।। [2]

अत: सहृदय के स्तर पर वह पूर्वानुभूत भाव-परिवेश पूर्वदृष्ट होकर भी नवीन सा प्रतीत होता है।

---

[1] ध्व0 पृष्ठ 526
[2] ध्व0 पृष्ठ 527

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति। 1।1

ध्वनिकार काव्य-सर्जन के धरातल पर कवि की रस-परतन्त्रता तथा तथा काव्यार्थ के आनंत्य को उन्मीलित करने वाली प्रतिभा का सूक्ष्म विवेचन करते है। साधारणीकरण के मूल मे असाधारणता और नानात्व की पूर्वस्थिति आवश्यक है, कवि की प्रतिभा ही साधारण बिम्बों को असाधारणता और अनन्ता का स्पर्श करके सहृदय को भाव भूमि पर संक्रमित करती है, सहृदय पुन: असाधारणता और नानात्व में निहित समष्टि-बिम्बों तथा भाव प्रत्ययों का अनुसन्धान कर आत्म लाभ करता है। यह पुनरनुसंधान ही वह प्रतीयमान अर्थ है, जो अंगनाओं के विविध अंगो के सौष्ठव में अनिर्वचनीय तत्व के रूप में जगमगाता है। कहने का आशय यह है कि आनन्दवर्द्धन कवि की रस परतन्त्रता और सहृदय रसज्ञता के अन्त: सूत्रों का विवेचन करते हुए साधारणीकरण की मूल चेतना का स्पर्श करते हैं।

ध्वनिकार के अनुसार सहृदयत्व रसज्ञता ही है। रस भाव की अपेक्षा अभाव मे काव्याश्रित संकेत विशेष का परिज्ञान है अथवा रस भाव में काव्य के स्वरूप परिज्ञान की कुशलता। निश्चय ही शब्द-विशेष के चारुत्व का अभिज्ञान सहृदयता नहीं है, क्योंकि भिन्न प्रकार से भी उस अनुभूति को व्यक्त किया जा सकता है। अत: शब्द विशेष के चारुत्व का नियामक शब्दों की रसाभिव्यक्ति की सामर्थ्य ही है। यह सामर्थ्य मूलत: व्यंजक शब्दों के सूक्ष्म संवेदनाओं के ग्रहण की क्षमता से भिन्न नहीं है।

1।1 ध्वन्या पृष्ठ 528

रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं विशेष इति व्यंजकत्वाश्रयेव तेषां मुख्यं चारुत्वम्। (1)

प्रज्ञा और सहृदयत्व के ऐक्य का अभाव उस अलीक सहृदयता को भी जन्म देता है, जो कोरे शास्त्रीय ज्ञान अथवा अतिरंजित भावप्रवणता के कारण काव्यार्थ के वास्तविक अनुभावन में अवरोध उपस्थित करती है। मिथ्या सहृदयत्व अकाण्ड ताण्डव करता है और कवि के संवेद्य तक पहुँचने में कोई सहायता नहीं करता।

अलीकसहृदयताभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते। (2)

तद्विपरीत विवेक-सम्पन्न सहृदयता शब्दार्थ के गुणालंकार, रीतिमूलक विधानों के रसपरक भूमि में सहज ही अन्तः प्रवेश कर जाता है।

ध्वनिकार साधारणीकरण की केन्द्रीय अवधारणा से अभिज्ञता व्यक्त करते हुए भी साधारणीकरण का कोई शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं करते। एक स्थल पर उन्होंने काव्य में विशेष तथा सामान्य वर्णन की सापेक्षता पर विचार अवश्य किया है। संसार की वस्तुओं का स्वरूप निश्चित और सामान्य है, किन्तु काव्य में वर्णित किये जाने पर वह अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होता है। कवि स्वानुभूत वस्तुओं को नायकादि में आरोपित कर अपनी अनुभूति को सामान्यीकृत स्तर पर प्रस्तुत करते हैं। किन्तु सामान्यों की परिमितता का परिणाम यह है कि वे विशिष्ट क्रम से ही लक्षित होते हैं।

---

(1) ध्वन० पृष्ठ 359

(2) ध्वन० पृष्ठ 25

अत: उनमे नवीनता का विकास नगण्य होता है, किन्तु काव्य की रचना सामान्य मात्र से अवश्य होती है। सामान्य के अतिरिक्त कोई वर्ण्य विषय नही हो सकता। वास्तु वैचित्र्य अर्थात् काव्य मे प्रतीत होने वाला जो ग्राह्य विशेष है, वह कवि का स्वानुभूत होने के कारण विशिष्ट फलत: अनन्त होता है।

यथा सामान्यात्मना - - - - - - - - - - - - - - वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति। (1)

अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सकलोत्कृष्ट सामान्य अथवा काव्य के प्रतीयमान अर्थ को आत्मसात करने के लिए प्रमाता मे मात्र हृदय-पक्ष ही नही बुद्धि-पक्ष की उपस्थिति भी अनिवार्य है। काव्यार्थ का अधिकारी स्वच्छ, गम्भीर चेतना से सम्पन्न विद्वान, महात्मा, सपुलक, आलंकारिक, काव्यलक्षणविधायी, तत्वार्थदर्शी सामाजिक है। जिसके द्वारा काव्यार्थ का अनुभावन करने वाले सहृदय की मानसिकता का विशिष्ट बिम्ब उत्कीर्ण होता है। यथा ----

सुरभि: कवि: - - - - - - - - - - - - - - - - - - इत्यवभासते। (2)

उक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि सहृदय मे ध्वनिकार हृदय तथा प्रज्ञा का सामंजस्य अनिवार्य मानते है। यह सामंजस्य ही काव्यार्थ मे अन्त:प्रवेश कर सहृदय को व्यंग्यार्थ के संख्यातीत संदर्भो को आत्मसात करने की क्षमता देता है। ध्वनिकार ने सहृदय के साथ सपुलक शब्द का प्रयोग इसी सामंजस्य की दृष्टि मे रख कर किया है।

हृदयवत्सु सपुलकगाथासु। (3)

---

(1) ध्वन्या (बाल प्रिया लोचन) पृष्ठ 541-42

(2) ध्वन्या 1/13

(3) ध्वन्या (बाल प्रिया लोचन) पृष्ठ 499

इसकी व्याख्या में अभिनव का कथन है कि --

प्राकृतकविगोष्ठितायां प्रसिद्धासु त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु मार्गज्ञाका: सहृदया उच्यन्ते। [1]

कहने का आशय यह है कि --

नानाकाव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे येषां वर्णनीयवस्तुतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदया:। [2]

प्रज्ञा और हृदयत्व के सामंजस्य के अन्त:सूत्र सहृदयत्व की इस संकल्पना से ही निहित है। आनन्दवर्धन का सहृदय विशुद्ध शास्त्रीय अवधारणाओं के प्रति आग्रहशील न होकर काव्यार्थ को अन्त:साक्षात्कार की भूमिका पर ही ग्रहण करता है।

---

[1] ध्वन्या० (बाल प्रिया लोचन) पृष्ठ 499
[2] [illegible] (बाल प्रिया लोचन) पृष्ठ [illegible]

लोल्लट अनुकर्त्ता में रस-स्थिति स्वीकार करते हैं। अनुकर्त्ता में रसस्थिति प्रायः आचार्यों ने स्वीकार नहीं की। वस्तुतः अनुकर्त्ता में रसस्थिति की परिकल्पना अनुकार्यगत रस स्थिति का पुनरनुसंधान ही है। अनुकर्त्ता नाट्य-प्रस्तुति के माध्यम से मुख्य पात्र की संवेगात्मक अभिभाओं की पुनः सृष्टि करता है। इसके द्रष्टा एवं भोक्ता रूप में एकात्म्य इसी स्तर पर ग्राह्य है कि मुख्य पात्र के संवेगों के कल्पनात्मक अनुभावन के उस विशेष क्षण में वह तन्मय रहता है। द्रष्टा के स्तर पर वह अनुकार्य से वह सम्पृक्त रहता है तो भोक्ता के स्तर पर प्रेक्षक के मनोभूमि पर अवस्थित रहता है। सम्भवतः यही कारण है कि लोल्लट सामाजिक की वासना अथवा रसानुभूति का पृथक उल्लेख नहीं करते, वे अनुकर्त्ता, तथा, सामाजिक को अभिन्न मानकर चलते हैं। अनुभूतिगत संश्लेषण की प्रक्रिया में प्रेक्षक की चेतना विविक्त प्रतिबिम्बित होकर स्वतः उनकी अनुभूतियों को तपाचित अथवा संचालित कर देती है। इसी अन्तः प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को अभिनव ने एक भिन्न स्तर पर विविध प्रमाताओं में संविद की एकात्मता के विश्लेषण के लिए स्वीकार किया है। एक प्रमाता में भी अनुभूतियाँ अन्तःक्षिप्त होकर उसे विगलितवेद्यान्तरता अथवा निर्वैयक्तिकता की भूमि पर ले जाती हैं। रिचर्ड्स आदि नवचिन्तकों ने इसकी पुष्टि की है।

स्थायि-भाव किसी एक आयाम से युक्त होता है। विविध संवेदनों से संश्लिष्ट होकर ही वह अनेक आयामों में अनुसंधानित होता है। अनुभूति के केन्द्र से आकृष्ट संवादी एवं विसंवादी संवेदन जब स्पर्धामूलक समन्वय में ढलते अथवा उपमित होते हैं, तो स्वतः केन्द्रीय अनुभूति का व्यक्तिबद्ध रूप छूट जाता है तथा वह निर्वैयक्तिकता अथवा साधारणीकृत हो जाती है।

लोल्लट के चिन्तन में न तो कार्यकारणवाद का विरोधाभास है और न आरोपवाद का अनौचित्य। उनके आरोप अथवा अनुसन्धान की प्रकल्पना में तादात्म्य की स्थूल दृष्टि नहीं है। प्रेक्षक, अनुकर्त्ता और अनुकार्य के एकात्म्य के के माध्यम से वे साधारणीकरण की उस भूमिका की ओर संकेत करते हैं, जहाँ प्रेक्षक की भूमिका पर अनुकर्त्ता और अनुकर्त्ता की भूमिका में प्रेक्षक अनुकार्य के स्तर पर सामष्टिक अनुभूति का पुनरनुसंधान करता है। नट की स्वीकृति के माध्यम से लोल्लट अभिव्यंजना के महत्त्व को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हैं। अभिव्यंजना के धरातल पर उतरते ही कवि की वैयक्तिकता पीछे छूटने लगती है। वह स्वयं को समष्टि-चेतना का अंशभूत सा अनुभव करता हुआ उस घटना, वस्तु या परिवेश के द्वन्द्व को विश्वमानव के हृदय में घटित घटना का अविभाज्य अंग मानने लगता है। चिता के निकट खड़े व्यक्ति की प्रतिक्रिया जीवन और जगत के प्रति विराग और निर्वेद के संवेदानात्मक ज्ञान को ही जगा सकती है, जिसमें उसकी निजी मानसिकता राग, विराग, आस्था और पूर्वाग्रह के अनेक स्तरों पर जुड़ी हो सकती है। किन्तु उसके काव्यत्व में परिणत होने के लिए उसका अन्तर्भावन अपेक्षित होता है। इस अन्तर्भावन या पुनःसृजन के क्षणों में वह अनुभूति एक विशिष्ट रूप विन्यास में अन्तर्भूत होकर ही आकार ग्रहण करती है। उसका पूर्वस्वरूप मानसिक अन्तराल एवं कल्पनात्मक प्रतिक्रिया के कारण आवृत हो जाता है। इस काव्यानुभूति के दो स्तर होते है, प्रथम स्तर पर यह सार्वजनिक प्रतिक्रिया का संश्लिष्ट रूप होती है, जिसमें किसी भाव सत्य या विचार सत्य की ही पुनरावृत्ति होती है। दूसरे स्तर पर यह एक विशिष्ट कलात्मक सृष्टि होती है, जिसमें भावसत्य या वस्तुतत्वरूपविन्यास में ढलकर सजातीय संयोजनाओं की अपेक्षा एक अभूतपूर्व प्रतिक्रिया जगाता है।

यह रागात्मक संवेदना कवि, अनुकर्त्ता तथा प्रेक्षक की मनोभूमि पर जिस रूपविधान में ढलती है, वह उसी अनुभूत सत्य का पुनरनुसंधान है। जिसमें उस अनुभूति की वैयक्तिकता का परिहार होता है तथा समष्टि चेतना के धरातल पर स्थापित होकर वह निर्वैयक्तिक होती है। [1]

अनुकार्य की प्रतीकता, उपस्थिति तथा अनुसंधान ने उसी भेद के माध्यम से लोकमय साधारणीकरण की ओर संकेत करते हैं। भरत के रस-सूत्र की व्याख्या में उन्होंने कलात्मक अभिव्यंजना के महत्व को स्वीकृति संवेग से उत्पन्न होने वाली निर्वैयक्तिक चेतना एवं अभिनेता में अनुकार्य तथा प्रेक्षक की मनोभूमिका के संश्लिष्ट स्थापन की व्याख्या के माध्यम से महत्वपूर्ण योग दिया है। [2]

---

1. Now It is the essential privilage of beauty to se synthesize and bring to a ------- a great peace falls libon that purturbed kingdom ---- (GEORGE SANTAYANA) THE SENSE OF BEAUTY, P. 235.
2. The equilibrium of opposed impulses ------ brings into play for more of your personality ------- and to say that we are impersonal is completely involved. (I.A. RICHARD) PRINCIPLE OF LITERARY CRITICISM, P. 198

सम्यक, मिथ्या, संशय प्रतीतियों से भिन्न देशकालातीत अनुभूति सामाजिक के मन में निर्विशेष रूप में उद्भिन्न होती है। आशय यह है कि शंकुक का चिन्तन भी प्रमाता की भावभूमि में साधारणीकरण की ओर अग्रसर चेतना का निर्देश करता है।

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्वं न विपर्यय: ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ।।
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लव: ।
युक्त्या पर्यनुयुज्यते स्फुरन्ननुभव: कथा ।। ‌[1]

वस्तुत: विरुद्ध बुद्धियों की यह समन्विति अनुमान प्रक्रिया से भिन्न कल्पनाजन्य अनुभूति की ओर ही अधिक इंगित करती है। जैसा कि कॉलरिज का कथन है कि कल्पना में अद्भुत संश्लेषण-क्षमता होती है, जिसकी प्रमुख शक्ति विरोधी तथा विसंगत अनुभूतियों के संतुलन अथवा सामंजस्य में उन्मीलित होती है। यह अनुभूति पूर्वानुभूत वस्तुओं को नवीन चैतन्य से अनुरंजित कर परिचय भरी नवीनता का आह्लाद प्रदान करती है। इसका परिणाम वैविध्य में निहित एकत्व के पुनरनुसंधान के रूप में ही घटित होता है। [2]

शंकुक का कथन है कि जिस प्रकार भित्ति पर हरताल आदि से निर्मित अश्व के चित्र में अश्व की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय आदि सामग्री से अनुकर्त्ता में अनुकार्य के स्थायि भाव का अनुमान अथवा अवभास होता है। ये आभास आस्वाद परक होने के कारण रस है। अवगत प्रतीति में प्रमाता की अनुभूति में एक विशेष क्रम लक्षित होता है। चित्रगत अश्व को प्रमाता अश्व के रूप में पहचानता है। चित्रगत अश्व क्रमश: अपनी वस्तु सत्ता के अतिरिक्त एक

---

[1] ना० शा० [भाग-1] पृष्ठ 273

[2] वा० लि० [भाग-2] पृष्ठ 12

प्रि० आ० लि० क्रि० [भारतीय संस्करण] पृष्ठ 191-195

संज्ञानात्मक अस्तित्व को उद्भासित करता है, जो प्रमाता के चित्त में स्थित रसबोध की आह्लादपरक प्रक्रिया में तभी संयोजित हो सकता है जब भाव के प्रयोजनातीत पूर्वज्ञान के आधार पर उसका पुनरनुसंधान किया जाए। यह अनुसंधान सामान्य और विशिष्ट के द्वन्द्वात्मक सामंजस्य का ही परिणाम है। प्रत्ययात्मक स्तर पर यह साधारणीकरण की अनुमान-प्रेरित प्रक्रिया है।

वस्तुत: यह पुनरुत्पादिका कल्पना के द्वारा प्रत्यय निर्माण है। बहुगण पूर्वज्ञान के आधार पर विविध भावों में समान रूप से विद्यमान रहने वाले तत्वों की मानसिक अनुभूति के पुन: स्मरण के माध्यम से भावत्व का संज्ञानात्मक अनुभव प्राप्त करते हैं।

शंकुक अश्वतुरग-न्याय की संकल्पना में केवल सामान्यीकरण की तार्किक प्रक्रिया पर ही विराम नहीं लेते। शंकुक के अभिमत को विकसित करते हुए महिमभट्ट ने काव्यानुभूति के लौकिक अनुभूति से पार्थक्य का विश्लेषण करते हुए कहा है कि रसानुभूति असाक्षात रूप में ही उद्भिन्न होती है। यह एक प्रकार की प्रतीति परामर्श ही है, अर्थात काव्य में जब प्रमाता कृत्रिम विभावादि से पात्र विशेष की रति का अनुमान करता है, तो वह असद्भूत रति का परामर्श ही है।

तदेव विभावादीनां - - - - - - - - - - - - - - स्वाभाविक इत्युक्तम्। [1]

इस असद्भूत अनुभूति में सामाजिक को तन्मय करने की असाधारण क्षमता कवि से उपस्थित होती है।

---

[1] व्य0 वि0 पृष्ठ 74

प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति। [1]

प्रमाता की चेतना में पात्र क्रमशः ही उन्मीलित होते हैं जैसा कि आधुनिक नाट्य-समीक्षा में गृहीत अवधारणा में प्रमाणित होता है कि प्रेक्षक जैसे जैसे अनुकर्त्ता में अन्तर्निहित अनुकार्य का अनुसंधान करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसके विविध कोण प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते जाते हैं। पात्र के इस अनेकमुखी व्यक्तित्व के अनुसंधान में ही नाटकीय तनाव की सृष्टि होती है तथा अनुसंधान का वृत्त प्रमाता की चेतना में पूर्ण होता है। शंकुक इसी तथ्य का पूर्वाभास देते हैं।

---

1. व्यक्ति विवेक पृष्ठ 75

काव्य में जितने शब्दों का प्रयोग होता है, उनमें से कुछ तो कारण अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) का बोध कराते हैं। यह बोध कराने वाली शक्ति विभावन व्यञ्जना कहलाती है। कुछ शब्दों से कार्य अर्थात् अनुभाव (सात्विक, वाचिक, आङ्गिक, आहार्य) का बोध होता है उसे अनुभावन व्यञ्जना कहते है। कुछ शब्दों से सहायता देने वाले तत्वों अर्थात् सञ्चारी भावों का बोध होता है। उसे सञ्चारण व्यञ्जना कहते है। इन्हीं विभावन, अनुभावन और सञ्चारण व्यञ्जनाओं की प्रतीति को साधारणीकरण कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि नाटक देखते समय आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारी को नाटक के किसी पात्र का न समझकर दर्शक उसे सब दर्शकों का समझने लगता है। ऐसा समझने से दर्शक उसे अपना भी अनुभव मान लेता है। इस प्रकार बार-बार मानने से विभाव, अनुभाव और सञ्चारी हमारे अन्त:करण या मन के धर्म (गुण) बन जाते है और बार-2 ऐसा समझने या भावना करने से हमारा मन ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारी बन जाता है। इस एकात्मता से हमारी वह अविद्या या भ्रान्ति दूर हो जाती है जिसके कारण विभाव, अनुभाव और सञ्चारी को हम अलग समझते है। उस समय विभाव आदि के मूल चैतन्य का प्रकाश होता है। यही प्रकाश रस कहलाता है। इस प्रकाश की स्थिति को कुछ लोगों ने चैतन्य विशिष्ट विभावादि कहा है, किसी ने विभावादि विशिष्ट चैतन्य कहा है। इस साधारणीकरण (एक विशेष व्यक्ति के अनुभावों और सञ्चारी भावों को सबका अर्थात् सर्वसाधारण का मान लेने) से ही दर्शक को रस-प्राप्त होता है, अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना ही रस की अवस्था है।

अष्टम अध्याय

रस का काव्य के अन्य तत्वों से सम्बन्ध

रस-गुण

भरत ने पहले अगूढ़, अर्थान्तर आदि दस दोष बताये और फिर श्लेष, प्रसाद आदि दस गुण। उनके अनुसार दस गुण उक्त दस दोषों के विपर्यस्त है, अर्थात् उनसे विपरीत अथवा अन्यथा -स्थित है अथवा उसके अभावात्मक रूप है -

एते दोषास्तु विज्ञेया - - - - - - -एतस्व विपर्यस्तागुणाः ।[1]

भरत इन गुणों की गणना निम्नलिखित क्रम से करते हैं - श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति।

भरत द्वारा प्रोक्त गुण का लक्षण उपादेय नहीं है, क्योंकि एक तो यह निषेधात्मक है और दूसरे दोषों की निजी सत्ता है तथा गुण की निजी, ये दोनो एक दूसरे के विपर्यस्त रूप में स्वीकृत नहीं किये जा सकते - न तो सौन्दर्य को कुरूपता का विपरीत रूप अथवा अभावात्मक रूप मान सकते हैं और न कुरूपता को सौन्दर्य का। इसी प्रकार श्लेष गुण और अगूढ़ दोष भी एक दूसरे के विपरीत अथवा अभावात्मक रूप नहीं माने जा सकते।

फिर भी भरत की उक्त धारणा को प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि दोष यदि काव्य के विघातक है तो गुण काव्य के विधायक।

भामह ने गुण की केवल तीन कारिकाओं में रचना की है -

1- ना० शा० 17/95

माधुर्यमभिवांछन्त: प्रसादं च सुमेधस:

समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुंजते ।

केचिदोजोऽभिधित्सन्त: समस्यन्ति बहून्यपि ।

यथा मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका ।।

श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।

अविद्वदंगना बालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ।।[1]

इसमें गुण का सामान्य-लक्षण कहीं निर्दिष्ट नहीं है । पहली कारिका में भामह ने कहा है कि माधुर्य और प्रसाद में समस्त पदों का अधिक प्रयोग नहीं होना चाहिए । दूसरी कारिका में ओज का लक्षण और उदाहरण है, परन्तु न तो यह लक्षण ही पूर्ण है, न उदाहरण । लक्षण इतना ही है कि ओज गुण में बहुत पदों का समास रहता है (वर्णों के सम्बन्ध में कोई नियमन नहीं) । परिणामत: जो ओज का उदाहरण दिया गया है, वह समास बाहुल्य रहने पर भी ओज के बदले माधुर्य गुण का उदाहरण हो गया है । तीसरी कारिका में माधुर्य और प्रसाद का लक्षण है, पर उदाहरण दोनों में एक का भी नहीं । जो काव्य श्रव्य और अनतिसमस्त हो वह मधुर और जिसका अर्थ विद्वान से लेकर स्त्री, बच्चे भी समझ जायें वह प्रसादयुक्त । गुण के विषय में भामह के कथन का निष्कर्ष इस प्रकार है -

ओज - समास बाहुल्य ।

माधुर्य - श्रव्यत्व, अनतिसमस्तत्व ।

प्रसाद - अर्थसुलभत्व, अनतिसमस्तत्व ।

1- का0 2/1-2-3

भामह का गुण निरूपण स्थूल होते हुए भी ठीक है । उन्होंने प्रत्येक गुण के अन्तर्निहित वैशिष्ट्य को यथासम्भव देखने की चेष्टा की है । त्रुटि यह है कि उसमें सूक्ष्मता एवं गम्भीरता का अभाव है, साथ ही सांकर्य भी है । हाँ एक बात में उनका श्रेय और महत्व स्वीकार करना पड़ता है और वह यह कि तीन गुणों का निर्देश करने वाले वे प्रथम आचार्य हैं । भामह के पूर्ववर्ती भरत ने दस गुण माने थे, उत्तरवर्ती दण्डी ने दस, वामन ने बीस, भोज ने अड़तालीस । गुणों की वह संख्या वृद्धि प्रायः यादृच्छिक थी, उसमें तर्क अथवा युक्ति का अभाव था । भामह ने युक्ति पूर्वक अपना पक्ष भले ही प्रस्तुत नहीं किया, पर गुणों की संख्या को तीन तक ही सीमित रखने में वे निश्चय ही आनन्दवर्धन के अग्रगामी ठहरते हैं । यदि ऐसा उन्होंने समझ बूझकर किया तो निस्सन्देह बहुत बड़े महत्व के भागी हैं । यह ऐसी विशेषता है जो किसी भी अध्येता का ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकती । नारायण बनहट्टी और हवी राघवन ने इस सम्बन्ध में यह कल्पना की है कि अलंकार शास्त्र के विभिन्न स्वतन्त्र सम्प्रदाय चल रहे थे, उनमें एक का अनुगमन भामह ने किया जिसमें गुणों की संख्या तीन थी और दूसरे का भरत, दण्डी आदि ने, जिसमें गुणों की संख्या दस थी ।

गुण शब्द का भामह ने एक जगह और प्रयोग किया है । भाविक अलंकार की चर्चा करते हुए उन्होंने प्रबन्ध - विषयक गुण कहा है ।

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।[1]

का0 3/53

भाविक को गुण किसी आलंकारिक ने नहीं माना है, स्वयं भामह ने भी उसका निरूपण अलंकारों के प्रकरण में ही किया है । अन्तर यही है कि जहाँ और आलंकारिकों ने भाविक की स्थिति स्फुट पद्यों में मानी है, वहाँ भाविक परक प्रबन्धगत ।

भाविक का लक्षण है - भूत या भावी वस्तु का प्रत्यक्षायमाणत्व, जो किसी एक पद्य में भी हो सकता है और प्रबन्ध में भी । यहाँ गुण का प्रयोग वैशिष्ट्य के अर्थ में है, गुण के परिभाषिक अर्थ में नहीं ।

दण्डी के मत में काव्य का शरीर है -

शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली ।[1]

इष्ट अर्थ से अन्वित पदावली काव्य का शरीर है । दण्डी आगे कहते हैं -

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।[2]

ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं । अर्थात् इष्ट अर्थ से अन्वित पदावली में मार्ग के प्राणभूत गुणों की अभिव्यक्ति काव्य है, अलंकार उस काव्य के शोभाधायक धर्म है । दण्डी ने अप्रत्यक्ष रूप से गुण को ही काव्य का सर्वस्व या जीवित स्वीकार किया है ।

भरत ने नाटक में उसके इतिवृत्त को नाट्य का शरीर माना है ।

इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् ।[3]

1- काव्यादर्श 1/10

2- काव्यादर्श 1/42

3- ना० शा० 7/5

और वह कहानी रस के उद्भावक भाव के अर्थ में व्याप्त होती, जैसे शुष्क काष्ठ अग्नि से ।

> योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
> शरीरं व्याप्तं तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ।[1]

नाट्य में अर्थ ने कहानी को व्याप्त कर उसे नाट्य का शरीर बनाया । काव्य में स्थिति उससे भिन्न है । यहाँ अर्थ पदावली में व्याप्त होता है और पदावली काव्य का शरीर है । उस पदावली का विस्तार पद, वाक्य से लेकर गद्य, पद्य, म काव्य, आख्यायिका तथा कथा तक है । भरत और दण्डी के नाट्य एवं काव्य के चमत्कार (जीवितभूततत्व) का सही निर्देश हो जाता है - कहानी का अर्थ रस बन कर प्रस्तुत होता है और पदावली का अर्थ पद-प्रयोग के वैचित्र्य में परिणत हो जाता है - वह वैचित्र्य ही मार्गों का गुण है ।

काव्यादर्श का अभिमत विवेच्य मार्ग और गुण है । ये वस्तुतः इष्ट अर्थ की पदावली के प्रयोग पक्ष का सैद्धान्तिक विवेचन है ।

श्लेष का अर्थ है - रचना में शैथिल्य का अभाव और पूर्ण बन्ध । इसका उदाहरण है -

> मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति ।[2]

1- ना० शा० 7/7

2- काव्० 1/44

प्रसाद का अर्थ है - प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग से वाणी जहाँ अनायास ही अर्थ का बोध करा देती है, वहाँ प्रसाद गुण है ।

इन्दोरिन्दीवरद्युति । लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ; [1]

आदि से अन्त तक एक समान पद संघटना को समता कहते हैं । वर्णों का बन्ध तीन प्रकार का होता है - मृदु, विकट तथा उभयात्मक, जिस पद बन्ध से रचना का आरम्भ किया जाता है उसी से उसकी समाप्ति भी हो, यही समता गुण है । तीन प्रकार के बन्धों के ये तीन उदाहरण हैं ।

कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिल: ।[2]
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भ: कणोक्षित: ।[3]
चन्दन प्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुत: ।[4]

गुण की दण्डी ने विस्तार से व्याख्या की है । उनका कहना है कि जहाँ वाक्य में रसवत्ता हो वहाँ माधुर्य गुण होता है यह रसवत्ता वाणी और अर्थ दोनों में होती है । रस की इस स्थिति का लक्षण यह है कि माधुर्यगुण युक्त रचना को पढ़ कर या सुन कर सहृदयजन आनन्दातिरेक में अपने को भूल जाते हैं ।

मधुरं रसवद्वाचि - - - - - - - - - मधुनेव मधुव्रता: ।[5]

1- का0द0 1/45

2- का0द0 1/48

3- का0द0 1/48

4- का0द0 1/49

5- का0द0 1/51

सुकुमारता गुण उस रचना में होता है जिसमें परुष अक्षरों का अभाव प्रायः हो। 'प्रायः' कहने का अभिप्राय यह है कि संयुक्त या परुष अक्षर सर्वथा ही न रहे, यह मन्तव्य नहीं है। ऐसा होने पर और रचना के एकान्ततः कोमल हो जाने पर पदबन्ध में शैथिल्य आ जायेगा और शैथिल्य काव्य को हीन बना देता है। सुकुमारता का उदाहरण है -

मण्डलीकृत्य वर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ।।[1]

रचना में पदों का ऐसा सम्यक् प्रयोग, जिनके कारण अध्याहार आदि कष्ट कल्पना के बिना ही अनायास अर्थ का बोध हो जाता है, "अर्थव्यक्ति" नामक गुण है -

हरिणोद्धृता।
भूः खुरक्षुण्ण - नागासृग्लोहितादुदधेरिति ।।[2]

यदि केवल इतना कहा जाये -

मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः ।[3]

तब अर्थव्यक्ति गुण का अभाव हो जायेगा, क्योंकि अर्थ को पूरा करने के लिए 'उरगासृजः' का अध्याहार करना पड़ेगा।

1- का० 1/60

2- का० 1/73

3- का० 1/74

जहाँ वाक्य द्वारा वर्णनीय वस्तु के किसी विशेष उत्कर्ष की अभिव्यक्ति हो, वहाँ उदार गुण होता है । दण्डी ने इस गुण से काव्य पद्धति के सनाथ होने की बात कही है । इससे प्रकट होता है कि इस गुण के शब्दार्थ से युक्त काव्य - रचना का बाहुल्य होता है ।

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ।। [1]

बहुलता से समस्त पदों का प्रयोग ओजोगुण है । यह ओज गद्यकाव्य का जीवित - प्राणभूत जीवन - शक्ति है । आख्यायिका आदि गद्य काव्यों में इसका प्रयोग गुरु-लघु वर्णों के परस्पर बहुल-अल्प-समान मिश्रण से उल्बण - अनुल्बण अनेक प्रकार से देखा जाता है । उल्बण का अर्थ है - गुरु तथा संयुक्त वर्णों का विकट पद - बन्ध और अनुल्बण का अर्थ है - जिसमें लघु वर्णों की प्रचुरता हो । वस्तुतः इस गुण की उपयोगिता उक्त प्रकार से गद्य-काव्य में ही है और इस विषय में वैदर्भ गौड दोनों कवि सम्प्रदायों का एकमत है । लेकिन गौड (अदाक्षिणात्य) पद्य रचना में भी इस ओजोगुण का बड़ा अवलम्ब लेते हैं, क्योंकि उन्हें अनुप्रास, समास आदि से आकीर्ण विकट पदबन्ध की रचना ही प्रिय होती है, जैसे -

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा ।
पीनस्तनस्थिता ताम्र - कम्रवस्त्रेव वारुणी ।। [2]

1- का० 1/77

2- का० 1/82

वैदर्भी को ओजगुण से विशिष्ट होने पर भी उच्चारण तथा बोध के सम्बन्ध में हृदय को आकुल न करने वाली रचना ही मान्य है ।

> पयोधरतटोत्संग लग्नसन्ध्यातपांशुका ।
>
> कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति ।।[1]

काव्य - रचना को ऐसा रूप जिसमें समास कम हो, जिसमें उच्चारण और अर्थबोध में कठिनाई न हो । किन्तु संयुक्ताक्षर रहेंगे, नहीं तो बन्धशैथिल्य दोष आ जायेगा ।

पदों का ऐसा अर्थ विधान, जो लोकप्रसिद्ध अर्थ का परित्याग न करे और स्फुट चमत्कार से अबोध से लेकर विदग्धजन को चमत्कृत करे - कान्ति गुण है । यह गुण वार्ता काव्य में और वस्तु वर्णन में भी देखा जाता है ।

> गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः ।
>
> सम्भावयति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः ।। [2]

लोक व्यवहार का पालन करने वाला कवि जब पदों में किसी अप्रस्तुत के धर्म का प्रस्तुत के अर्थ में व्यवहार [आरोप] करता है, तब ऐसी रचना समाधि गुण की होती है ।

यहाँ प्रस्तुत के अर्थ में अप्रस्तुत के धर्म का यह व्यवहार गौणवृत्ति से इष्ट होता है, मुख्य वृत्ति से नहीं । मुख्यवृत्ति से व्यवहार होने पर ग्राम्यदोष आ

1- का०द० 1/84

2- का०द० 1/86

जाता है और चमत्कार नहीं रह जाता है । निष्ठ्यूत, उद्गीर्ण, वान्त आदि ऐसे ही शब्द हैं जो गौणवृत्ति से समाधि गुण में चमत्कार जनक बन जाते हैं ।

दण्डी ने ओज गुण का विवेचन वैदर्भ मार्ग में वैशिष्ट्य के रूप में किया है । गौड मार्ग गुणों को समग्र रूप में स्वीकार न कर प्रायः उनके विपर्यय स्वरूप और कुछ के अंशतः रूप को ग्रहण करता है । इस गुण की कोई परिभाषा दण्डी ने नहीं दिया । ये दशगुण वैदर्भ के प्राण हैं - इस कथन से केवल इस ओर संकेत किया गया है कि काव्य-मार्ग या काव्य पद्धतियों की पहचान उनके विशेष गुणों से की जाती थी ।

भामह की मान्यता भरत और दण्डी से अभिन्न है । भरत और दण्डी माधुर्य तथा प्रसाद में समासाभाव की बात स्वीकार नहीं करते । ये समास को केवल ओज गुण में स्वीकार करते हैं । दण्डी माधुर्य और प्रसाद में उसके अभाव की चर्चा भी कर देते हैं । गुणों पर भामह की बुद्धि को वैसे ही अरुचि है जैसे मालती को बसन्त पर हुआ करती है ।

गुणों के उक्त निरूपण से स्पष्ट है कि भरत और दण्डी के गुणों में कुछ गुण शब्द - गुण थे और कुछ अर्थ-गुण किन्तु उनमें इस प्रकार के वर्गीकरण की चर्चा नहीं थी । वामन ने यह वर्गीकरण बड़ी कुशलता के साथ किया और प्रसाद एवं समाधि केवल अर्थगुण, श्लेष और ओज को शब्दगुण एवं समता, सुकुमारता तथा अर्थ - [illegible] को उभयगुण मान, माधुर्य, उदारता तथा कान्ति तीन गुणों पर नये सिरे से प्रकाश डाला ।

स्वरूप

	भरत	दण्डी	भामह	शब्दगुण	वा[illegible] अर्थगुण
1• श्लेष	सार्थक पदों का आश्लेष	अल्प प्राण अक्षरों वाले पदों का अतिशयित बन्ध	x	शब्द की मसृणता जिसमें अनेक पद एक प्रतीत हों ।	क्रम और कुटिलता का विदित न होना
2• प्रसाद	शब्द से अर्थ का सुखपूर्वक बोध	अर्थ की स्पष्टता	अर्थ की स्प - ष्टता	ओजोमिश्रित शिथि-लता	अर्थ की विमलता
3• समता	पदों की अन्योन्य समता	आरम्भ से अन्त तक एक सा बन्ध	x	आरम्भ से अन्त तक एक ही मार्ग लम्बे	अविषम बन्ध उक्ति वैचित्र्य
4• माधुर्य	अनुद्वेजक पदावली	अनुप्रास, यमक और अग्राम्यता से युक्त सरस पदावली	पदों की अति-समासहीनता तथा श्रव्यता	लम्बे समासों का अभाव यानी पदों की पृथकता अमिश्रितता	
5• सुकुमा-रता	सुकुमार अर्थ, संयुक्त मिले हुए तथा सुख से बोले जाने योग्य पदों का प्रयोग	ऐसा बन्ध जिसमें अक्षर निष्ठुर न हो	x	अपरूष शब्द	अपरुषता
6• अर्थ - व्यक्ति	अर्थ का अविलम्ब बोध	अर्थ का सीधे-सीधे बोध	x	अर्थसम्पर्कता में विलम्ब भाव	वस्तु स्वभाव की स्फुटता
7• उदारता	{1} अतिविचित्र अनेक प्रकार के अर्थों वाले सौष्ठव युक्त सुन्दर युक्तियों का कथन {2} दिव्या-भाव श्रृंगार अद्भुतता से युक्त कथन	{1} नायक में उत्कर्ष या उदात्तता का ज्ञापन {2} श्लाघ्य विशेषणों से युक्त होना	x	अग्राम्यता	पदों का नृत्य सा करता हुआ प्रतीत होना

8• ओज	शब्द और अर्थ की उदात्त सम्पति	समासाधिक्य	पदों की समास बहुलता	पद-बन्ध की गाढ़ता	प्रौढ़ि (1) पद के लिए वाक्य (2) वाक्य के लिए पद (3) [illegible]तार (4) सीम (5) सभिप्रायता
9• कान्ति	मनः श्रोत प्रसादी शब्द-बन्ध	अर्थ को लौकिक रूप में ही प्रस्तुत करना	x	उज्जवलता	रसदीप्ति
10•समाधि	अर्थ की विशेषता	अन्य के गुण का अन्य में स्वाभाविक संक्रमण	x	आरोह तथा अवरोह से युक्त क्रम	वक्तव्य अर्थ का दर्शन

गुणों के लक्षण के विषय में दण्डी और भामह चुप हैं । भरत बोलते हैं । किन्तु वे गुणों का स्वरूप लक्षण न कर तटस्थ लक्षण ही करते और कहते हैं । दोषों का विपर्यास ही गुण है -

एते दोषास्तु विज्ञेया: सूरिभिर्नाटिकाश्रया: ।
एत एव विपर्यस्ता गुणा: काव्येषु कीर्त्तिता ।। [1]

मानो गुण वेदान्त का ब्रह्म है जो नेति - नेति के अपोह द्वारा ही जाना जा सकता है । स्पष्ट ही भरत ने दोषों को भावात्मक और गुणों को अभावात्मक माना और यदि भरत ने दोषों को अभावात्मक भी माना हो तो गुणों को तो भावात्मक नहीं ही कहा । अभाव का अभाव भाव रूप ही हो यह आवश्यक नहीं है । भरत गुणों के लक्षण के विषय किसी ऐसी स्थिति में पहुँचे नहीं दिखाई देते, जिस पर निर्भर रहा जा सके । वामन ने इस स्थिति को बदलने का प्रयत्न किया है और लिखा है वे तत्व गुण होते हैं, जो काव्य-शोभा को जन्म देते हैं । जनक को अभावात्मक नहीं माना जा सकता अत: वामन के इस कथन से स्पष्ट है कि वे गुणों को 'भावात्मक' तत्व मानते हैं, किसी का अपोह या विपर्यास नहीं । वामन का गुण लक्षण भी तटस्थ लक्षण ही है, किन्तु इस कमी का कलंक केवल वामन के माथे नहीं आता, क्योंकि पूरे संस्कृत काव्यशास्त्र में ही गुणों का स्वरूप लक्षण नहीं बन पाये ।

1- ना० शा० 17/95

वामन ने दण्डी के गुणों को नये सिरे से निरूपित करने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास कवि मार्ग में गुणों का अनुसन्धान था। उन्होंने गुणों को मार्ग का प्राण न स्वीकार कर पद बन्ध का वैशिष्ट्य माना।

ओज: - प्रसाद - श्लेष - समता समाधि - माधुर्य - सौकुमार्योदारतार्ऽथव्यक्ति - कान्तयो बन्धगुणा: ।[1]

मार्ग को रीति कहकर उसे काव्य की आत्मा कहा -

रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्ट पदरचना रीति:। विशेषो गुणात्मा।[2]

इस प्रकार वामन के विवेचन में गुणों का स्थान स्वयं गौण हो गया। रीतियों की विशेषता उन्होंने भी प्रदेशगत न स्वीकार की, जो स्वाभाविक है, सिद्धान्त में नियन्त्रित कर दी।

किं पुन: देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्ति: काव्यानां येन अयं देशविशेषव्यपदेश: ? नैवम्। विदर्भगौड - पांचालेषु देशेषु तत्रत्यै कविभि: यथास्वरूपम् उपलब्धत्वात् तत्समाख्या, न पुनर्देश: किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।[3]

वामन की मौलिकता से तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, दण्डीकृत दश गुणों की संज्ञा में शब्द-अर्थगत द्विधा विभाग से बीस गुणों का विवेचन उपेक्षित होकर भी सौशब्द काव्य की प्रतिष्ठा का नया समारम्भ था। परन्तु वामन जैसे समर्थ आचार्य को इस कार्य में सफलता नहीं मिली।

1- का० सू० वृ० 3/1/4

2- का० सू० वृ० 1/2×6-7-8

3- का० सू० वृ० 1/2×9-10

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में वाक्य की पद-गुम्फन के सौन्दर्य को लेकर गुण की चर्चा की है, यह सौन्दर्य शब्दों के संनिवेशचारुत्व पर निर्भर होता है, अतः उसे वे शब्द-गुण कहते हैं ।

रचनाचारुत्वे खलु शब्दगुणाः संनिवेश चारुत्वम् ।

तदर्थान्युर्वैवर्षे तरुपक्तिरसंकटैव मुने ।।[1]

रुद्रट ने टीकाकार नमिसाधु ने रीतियों को लेकर प्रश्न प्रस्तुत किया है कि ये रीतियाँ अलंकार तो हैं नहीं, तो क्या शब्द के आश्रित गुण हैं ?

एताश्च रीतयो नालंकाराः, किं तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति ।[2]

इसी तरह दोषों के उपसंहार में 'दोषान्गुणाश्च निपुणो विसृजन्नसारम' की टीका करते हुए पाँच शब्दगुणों और चार अर्थगुणों का उल्लेख किया है ।

शब्दस्य हि वक्रोक्त्यादयः पंच गुणाः ।

अर्थस्य पुनर्गुणा वास्तवादयश्चत्वारः ।[3]

जो वस्तुतः रुद्रट द्वारा विवेचन किये गये शब्दालंकारों के पाँच वर्ग [वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र] तथा अर्थालंकारों के चार वर्ग [वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष] हैं ।

1- का० ल० 2/10

2- का ल० [रुद्रट की टीका] 2/6

3- का० ल० [टीका] 12/36

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।

शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ।।[1]

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।

एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ।।[2]

रूद्रट ने इनको क्रमशः शब्द और अर्थ के अलंकार कहा है । जिनके प्रभेदों के अन्तर्गत समस्त अलंकारों का निरूपण हुआ है । दश गुणों से भिन्न भूमि में तीन गुणों की उद्भावना का उल्लेख प्रथम औदीच्य आचार्य भामह के गुण विषयक विवेचन में पाया जाता है ।

गुणों में रस की स्थिति का संकेत सबसे पहले दण्डी के काव्यादर्श में प्राप्त होता है, जहाँ श्लेष आदि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा गया है । दश में से अन्यतम गुण माधुर्य का विवेचन करते हुए आचार्य ने कहा है कि माधुर्य गुण, रस से ओत-प्रोत कवि की वाणी तथा उन विषयों के वर्णन में पाया जाता है जिससे सहृदय सामाजिक मस्त हो जायें जैसे वसन्त से भ्रमर उन्मत्त हो जाता है । इस प्रकार कविता की भाषा एवं उसके वर्ण्य विषय में रस की स्थिति जब पूर्ण रूप से हो तो उसे गुण की संज्ञा दी गई है । यहाँ पर रस-पद के प्रयोग से रस-सामान्य का ग्रहण किया गया है ।

1- का० लं० 2/13

2- का लं० 7/9

गुणों को काव्य - शोभा का आधायक तत्व कहने वाले आचार्य वामन ने कान्ति नामक अर्थ - गुण की परिभाषा ही रस - परक की है -

दीप्तरसत्वं कान्तिः ।[1]

काव्य में जहाँ श्रृंगार आदि रस दीप्त हों वह स्थल कान्ति गुण का होता है । रस की दीप्ति से तात्पर्य उसकी स्फुट प्रतीति से है । आगे चलकर आनन्दवर्धन ने रस के सन्दर्भ में दीप्ति, द्रुति एवं विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इनका चित्त से सम्बन्ध माना । वीर, रौद्र एवं भयानक रसों की अनुभूति सहृदय सामाजिक के चित्त की दीप्ति के रूप में होती है, जहाँ ओज गुण रहता है ।

रौद्रदयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।

तद्व्यक्ति हेतू शब्दार्थावाभित्यौजो व्यवस्थितम् ।। [2]

उभयविध श्रृंगार एवं करुण रसों में माधुर्य गुण पाया जाता है । इसमें सहृदय का चित्त द्रवित हो उठता है । प्रसाद गुण का कार्य चित्त का विकास है जो प्रायः सभी रसों में पाया जाता है ।

रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के बाद उसके तीन गुणों को मान्यता देना एक अलग विषय था, जो रसाभिव्यक्ति के चिन्तन से प्रेरित था किन्तु इन तीन गुणों की सीमा में शब्द-अर्थ के दश गुणों को अन्तर्भुक्त करने का प्रयास काव्य - चर्चा के इतिहास में असमीक्षित घटना थी । यह इसलिए कि तीन गुणों और दश गुणों की

1- का० सू० वृ० 3/2/14

2- ध्व० 2/9

उद्भावना की मूल भूमियाँ ही भिन्न - 2 हैं । दश गुण सौशब्द काव्य के प्राण हैं स्वतः अपने में समग्र काव्य-सिद्धान्त है । तीन गुण अंगी रस के धर्म उनकी अन्तःसत्ता के प्रकाश हैं, इन गुणों की रस से अलग कोई सत्ता नहीं है, ये रस का अवलम्बन करके ही काव्य में चमत्कृत होते हैं -

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः

अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।।[1]

इन तीन गुणों का सम्बन्ध मन की भावाभिभूत तीन दशाओं से है - (1) द्रवीभूत होना (द्रुति, माधुर्यगुण) (2) विस्तार होना (विवेष्टा ओजोगुण) (3) विकास होना (सम्पर्कत्व, प्रसाद गुण) और ये क्रमशः तीन-2 रसों के साथ सम्बद्ध हैं । श्रृंगार, करुण, शान्त में माधुर्य गुण, वीर, रौद्र, बीभत्स में ओज गुण और हास्य, अद्भुत, भयानक में प्रसाद गुण की स्थिति होती है, इसमें विकास या समपर्कत्व अवस्था जिस प्रकार मनोदशा की समरस स्थिति है, उसी प्रकार प्रसाद गुण सभी रसों की अभिव्यक्ति करता है । रस के आश्रित इन तीन गुणों के विपरीत वैदर्भ मार्ग के दश गुण सर्वथा शब्दाश्रित है, वे अपने से ही पूर्ण सौशब्द काव्य है । अर्थ (भाव) की खोज करने वाले परवर्ती आचार्य भामह ने सुबन्त-तिङन्त शब्दों की व्युत्पत्ति के आश्रित होने के कारण ही सौशब्द काव्य को बहुत प्रतिष्ठा न दी ।

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ।।[2]

1- ध्व0 2/6

2- का0 1/14

शब्द प्रयोग प्रकार के आश्रित दश गुणों की स्थिति रस के व्यंजक धर्म तीन गुणों से भिन्न है, इस तथ्य की स्वीकृति का स्पष्ट संकेत आनन्दवर्धन के संघटना और गुण के पार्थक्य विवेचन में भी मिलता है ।

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।

तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।[1]

गुण रस के नियत धर्म है, अगर गुणों को संघटना के आश्रित मान लिया जाता है तो वे भी अनियत विषय हो जाते हैं, जो मान्य नहीं हैं । प्रसाद गुण सभी संघटनाओं में व्याप्त हैं । ऐसी स्थिति में जबकि गुण और संघटना के पृथककरण का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, गुण से भिन्न और गुण रूप संघटना के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई नियम व्यवस्था होनी चाहिए । ध्वनिकार ने रसव्यक्ति के हेतु गुणों का जो मूल लक्षण किया है, उनमें केवल ओज को छोड़कर शेष माधुर्य और प्रसाद में शब्द-प्रयोग की व्याख्या न होकर भावाभिभूत होने वाली मनोदशा का ही विभाजन है ।

रसों को ध्यान में रखकर गुणों का प्रयोग किया जाता है । कोमल भाव वाले रसों में कोमल और मधुर शब्दों का प्रयोग होना चाहिए । यदि उनके स्थान पर कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाय तो रसास्वादन में बाधा उपस्थित हो जायेगी । अतः मधुर भावों को द्योतित करने वाले रसों के रसत्व को सुरक्षित करने के

1- ध्वा० 3/5

लिए मधुर एवं कोमल वर्णों का प्रयोग आवश्यक है । इसलिए इन रसों में माधुर्य गुण का व्यवहार होता है । रौद्र, वीभत्स और वीर रस में उग्रभावों की व्यञ्जना होती है, इसमें ऐसे शब्दों का गुंफन होना चाहिए जो उग्रता को प्रकट करने में समर्थ हो सके । ऐसी स्थिति में उग्रभाव वाले रसों की व्यञ्जना कठोर वर्णों के प्रयोग द्वारा ही सम्भव है । मधुर एवं उग्र भावों के अतिरिक्त कवि को शब्दों के संघटन पर भी ध्यान देना पड़ता है । कविता में एक हृदय के भाव को दूसरे हृदय के पास तक पहुँचाना पड़ता है । अतः कवि इसका ध्यान रखता है कि वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो सरल, सुबोध एवं सर्वजनसुलभ हो । प्रसाद गुण के द्वारा ही कवि श्रोताओं एवं पाठकों के हृदय को अभिभूत कर लेता है ।

रस-अलंकार

भामह को अलंकारवादी कहा जाता है, जिस प्रकार वामन ने रीति को आनन्दवर्धन ने ध्वनि को या विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना उसी प्रकार भामह ने कहीं भी अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं कहा । भामह ने अलंकार को काव्य शोभा का आधायक तत्व बताया ।

रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।[1]

भामह ने अपने ग्रंथ का बहुलांश §400 में 151§ कारिकाएँ अलंकार निरूपण में व्यय किया भामह के समय में अलंकार शब्द का प्रयोग केवल उपमा-रूपक आदि के निष्पादक सभी तत्वों के लिए होता था । अतः काव्य-शोभा के जो भी निष्पादक हुए वे अलंकार शब्द के वाच्य बन गये । दण्डी का कथन इस दृष्टि से ध्यातव्य है ।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।। [2]

उन्होंने गुण और अलंकारों में भेद नहीं माना । मुख आदि पाँच संधियों, उपक्षेप आदि 64 सन्ध्यांगों, कैशिकी आदि 4 वृत्तियों, नर्म आदि 16 वृत्त्यंगों और भूषण आदि 36 लक्षणों को भी उन्होंने अलंकार में गिन लिया ।

1- का० 1/14

2- का० द० 2/1

यच्च सन्ध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे ।

व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ।[1]

आगमान्तर अर्थात् दूसरे शास्त्र {भरत कृत नाट्यशास्त्र} में जो सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग लक्षण आदि सविस्तार वर्णित है उन्हें भी ये अलंकार मानते हैं । रस को भी जब श्रव्य काव्य में स्थान मिला तब उसे रस न कहकर रसवदलंकार कहा गया । भामह के अनुसार अलंकार का मूल तत्व है अतिशयोक्ति और अति - शयोक्ति का अर्थ है -

लोकातिक्रान्तगोचर वचनः निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा ।[2]

भामह की इस मान्यता का उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने मुक्त कण्ठ से समर्थन किया है । दण्डी ने भी दृढतर शब्दों में कहा है कि -

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।।[3]

आनन्दवर्धन ने भी उसकी उपादेयता स्वीकार की है -
प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रियाः कृतैव च सा महाकविभिः कामापि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ।[4]

1- का॰ द॰ 2/367

2- का॰ 2/81

3- का॰ द॰ 2/20

4- ध्व॰ पृ॰ 259

भामह द्वारा वर्णित अलंकारों की संख्या 38 है । भरतनिर्दिष्ट 4 अलंकारों की तुलना में यह 38 की संख्या निश्चित प्रगति की सूचक है ।

उपमा रूपकंचैव दीपकं यमकं तथा ।

अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया: ।।[1]

रस का रसवत् नाम से अलंकार में ग्रहण भामह ने ही किया है । भरत ने पहले अर्थालंकारों का निर्देश किया है, फिर शब्दालंकार का परन्तु भामह का क्रम इसके विपरीत है, इन्होंने पहले शब्दालंकार रखे हैं, फिर अर्थालंकार ।

दण्डी ने अलंकार का स्वरूप इस प्रकार बताया है - काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं । काव्य-शोभा पद में काव्य-शरीर सम्बन्धी परिभाषा के द्वारा इसको समझा जा सकता है -

अत: प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरय: ।

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धु: क्रियाविधिम् ।।

तै: शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिता: ।

शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली ।

गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ।।[2]

अमरकोष में शोभा शब्द कान्ति, द्युति एवं छवि के अर्थ में है । परम शोभा को सुषमा कहते हैं ।

1- ना0 शा0 17/43

2- का0 द0 1/9, 10

सुषमा परमाशोभा शोभा कान्तिर्द्युतिश्छवि: ।[1]

निरुक्त में शुभम् शब्द जल का पर्याय है । यदि शोभा की व्युत्पत्ति शुभ से अन्वित की जाय तो शोभा का अर्थ सरसता ही होगा । कुंतक ने अलंकार के प्रसंग को लेकर शोभा का अर्थ कान्ति किया है ।

शोभा शून्यता, शोभा शालितलया शून्यं रहितशोभाशून्यं तस्य भाव: शोभा-शून्यता, तया हेतुभूतया, तेषामलंकारण त्वमनुपपन्नम् । [2]

दण्डी ने उसी काव्य शोभा के मूल में वाणी की उक्ति को देखा था - सम्पूर्ण काव्य वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो प्रकारों में विभक्त है । श्लेष का प्रयोग वक्रोक्ति में विशेष रूप से शोभा का आधायक होता है -

इति वाचामलंकारा दर्शिता: पूर्वसूरिभि: ।।

श्लेष: सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङ्मयम् ।।[3]

रुद्रट के समय तक रस के प्रति समादरभाव अधीं अधिक बढ़ चला था । उनसे पूर्व भरत ने रस को नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया था तथा कतिपय काव्यतत्वों अलंकार, गुण, दोष के रसाश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला था

1- अ० को० 1/3/17

2- व० जी० 3/44

3- का० 2/7

एतद रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च

सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद्‌ भविष्यति ।।[1]

मधुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानसंयुतम्‌ ।

भवति जगति भोग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्‌ ।।[2]

इसके उपरान्त अलंकारवादी आचार्यों - भामह, दण्डी और उद्‌भट ने यद्यपि रस-भाव आदि को रसवद्‌ आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया । भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकृत किया ।

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्‌ ।[3]

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्‌ ।[4]

भामह के कथनानुसार कटु औषधि के समान कोई शास्त्रचर्चा भी रस के संयोग से मधुवत्‌ बन जाती है ।

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते ।

प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्‌ ।[5]

1- ना० शा० 1/110

2- ना० शा० 17/113

3- का० 1/21

4- का० द० 1/18

5- का० 5/3

दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है ।

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।

येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।।[1]

दण्डी के माधुर्य गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहलाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है । दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में 'रस' के सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है ।

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचतु ।

तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।[2]

रुद्रट ने अलंकारवादी आचार्यों के अनुरूप रस को रसवद् अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट न कर स्वतन्त्र रूप से वर्णित किया है । भामह और दण्डी के समान इन्होंने रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्व माना है ।

तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः ।

सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ।। [3]

प्रथम बार रुद्रट ने ही वैदर्भी, पांचाली नामक रीतियों और मधुरा ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया है -

---

1- का० द० 1/51

2- का० द० 1/62

3- का० अ० 16/15

इह वैदर्भी रीतिः पांचाली वा विचार्य रचनीया ।

मधुरललिते कविना कार्ये वृत्ति तु श्रृंगारे ।।[1]

रूद्रट ने श्रृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया है ।

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम् ।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नात्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम् ।।[2]

वामन ने अलंकार शब्द को उपमा, रूपक, दीपक आदि की संकीर्ण सीमा और बाह्य सतह से ऊपर उठाकर व्याप्ति की अतिभूमि तक पहुँचे आयाम में और काव्य के मर्मात्मा तक निविष्ट तत्व के रूप में देखा । यह तत्व था सौन्दर्य तत्व । संस्कृत के सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र में पहली घोषणा वामन ने की है कि -' काव्य का सर्वस्व सौन्दर्य है ।'

सौन्दर्यमलंकारः ।[3]

अलंकृतिरलंकारः करणव्युत्पत्त्या पुनः अलंकारशब्दो यमुपमादिषु वर्त्तते ।[4]

वामन का सौन्दर्यतत्व एक वस्तुनिष्ठ धर्म है इसलिए रस से भिन्न है क्योंकि रस प्रमातृनिष्ठ यानी व्यक्तिनिष्ठ तत्व है । वामन का चिन्तन एक ऐसे वैज्ञानिक

1- का0 अ0 14/37

2- का0 अ0 14/38

3- का0 सू0 1/2

4- का0 सू0 [वृत्ति] पृ0 7

का चिन्तन है, जो वस्तु का विश्लेषण स्वनिरपेक्ष होकर करता है यानि जो प्रतिबिम्ब को नहीं, उसके आधार पर बिम्ब को आँकता है ।

दण्डी ने जहाँ रसों को रसवत् अलंकार में अन्तर्भूत माना था और वामन ने उन्हें कान्ति नामक अर्थगुण में अन्तर्भूत माना । वामन ने रीति और गुण में परस्पर सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । दण्डी के अलंकार लक्षण को गुण का लक्षण बताया और अलंकार उन्हें माना जो गुण द्वारा उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हैं ।

काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा: । तदतिशयहेतवस्त्वलंकार: ।[1]

अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी ने अलंकारों को गौरव देते हुए भी रस के महत्व को स्वीकार किया है । भामह और दण्डी को रसतत्व का ज्ञान नहीं था, ऐसी बात नहीं है, न तो वे रसों की सरसता से अनभिज्ञ थे, फिर भी उन्होंने इसे अपने विवेचन में स्वतन्त्र स्थान न देकर अलंकार का ही एक अंग माना है । भामह ने रसवद्, प्रेय: उर्जस्वि आदि अलंकारों का वर्णन करते हुए रस के सभी विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है । श्रृंगार आदि रसों की स्पष्टत: प्रतीति की दशा में वे रसवद् अलंकारों की स्थिति अस्वीकार भी कर देते हैं ।

रसवद्दर्शितस्पष्ट - श्रृंगारादि रसं यथा ।
देवी समागमद् धर्ममस्करव्यतिरोहिता ।।[2]

1- का० सू० वृ० 3/1/2

2- का० 3/6

दण्डी ने रसवद् अलंकार का वर्णन करते हुए उसके अन्तर्गत आठ रसों एवं आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है तथा माधुर्य गुण में रसों को सन्निविष्ट कर दिया है ।

इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।[1]

प्राङ् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः श्रृंगारतां गता ।[2]

उद्भट ने भी रसवद् अलंकारों का वर्णन करते हुए रसों के नव प्रकारों का उल्लेख किया है । इन्होंने रसों के सभी तत्वों एवं भावों का संकेत किया है ।

रूद्रट ऐसे आचार्य हैं जो रस एवं अलंकार दोनों को महत्व देते हैं । काव्य में रस का नियोजन विशेष प्रयत्न द्वारा करना चाहिए ।

तस्मात्तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।[3]

इस प्रकार यह निष्कर्ष स्पष्ट निकलता है कि अलंकारवादी आचार्य रसों के महत्व को अमान्य नहीं ठहराते किन्तु अलंकारों के प्रति अतिशय व्यामोह के कारण अलंकारों के अन्तर्गत ही रसों को मान लेते हैं या अलंकार के अंग रूप में रसों की स्थिति स्वीकार करते हैं ।

भामह ने रस का महत्व स्वीकार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मधु से लिप्त तिक्त औषधि भी मधुर हो जाती है उसी प्रकार शुष्क शास्त्रीय विषय

1- का० द० 2/292

2- का० द० 2/281

3- का० अ० 12/2

भी रसों से युक्त होकर सरलतापूर्वक ग्राह्य हो जाता है ।

दण्डी के अनुसार माधुर्य गुण की मधु के समान मधुरता या रसत्व पाठकों को उसी प्रकार मदासक्त बना देती है जिस प्रकार मधु से भौंरे आकृष्ट हो जाते हैं । भामह, दण्डी एवं उद्भट तीनों ही आचार्य रस को अंगों सहित अलंकार में अन्तर्भावित कर दिया है । इन सभी में उद्भट का विवेचन अधिक विस्तृत एवं प्रौढ़ है तथा उसमें स्पष्टता भी है । दण्डी ने 'रसवद् रसपेशलम्' अत्यन्त ही सीमित शब्दों में रसवद् अलंकार की परिभाषा दी है । उद्भट ने रसों के पांच साधनों का निर्देश किया है - स्था..., संचारी, विभाव, अभिनय एवं स्वशब्द -

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोदयम् ।

स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ।।[1]

स्वशब्द की व्याख्या करते हुए उद्भट के प्रसिद्ध टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने श्रृंगार आदि रसों स्थायीभाव एवं संचारी भावों की स्वशब्दवाच्यता कही है ।

प्रेय: नामक अलंकार का लक्षण भामह ने नहीं दिया है । दण्डी के अनुसार अत्यन्त प्रियतर भाव के कथन को प्रेय: अलंकार कहते हैं ।

प्रेय: प्रियतराख्यानं ।[2]

उद्भट का लक्षण इससे अधिक स्पष्ट है । उनके अनुसार रति आदि भावों को सूचित करने वाले अनुभावों द्वारा जिस काव्य की रचना हो वह प्रेय अलंकार युक्त -

---

1- का० सा० ... 4/3

2- का० द० 2/273

रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूकनैः ।

यत्काव्यं कथ्यते सद्‌भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।। [1]

अर्थात् जब स्थायी भाव रसावस्था को न पहुँचे तो वहाँ प्रेयस्वत् अलंकार होगा, जिसे रसवादी आचार्यों ने भाव कहा है ।

दण्डी के अनुसार 'ऊर्जस्विरूढाहंकारम्' उर्जस्वि अलंकार में गर्व की स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति होती है । परन्तु दण्डी के लक्षण में स्पष्टता नहीं है । उद्भट के अनुसार यदि काम, क्रोध आदि के कारण रस एवं भावों का अनौचित्य ढंग से वर्णन हो तो वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार होगा ।

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।

भावानां च रसानां, च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ।। [2]

यहाँ पर रसवादी एवं उद्भट में यही अन्तर है कि रसवादी अंगरूप रसाभास एवं भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार कहते हैं तो उद्भट अंगीभूत को ।

उद्भट के अनुसार समाहित वहाँ होता है जहाँ भाव, रसाभास, भावाभास की शान्ति का तो उल्लेख हो, किन्तु दूसरे रसों के अनुभाव आदि का वर्णन न हो ।

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।

अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत् समाहितम् ।। [3]

1- का० सा० 4/2

2- का० सा० 4/5

3- का० सा० 4/7

उद्भट ने उदात्त अलंकार का वर्णन किया है जिसके महत्त्व को उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने अधिक बढ़ा दिया है । उन्होंने द्वितीय उदात्त के के अन्तर्गत रस के अंगों को मिला दिया है । इनके कथन का समर्थन करते हुए अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने भी कहा है -

यत्र यस्मिन दर्शने वाम्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकारा: ।
तत्रांगिभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तलंकार: ।।[1]

इस प्रकार इन आचार्यों ने अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के भीतर एवं अंगीभूत रस, भाव, रसाभाव, भावाभास एवं भावशान्ति को रसवद् प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि एवं समाहित अलंकारों के रूप में वर्णित किया है ।

रसवादियों का दृष्टिकोण अलंकारवादियों से सर्वथा भिन्न है । अलंकारवादी अलंकार को काव्य का 'जीवातु' मानकर रस, गुण, रीति आदि को काव्य का बाह्य शोभाकारक तत्त्व मानते हैं, तथा उन्हें अलंकार की संज्ञा से अभिहित करते हैं । ठीक उसके विपरीत रसवादियों ने अलंकार को काव्य का बाह्य शोभाकारक धर्म माना है । काव्य में अलंकारों की स्थिति अनित्य है । वे कटक-कुण्डल आभूषणों की भांति काव्य के 'अस्थिर' धर्म है । इनका मुख्य कार्य है रस का उपकारक सिद्ध होना या रस सिद्धि में गति प्रदान करना । रस मूलत: काव्य का आत्मधर्म है और अलंकार उसके उपकारक साधन है । इस प्रकार रसवादी अलंकार को सौन्दर्योत्पादन का एक

1- अ० स० पृ० 692

साधन ही स्वीकार करते हैं । अलंकार काव्य का सौन्दर्यवर्द्धन कर रस के लिए उपकारक सिद्ध होते हैं ।

रसवादियों ने अलंकारवादियों द्वारा निरूपित 'रसवदादि' अलंकारों की स्थिति एवं विवेचन को अमान्य ठहरा दिया है । रसवादियों के अनुसार रसवत् उर्जस्वी, प्रेयस आदि अलंकार उसी स्थिति में अलंकार हो सकते हैं जब उनका वर्णन प्रधान रूप से न होकर गौण रूप से होता है । इसलिए ध्वनिकार ने इसे गुणीभूत - व्यंग्य के एक प्रकार 'अपरस्यांग' व्यंग्य के भीतर ले लिये गये हैं ।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रागन्तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ।।[1]

इस प्रकार उद्भट द्वारा उद्भावित यह सिद्धान्त जिसमें रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत रसों को अन्तर्भावित किया जाता है, खंडित हो जाता है ।

रसवादी आचार्यों ने अलंकारों के अन्तर्गत रस को मिलाने के सिद्धान्त को अमान्य घोषित किया है । वे रस को अलंकार्य मानते हैं तथा अलंकार उसके सौन्दर्यवर्द्धक तत्व है । अलंकार्य स्वयं अपना चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकता । वह अलंकारों का कार्य है । अलंकार ही अलंकार्य या रस के सौन्दर्यवर्द्धन में सहायक होते हैं । रसवादियों ने काव्य के तीन भेद कर अलंकार प्रधान काव्य को अधम या अवर काव्य माना है । रसास्वाद के द्वारा पाठक के हृदय में रसोन्मीलन

1- ध्वा० 2/5

करना भारतीय साहित्य शास्त्र का प्रधान उद्देश्य है । इस दृष्टि से रस ही काव्य का सर्वस्व है । अलंकार तो वाणी के विलास है । रस के द्वारा काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य बढ़ जाता है । अलंकार तो शब्द और अर्थ के उपकारक होकर उसके बाह्य सौन्दर्य का वर्धन करते हैं । रस आत्मतत्व के सौन्दर्य की वृद्धि कर चित्त का प्रसादन करता है । भरत ने रस-समूह को काव्य का मूल कहा है । जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से पुष्प एवं फल होते हैं वैसे ही रस मूल से भावों की व्यवस्था होती है -

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ।। [1]

भरत ने नाट्यशास्त्र में रस से पृथक अलंकारों का नाम मात्र के रूप में निरूपण हो चुका था । भरत के अनेक शताब्दियों के पश्चात् भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने काव्य में रस आदि के प्राधान्य की उपेक्षा करके अलंकार को काव्य का सर्वस्व प्रतिपादित किया था । अलंकार का प्रधान कार्य शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करना है और चमत्कार का आधान करना है । इस सौन्दर्य या चमत्कार के होने पर ही काव्य में काव्यत्व होता है । यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है तो वह काव्य नहीं । जिस प्रकार वनिता का मुख सुन्दर होते हुए भी बिना भूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार सरस होते हुए भी अलंकार से विहीन काव्य

1- ना० शा० 6/42

रमरणीय नहीं होता । उदाहरण के रूप में - कपित्थ का फल है, जो सरस होते हुए भी रमणीय नही ।

अलंकारवादियों पर ध्वनिवादियों ने अनेक आक्षेप किये, उन्हें शब्द क्रीड़ा में भ्रमण करने वाला कहा गया है । अलंकारवादी काव्य में भावात्मकता या सरसता का कोई मूल्य नहीं समझते । उनके लिए अलंकारों का चमत्कार होना ही पर्याप्त है और आवश्यक है । भामह काव्य के सरस होने पर भी उसमें अलंकार शून्यता को अरमणीयता का कारण मानते थे परन्तु भामह ने यह प्रतिपादित किया है कि काव्यत्व न केवल शब्द में रहता है और न केवल अर्थ में अपितु शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण एवं दोषरहित साहित्य में ही काव्यत्व निहित रहता है ।

दण्डी ने काव्य में सरसता को अनिवार्य तत्व बताया था । उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया था कि अलंकार निश्चयपूर्वक रस के लिए ही होते हैं, किन्तु उनमें अग्राम्यता विशेष रूप से रस के भार को वहन करती है ।

आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ का उतना वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो सका था, तथापि अलंकारवादी आचार्य ध्वनिवादियों के तीनों प्रकार के व्यंग्य अर्थ-वस्तु, अलंकार, रस से परिचित थे । अलंकारवादियों के अनुसार क्योंकि सभी काव्यशोभाकार धर्म अलंकार थे, अतः इन व्यंग्य रस आदि को भी उन्होंने अलंकार मान लिया था । उनके अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि ही अलंकार नहीं थे, अपितु ध्वनि, गुण, रस, रीति, नाट्य-वृत्ति आदि सभी धर्म काव्य के शोभा - कारक होने से अलंकार थे ।

अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट आदि स्पष्ट रूप से काव्य में रस की अनिवार्यता को सिद्ध करते हैं। वे रस की महत्ता से परिचित हैं, परन्तु अलंकार का ही एक अंग मानते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन ने रस का रस या श्रृंगार आदि शब्दों से निरूपण सदोष माना है तथा कहा है कि स्वशब्द से निवेदित होने मात्र से रस की निष्पत्ति नहीं होती। अपितु रस या श्रृंगारादि शब्दों के द्वारा अभिधान न होने पर भी विभावादि के संयोजन मात्र से रसनिष्पत्ति हो जाती है।

नहि केवलश्रृंगारादिशब्दमात्रभाजि - - - - - - - - काव्ये
मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति।[1]

मम्मट के अनुसार तो स्वशब्द से ही नहीं अपितु विभावादि का भी नामतः उपादान करने से काव्य के रसास्वादन में बाधा पहुँचती है। अतः इनकी गणना रस दोषों में की है।

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।[2]

रस काव्य का एक महनीय तत्व है जिससे काव्य में चारुता का आधान सुतरां होता है। अप्पय दीक्षित प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों ने ध्वनि की सत्ता मानते हुए भी रसवत् आदि का अलंकार के रूप में ही निरूपण किया है। भोज ने अलंकारों के तीन वर्ग होने का विधान किया है - वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति एवं रसोक्ति। "जहाँ विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के उपनिबन्धन से रसनिष्पत्ति होती है वे स्थल रसोक्ति के हैं"।[3]

1- ध्व0 1/4 [वृत्ति]

2- का0 प्र0 7/60

3- शृ0 प्र0 पृ0 438

अभिनवगुप्त के अनुसार रस अखण्ड आनन्दानुभूति है । साधारणीकृत अन्तः - करण द्वारा आस्वाद्यमान रस वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य, अपरिमितानन्दमय और स्वसंवेद्य रूप होने के कारण वह ब्रह्मानन्द सहोदर है, अलौकिक चमत्कारी है और काव्य जीवन सर्वस्व भी है । सुकवि अलंकार, रीति, वृत्ति सभी का प्रयोग रस के औचित्य को केन्द्र मानकर करें । अनौचित्य से रस-भंग होता है तथा काव्य-शोभा की हानि होती है ।

रस-रीति
========

वामन की दृष्टि में काव्य में जिस तत्व का सबसे अधिक महत्व है वह रीति है, वह आत्मस्थानीय है । वामन काव्य की आत्मा सौन्दर्य को मानते हैं और यदि उनके सम्प्रदाय को कोई नाम दिया जा सकता है तो 'सौन्दर्य सम्प्रदाय' नाम ही दिया जा सकता है । काव्यालंकार के कर्ता वामन ही वह आचार्य हुए जिन्होंने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दों में काव्य की भी आत्मा के होने का विचार करते हुए रीति को काव्य की आत्मा माना है ।

रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्ट पदरचना रीति: ।[1]

यद्यपि नाट्य शास्त्र में भी रीति का बीज विद्यमान है -

श्लेष: प्रसाद: समता समाधिर्माधुर्यमोज: पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।।[2]

दण्डी ने भी रीति के स्वरूप तथा वैदर्भी और गौड़ी आदि के भेद का प्रतिपादन किया है -

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा: स्मृता: ।

एषां विपर्यय: प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।।[3]

1- का० सू०, 1/2/6-7

2- ना० शा०, 17/96

3- का० द०, 1/42

त्य।।प वामन ने रीति और गुणों का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति सम्प्रदाय की असंदिग्ध रूप में प्रतिष्ठा कर दी । इनके अनुसार विशिष्ट पद रचना का नाम रीति है -

विशेषो गुणात्मा ।[1]

अतएव इसमें गुणों का अत्यधिक महत्त्व है । इसी से रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता है । वामन के अनुसार गुण का तात्पर्य काव्य - शोभाकारक धर्म है । इसी प्रकार काव्यशोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं ।

वामन के अतिरिक्त अमृतानन्द योगी ने पुनः रीति को काव्य की आत्मा मान वामन के मत की पुष्टि की है ।

रीतिरात्मास्यकाव्यस्य कथ्यते सा चतुर्विधा [2]

तत्पश्चात शौद्धोदनि ने अपनी कारिका में उक्ति, मुद्रा एवं वृत्ति के साथ रीति को काव्यजीवित कहा है ।

रीतिरुक्तिस्तथा मुद्रा वृत्तिः काव्यस्य जीवितम् । [3]

दण्डी ने गुणों की कल्पना काव्य मार्ग की पृष्ठभूमि पर की थी और मार्गों को दो नामों से विभक्त किया था -

---

1- का० सू०, 1/2/8

2- का० मी० पृ० 157

3- अ० शे० 1/2/1

वैदर्भ तथा गौड़ीय । वैदर्भ मार्ग को उन्होंने दक्षिणात्य मार्ग कहा था और गौड़ीय मार्ग को पौरस्त्य । दक्षिणात्य या वैदर्भ मार्ग को उन्होंने सर्वगुण सम्पन्न और श्लाघ्य मार्ग माना था । गौड़ीय मार्ग पर वे अधिक आदरवान नहीं थे । भामह ने दोनों को महत्व दिया और लिखा -

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ।।
गौड़ीयमिदमेतत् तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ।।
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौड़ीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।।[1]

वामन ने मार्गों को रीति नाम दिया है और उसकी संख्या तीन मानी- {I} वैदर्भी {II} गौडीया {III} पांचाली

रीतिवादी आचार्य वामन रूद्रट से निस्सन्देह पूर्व विद्यमान थे, किन्तु इनके ग्रन्थ पर उनका साक्षात् अथवा असाक्षात् कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता । आचार्य रूद्रट वैदर्भी आदि रीतियों और अनुप्रास की वृत्तियों के वर्णन प्रसंग आने पर विषयविभाग बताते हैं । श्रृंगार में कवि को विचार कर वैदर्भी और पांचाली रीति की रचना करनी चाहिए तथा कवि को मधुरा और ललिता वृत्तियों का प्रयोग करना चाहिए ।

1- का० 1/31-35

इह वैदर्भी रीतिः पांचाली वा विचार्य रचनीया ।

मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ति तु श्रृंगारे ।। [1]

वामन ने भी दण्डी के समान वैदर्भी रीति को अधिक महत्व दिया इसमें सभी गुण होते हैं जबकि गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति नामक दो ही गुण तथा पांचाली में केवल माधुर्य और सौकुमार्य ।

समग्रगुणा वैदर्भी ।

ओजः कान्तिमती गौडीया ।

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली ।[2]

वामन ने खड्ग उठाया और भामह के रोकने पर भी गौडीया तथा पांचाली रीति की सुमनोलताओं को काट डाला । उक्त तीनों रीतियों में केवल वैदर्भी ही ग्राह्य है, शेष दो नहीं । क्यों कि वैदर्भी में सभी गुण मिलते हैं, शेष दो में कम ।

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् ।[3]

पक्ष लेते हुए किसी ने कहा है कि वैदर्भी भूमिका तक पहुंचने के लिए गौडीय और पांचाली को सीढ़ी या अभ्यास की पूर्व दिशा मान लिया जाए तो वामन ने उस पर भी तुरन्त कह दिया - 'भिन्न दिशा का अभ्यास भिन्न दिशा

1- का० ल० 4/37

2- का० सू० 1/2/11-13

3- का० सू० 1/2/14

की भूमिका का लाभ नही करा सकता ।' उदाहरण दे दिया सन की रस्सी गूंथने का अभ्यासी त्रसर सूत्र का दुकूल नही बुन सकता ।

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः ।[1]

सर्वप्रथम रूद्रट ने रीति का सम्बन्ध रस के साथ स्थापित किया जिसका विकास ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे चलकर किया । कालान्तर में आलंकारिकों ने प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के लिए रीति नियत कर दी । ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को विशेष रूप से रसध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था । उनके मत में रसअंगी है और रीतियों की स्थिति अंगों की स्थिति के समान है । इसलिए आनन्दवर्धन ने पदों की संघटना में रसौचित्य को नियामक तत्व प्रतिपादित किया था ।

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदतः ।।[2]

रीति सिद्धान्त के अन्तर्गत रस रीति का एक पोषक तत्व है - रस की दीप्ति रीति की शोभा का पोषण करती है, यही उसकी सार्थकता है । रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध गुण के साथ है और गुण शब्दार्थ रूप काव्य का नित्य धर्म है, अतः रस का सम्बन्ध भी काव्य के नित्य धर्म के साथ स्थापित हो जाता है, किन्तु उसकी

1- का० सू० 1/2/18

2- ध्व० 3/9

अवस्थिति केवल एक गुण में ही है, अतः उसका मूल्य सीमित ही है । रस-सिद्धान्त में रस काव्य की आत्मा है और पदसंघटना रीति अंग-संस्थान के समान है । वर्ण-विन्यास और शब्दविन्यास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस के धर्म हैं, अतएव गुण के सम्बन्ध से रीति भी रस के साथ सम्बद्ध है । जिस प्रकार उक्ति चमत्कार से रस व्यंजना में सहायता मिलती है, इसी प्रकार सुन्दर पदरचना से भी । रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और विशद करती हुई रसदशा तक पहुंचाने में साधनरूप में सहायक होती है । अतः रससिद्धान्त में रीति के लिए स्थान नियत है

रस-ध्वनि :-

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की उद्भावना कर संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा तथा अपने समय से पूर्व उद्भावित साहित्य-शास्त्रीय तत्वों की व्यवस्था ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर की। रस काव्य के एक महनीय तत्व के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका था अत: रस को भी ध्वनि सिद्धान्त के साँचे में ढालना आवश्यक था। व्यंजना नामक नई शक्ति का आश्रय लेकर उन्होंने रस को ध्वनि का एक भेद माना। काव्य तत्वों की दृष्टि से ध्वनि में मुख्य रूप से तीन तत्वों का समावेश है - वस्तु अलंकार और रस। वस्तु से उनका तात्पर्य कोई अभिप्राय या विचार है। कवि विभिन्न विषयों में प्राय: कोई नई बात कहना चाहता है तो ज्ञान के क्षेत्र में एक नई जानकारी होती है। उसी को ध्वनिकार ने 'वस्तु' कहा है। अलंकार शब्द और अर्थ को आधार बनाकर अभिव्यक्ति में वैचित्र्य का सृजन करते हैं। रस इत्यादि भावों का अनुभवात्मक बोध है। आनन्दवर्धन ने वस्तु ध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं रसध्वनि के नाम से ध्वनि के तीन मुख्य भेदों का प्रतिपादन किया है, जिनमें रसध्वनि को अंगी अर्थात् सर्वातिशायी कहा है।

रस को ध्वनि कहने का आनन्दवर्धन का अभिप्राय उसकी प्रतीयमानता अर्थात् व्यंजनीयता से है। उनका कहना है कि रस तत्व स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों से रस का वैशिष्ट्य इसी में है कि वह मात्र व्यंग्य होता है। जब कि वस्तु एवं अलंकार वाच्य भी होते हैं। रस किसी भी अवस्था में वाच्य नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन के अनुसार उद्भट प्रभृति पूर्वाचार्यों के स्वशब्द अर्थात् रस एवं शृंगार आदि पदों के बहुश: प्रयोग होने पर भी रसानुभूति नहीं होती। इसके अतिरिक्त इनके प्रयोग के बिना भी विभावादि के संयोजन से रसानुभूति सुतरां होती है।

अत: अन्वय व्यतिरेक से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रसानुभूति विभावादि के संयोजन से ही संभव है ।

तृतीयस्तु रसादि लक्षण: प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त: प्रकाशते न तु साक्षात् शब्दव्यापारविषय इति वाच्यात् विभिन्न एव । तथाहि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादन मुखेन वा । पूर्वस्मिन पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनाम् अप्रतीतिप्रसंग: ।[1]

विभावादि चूंकि रस के वाचक नहीं हो सकते अत: रस इनके द्वारा व्यंग्य ही होता है । फलत: रस वाच्य नहीं रह सकता । इसीलिए काव्य के रसपरक प्रसंगों में यदि रस या श्रृंगारादि पदों का प्रयोग कवि करता है तो इसे दोष की संज्ञा दी जाती है ।

रसस्योक्ति: स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ।[2]

आनन्दवर्धन ने रस को रसादि ध्वनि के रूप में निरूपित किया है । रस भाव, उनके आभास तथा भावों के उदय, शान्ति, सन्धि एवं शबलता इन आठ तत्वों का ग्रहण रसादि पद से होता है । क्यों कि ये सब एक ही कोटि के हैं जिसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहते हैं । ये सभी व्यंग्य अवश्य होते हैं पर वाच्यार्थ से इनकी व्यंजनीयता का क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि सहसा लक्षित हो पाता ।

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में रसादि की व्यंग्यता दो रूप में पाई जाती है प्रधानतया तथा गौण रूप में । जहां रसादि प्रधान रूप से व्यंग्य

1- ध्व0 पृ0 8।

2- सा0 द0 7/6

होते हैं वहीं स्थल रसध्वनि का है । इसके विपरीत जहाँ रसादि की प्रधानता नहीं होती उस स्थल गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं । रसादि की प्रधानता वाच्य एवं व्यंग्य उभयसापेक्ष होती है । साहित्यिक तत्वों में प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय तीन प्रकार से किया जाता है - चारुत्वोत्कर्ष, कविविवक्षा एवं परिवृत्ति - सहत्वासहत्व के आधार पर । ध्वनि के विषय में जब विसंवाद उपस्थित होता है कि कौन प्रधान है तथा कौन गौण तो चारुत्वोकर्ष की कसौटी पर इसे कसा जाता है । जिस तत्व में चारुता का उत्कर्ष अन्य की अपेक्षा अधिक हो उसे ही प्रधान एवं दूसरों को अप्रधान अर्थात् गौण कहना चाहिए ।

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्याप्राधान्य - विवक्षा ।[1]

चारुत्व के उत्कर्षापकर्ष का निर्णायक सहृदय के हृदय के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व बन नहीं सकता ।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।[2]

कवि विवक्षा के आधार पर वस्तु एवं अलंकार के स्थलों में प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय किया जाता है । कवि जिसका निर्वाह पूर्ण रूप से करना चाहता है उसके लिए संकेत दे देता है । उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि वस्तु की प्रधानता है या अलंकार की । काव्यीय तत्वों के जब शब्दगत या अर्थगत होने का विसंवाद खड़ा होता है तो वहाँ अन्वयव्यतिरेक की प्रणाली का उपयोग किया जाता है । इसी को परिवृत्तिसहत्वासहत्व का सिद्धान्त कहते हैं । शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी यदि वह दोष, गुण या अलंकार बना रहता है तो उसे अर्थ से सम्बन्धित मानकर, व्यवहार होता है । अन्यथा शब्द

1- ध्व0 1/3 पर वृत्ति

2- सा0 द0 3/4

का परिवर्तन कर देने पर दोष, गुण या अलंकार बना नहीं रहता तो उसे शब्दगत ही मानना होता है । अन्य तत्वों की तुलना में रस की प्रधानता या अप्रधानता का निर्णय सहृदयसंवेद्यता से ही व्यवस्थित होगा । जिस तत्व में सहृदयों के मन को आवर्जित करने की अधिक क्षमता होगी वही प्रधान तथा अन्य गौण माना जायेगा ।

रसादि जहाँ प्रधान होते हैं वही इनकी संज्ञा ध्वनि है अन्यथा गौण होने पर इन्हें ही गुणीभूत व्यंग्य के नाम से अभिहित किया जाता है । आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि एवं समाहित प्रभृति अलंकारों की संज्ञा रसादि की अप्रधानता में ही सम्भव है, प्रधानता में नहीं ।[1]

क्यों कि अलंकार पद का अर्थ दूसरे की शोभा बढ़ाना है । जब रसादि प्रधान रूप से व्यंग्य होंगे तो उनके अंगी होने से अन्य तत्व ही उनकी शोभा में उत्कर्ष का आधान करेंगे । क्योंकि वे अलंकार्य हो जायेंगे । ऐसी स्थिति में उन्हें अलंकार कहना वदतोव्याघात है । अथवा रूपक, दीपक आदि को अलंकार इसलिए कहते हैं कि वे काव्य में निरूपित रसादि तत्वों की शोभा में उत्कर्ष का आधान करते हैं ।[2]

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीना सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।।[3]

इसलिए जहाँ पर काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य रसादि ही हों वे रसवत् अलंकार के स्थल नहीं हो सकते ।

1- ध्व० 2/5

2- ध्व० पृष्ठ 208

3-ध्व० 2/5 पर संग्रहश्लोक

ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार तो रसवत् अलंकार बन ही नहीं सकता। क्योंकि जहाँ रसादि प्रधानतया निरूपित हों वहाँ वे ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करते हैं तथा जहाँ उनकी प्रधानता नहीं होती अपितु वे वाच्य या व्यंग्य किसी अन्य तत्व के तुल्यकोटि अथवा उससे निम्न कोटि के होते हैं वहाँ उन्हें गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है। अलंकार तो काव्य की तृतीय एवं अत्यन्त हीन कोटि है जिसे आनन्द चित्र काव्य कहते हैं [1] रसादि उस कोटि को को इसलिए प्राप्त नहीं हो सकते कि चित्र काव्य सर्वथा व्यंग्यरहित हुआ करता है और रसादि केवल व्यंग्य ही होते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि के अभिधामूल एवं लक्षणामूल दोनों भेदों में से प्रथम अभिधामूल ध्वनि के रस, वस्तु एवं अलंकार तीन भेद तथा लक्षणामूल के अर्थान्तर संक्रमित एवं अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य नामक दो भेद करते हुए कुल पाँच भेदों का निरूपण किया है। इन पाँचों प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि को परमरमणीय होने से मूर्धन्य माना है तथा पूर्व परम्परा के अनुसार ही रसध्वनि से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का ग्रहण किया है। इन सब में भी रस को ही रसध्वनि की आत्मा कहा है।

एवं पंचात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावद - भिधीयते।[2]

इसके अतिरिक्त शंकुक ने रस-सूत्र की अपनी व्याख्या में रस को अनुमेय कहा है जिसका समर्थन महिमभट्ट ने अपनी ध्वनिध्वंसनात्मक कृति 'व्यक्ति -

---

1- ध्व0 3/42

2- र0 ग0 प्रथम आनन पृष्ठ 79

विवेक' में पर्याप्त विस्तार पूर्वक किया है । शंकुक का कहना है कि विभावादि हेतुओं से अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति बनाकर रस की साध्य के रूप में अनुमिति होती है । रस तत्व अनुमीयमान अग्नि आदि अन्य तत्वों से विलक्षण इसलिए है कि यहाँ अनुमान के बौद्धिक प्रक्रिया के साथ - साथ काव्य के पाठक या नाट्य के प्रेक्षक सहृदय सामाजिक की रत्यादि वासनायें भी जाग्रत होकर क्रियाशील हो उठती हैं । फलत: जहाँ धूम से अनुमित होकर अग्नि अनुमाता को उष्णता नहीं प्रदान कर पाती वहाँ रस अनुमीयमान होकर अनुमाता सामाजिक की अनुभूति का भी विषय हो जाता है ।

अभिनवगुप्त एवं पण्डितराज जगन्नाथ काव्य - रस को भी प्रत्यक् चैतन्य का रूप ही मानते हैं । भट्टनायक एवं विश्वनाथ ने तो उसे ब्रह्मास्वादसहोदर तक होने का विधान किया । पर उक्त आचार्यों के विवेचनों के अनुसार रस साक्षात् आत्मा ही हो गया जिसके लिए श्रुतियों में कहा गया है कि - रसो वैस: ।

नवम अध्याय

उपसंहार

<u>उपसंहार</u> - शोध की मौलिकता दृष्टि की मौलिकता है । किसी भी विषय का अनुशीलन जितनी दृष्टियों से किया जाता है, उतनी बार नवीन निष्कर्ष सामने आते हैं और वे ज्ञान के विकास में उपयोगी होते हैं । प्रस्तुत अध्ययन में कुछ तथ्य नये रूप में प्रकाश में आये हैं ।

काव्य का आत्मतत्व तथा मूलतत्व सदा से विश्व भर के साहित्य - शास्त्रियों की खोज का विषय रहा है । कभी इस तत्व को आत्मा के रूप में देखा गया तो कभी अहं के दार्शनिक प्रकाश में, कभी इसे सौन्दर्य का पर्याय माना गया तो कभी यह आनन्द के रस में व्याख्यात हुआ । काव्य का यह मूल तत्व कोई हो तथा इसकी व्याख्या चाहे किसी रूप में होती रही है । परन्तु इतना निश्चित है कि कोई न कोई तत्व ऐसा है जो समस्त कालों एवं समस्त देशों के काव्यों को एक परिधि के अन्दर समेटे हुए है । असंख्य परिवेशों को धारण करने पर भी कविता कविता के रूप में अक्षुण्ण रही है, उसके प्राणतत्व ने उसको किसी न किसी रूप में जीवित रखा है । कुछ भी हो कविता जीवन की प्रतिच्छाया है । वह जीवन से भिन्न होकर कुछ भी नहीं है । मनुष्य का वास्तविक जीवन वही है जिसे वह अन्तर्जगत में जीता है । बाह्य जगत की अनेक क्रियाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप अन्तर्जगत में अनेक प्रकार के भावों, अनुभूतियों एवं मानसिक संवेदनाओं का जन्म होता है । अतः इस अन्तर्जगत का पर्यवेक्षण एवं चित्रण करने के कारण काव्य भी भावमय होता है । इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्यनिर्माण एवं काव्यास्वादन दोनों स्तरों पर रस को ही आधार बनाया है । मूलरूप से भाव कवि के मन में होता है वही काव्य का रूप प्राप्त करता है और फिर वह सहृदय के उसी भाव का स्पर्श कर उसे अनुभूत करता है । इस प्रकार काव्य के पूर्व एवं अपर काल में रस की ही सत्ता रहती है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत तत्व 'रस' है । रस सिद्धान्त का आर्विभाव मूलत: नाट्यशास्त्र में ही हुआ है । साहित्य शास्त्र में जितनी कृतियाँ उपलब्ध है उनमें भरतकृत नाट्य शास्त्र प्राचीनतम है । भरत का काल विक्रम पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य का जाना जाता है । जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर रस के और भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य माने गये हैं । भरत ने नाट्यशास्त्र 16 वें अध्याय में काव्य की परिभाषा के प्रथम बार दर्शन होते हैं गूढ़ शब्द और अर्थ से रहित सुखपूर्वक बोधगम्य, युक्तियों से सम्पन्न नाटक ही सर्वश्रेष्ठ काव्य होता है । भरत ने नाट्यशास्त्र छठे [रसविकल्प] एवं सातवें [भावव्यंजक] अध्याय में रस का विस्तार के साथ विवेचन किया है । रस की परिभाषा देते हुए भरत कहते हैं कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाड्वादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं ।

भरत रस के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं करते, किन्तु उसका प्राधान्य अवश्य स्वीकार करते हैं । भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्य की दृष्टि से ही रस का विवेचन किया है । आठ ही रस माने हैं । 'अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:' कहकर शान्त रस को पृथक कर दिया है । मुख्य चार ही रस माने गये हैं - शृंगार, रौद्र, वीर, एवं वीभत्स । इन्हीं चार रसों से अन्य चार रस की उत्पत्ति हुई है । शृंगार से हास्य, रौद्र से करूण, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक की । रसों के भेद एवं रंग तथा देवता का भी वर्णन किया है । भरत के मतानुसार भावों की संख्या 49 है । स्थायी भाव 8, व्यभिचारी भाव 33 एवं सात्त्विक भाव - 8 है । इस प्रकार विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है । भरत के नाट्यशास्त्र में

साधारणीकरण के बीज विद्यमान है, जब भावों को सामान्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है । भरत ने पहले अगूढ़, अर्थान्तर आदि रस दोष बताये और फिर श्लेष प्रसाद आदि रस गुण । गुण रस के नियत धर्म हैं । रसों को ध्यान में रखकर गुणों का प्रयोग किया जाता है । भरत ने नाट्यशास्त्र में रस से पृथक अलंकारों का नाम मात्र के रूप में निरूपण हो चुका था । भरत ने रस को नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया था ।

भामह का समय विक्रम पूर्व षष्ठ शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है । भामह की कृति काव्यालंकार में काव्य की परिभाषा उक्त प्रकार से दी है - शोभित शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है । शोभित का अर्थ यहाँ पर वक्रता है अतः वक्रता समन्वित शब्द और अर्थ से वाणी में चमत्कार आता है । रस-सिद्धान्त के प्रति भामह का दृष्टिकोण एक विरोधी विचार के जैसा है, ये रस-सिद्धान्त के पोषक न होकर उसके विरोधी हैं । रस की सीमा को संकीर्ण कर उसे कतिपय अलंकारों में अन्तर्भूत कर दिया है । महा - काव्य के विवेचन में रस के महत्व को स्वीकार किया है ।

भामह विभाव को ही रस मानते हैं । प्रेयस रसवत् एवं उर्जास्य उर्जस्वी अलंकार में समस्त रसों की गणना की है । रसों के भेद इत्यादि का उल्लेख नहीं किया । साधारणीकरण की प्रेरणा भूमि के रूप में भामह ने प्रत्यक्ष को कल्पना रहित ज्ञान नहीं मान है, अपितु नाम जात्यादि योजना युक्त कल्पना परक ज्ञान स्वीकार किया है । यद्यपि अलंकार को अत्यधिक महत्व देते हुए भी भामह ने रस को समुचित समादर प्रदान किया कटु औषधि के समान कोई शास्त्रचर्चा भी रस के संयोग से मधुवत बन जाती है ।

दण्डी का समय आचार्य बलदेव उपाध्याय ने सप्तम शतक का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया है । रस के प्रति दण्डी की दृष्टि भामह से साम्य रखती है ।

फिर भी ये कविता के लिए रसों के महत्व को स्वीकार करते हैं । दण्डी की काव्य - परिभाषा अतिसाधारण है । शब्द अर्थात् पदावली को ही काव्य मानते हैं । गुणों को काव्य की आत्मा मानते हुए भी कवि होने के नाते वे रसादि के महत्व को समझकर उन्हें गुणों के समान ही काव्य का आवश्यक अंग मानते दिखाई पड़ते हैं । मधुर गुण का सम्बन्ध रस से बताते हुए दण्डी ने कहा है कि रसवत् वाक्य ही मधुर होता है अतएव रस एवं माधुर्य एक ही पदार्थ है । जिस शब्दार्थजन्य आह्लादकता से सहृदयगण मस्त हो जायें उसे रस सिंचन की क्षमता रखते हैं । दण्डी को रस-प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान है । स्थायी भाव एवं रस के भी भेद किये हैं । विभाव, अनुभाव एवं संचारी से पुष्ट स्थायी भाव को ही रस मानकर दण्डी ने उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । दण्डी के विवेचन पर भरत एवं भामह दोनों का संयुक्त प्रभाव है ।

आचार्य वामन का आविर्भाव काल सं0 800 का मध्य काल माना जाता है । वामन ने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में काव्य की परिभाषा इस प्रकार से दी है - गुणों तथा अलंकारों से भूषित शब्द और अर्थ के काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है । आचार्य वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं । रस के प्रति वामन का मत दण्डी से मिलता - जुलता है । वामन ने गुणों का वर्णन करते हुए रस को उसका एक आवश्यक तत्व बतलाया है एवं कान्ति गुण के अन्तर्गत रस का समावेश किया । समस्त काव्य भेदों में नाटक को श्रेष्ठ बताकर प्रकारान्तर से रस के महत्व को स्वीकार किया है । केवल श्रृंगार रस का उदाहरण देकर अन्य रसों का उल्लेख नहीं किया है । वामन का महत्व इसी दृष्टि से आंका जा सकता है कि इन्होंने रस को अलंकार के फंदे से निकालकर गुण में लगा दिया ।

उद्भट का समय 750-850 ई0 सिद्ध होता है । उद्भट अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी रस के पृष्ठपोषक हैं । भामह एवं दण्डी से अपेक्षाकृत विस्तृत रूप से रस का विवरण प्रस्तुत किया है । दोनों आचार्यों ने केवल रसवत्,

प्रेयस एवं ऊर्जस्वी अलंकारों का ही वर्णन किया था किन्तु उद्भट ने एक नवीन अलंकार समाहित की कल्पना की । जहाँ पर भाव, रसाभास एवं भावाभास की शान्ति का उल्लेख हो वहाँ पर समाहित अलंकार होता है, किन्तु दूसरे रसों के अनुभाव आदि का वर्णन न हो रस के क्षेत्र में अत्यन्त महत्व की बात कही है । शान्त रस को नाटक में स्थान दिया है । रसों के अनुभव के लिए भाव का विकास स्पष्ट रूप से उपस्थित किया । उद्भट अलंकारमत के साथ ही साथ रसवाद के भी समर्थक थे ।

रूद्रट का समय विक्रमीय नवम् शताब्दी का मध्यकाल जान पड़ता है । रूद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस का विवेचन काव्य की दृष्टि में रख कर किया है । भरत की रस-मीमांसा नाटक पर आधारित थी किन्तु रूद्रट का रस-सिद्धान्त काव्य की दृष्टि से निर्मित हुआ है । रस के अभाव में कोई भी काव्य शास्त्र की भाँति नीरस हो जाता है अतः कवियों को रस निरूपण सतर्क होकर करना चाहिए । रस को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं । रस को काव्य का सर्वाधिक उपयोगी तत्व मानते हुए रूद्रट ने बताया है कि रस के समावेश से काव्य में मोहकता आ जाती है और पुरूष उसमें रमण करने लगता है । इनका रस-विवेचन विस्तृत एवं वैज्ञानिक है । भरत के आठ रसों की संख्या दश कर दी है तथा शान्त एवं प्रेयान् को रस के अन्तर्गत स्थान दिया है । रूद्रट की रस मीमांसा भरत से प्रभावित है । रूद्रट का आविर्भाव ऐसे सन्धि स्थल में हुआ था जब अलंकार, गुण एवं रीति सिद्धान्तों की तूती बोलती थी एवं ध्वनि सम्प्रदाय विकास के गर्भ में अँगड़ाई ले रहा था, ऐसे सन्धियुग में रूद्रट का रस-विवेचन उनकी आधारभूत दृढ़ता का परिचायक था ।

आचार्य आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र में अमर है । 'ध्वन्यालोक उनकी उज्ज्वल कीर्ति को सदा आलोकित करता रहेगा । ध्वन्यालोक में रस

भाव, रसाभास, रसों के विरोधाविरोध तथा रस दोषों की ओर भी संकेत है । राजशेखर की काव्यमीमांसा में रस को आत्मा की संज्ञा दी गई है । मुकुलभट्ट प्रतिहारेन्दुराज के गुरु थे । इन्होंने अपनी कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' में मुख्य और लाक्षणिक शब्दों का विस्तार से विवेचन किया है । । रससूत्र के व्याख्याकारों में भट्टनायक का मुख्य स्थान है । भट्टनायक की कृति हृदयदर्पण अनुपलब्ध है । रसनिष्पत्ति के विषय में भट्टनायक का भुक्तिवाद भी अपना विशेष स्थान रखता है । कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं । कुन्तक ने भामह, दण्डी, उद्भट तथा आनन्दवर्धन को उद्धृत किया है तथा यथावसर उनकी आलोचना भी की है । अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी के लगभग निर्धारित किया गया है । काव्य प्रकाशकार ने रस सिद्धान्त के निरूपण में अभिनवगुप्त का अत्यन्त सम्मान के साथ उल्लेख किया है । प्राय: सभी उच्चकोटि के लेखकों ने रस के विवेचन में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है । दशरूपककार का प्रमुख उद्देश्य वस्तु, नेता और रस का विश्लेषण है । पी० वी० काणे का मत है कि रस निष्पत्ति के विषय में वे भट्टनायक के अनुयायी हैं । प्रो० कीथ का विचार है कि अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त ही दशरूपककार अभिमत है । वस्तुत: रस के विषय में उनका एक विशिष्ट मत प्रतीत होता है । महिमभट्ट का समय एकादश शताब्दी के लगभग माना जाता है । व्यक्ति विवेककार के अनुसार रस अनुमेय ही है । भोजराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है । सरस्वतीकण्ठाभरण, एवं शृंगारप्रकाश में रस, भाव आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है । एकमात्र शृंगार को रस मानकर अन्य रसों को उनका विकार मानना तथा आठ रसों का निरूपण किया गया है । एकादश शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय साहित्य गगन के आचार्य मम्मट के रूप में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय हुआ । काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रस-सिद्धान्त का विशद विवेचन किया गया है ।

संस्कृत साहित्य में रसमत का सर्वतोभावेन प्राधान्य है । भरतमुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है और इसीलिए रस को नाट्यरस की संज्ञा दी है । आलंकारिकों ने इसे श्रव्य-काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है । रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य माना जाता है । इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस फीका तथा उद्वेगकर होता है । इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव-विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है । रस की संख्या के विषय में भी मतभेद है । आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है - शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत । शान्त रस नवम् रस माना जाता है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है । धनञ्जय शान्त रस का नाट्य में निषेध करते हैं परन्तु अभिनवगुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं । रूद्रट 'प्रेयान' नामक रस को विश्वनाथ कविराज ने 'वात्सल्य' को गौड़ीय वैष्णवों ने 'मधुररस' को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत बढ़ा लिया है ।

रस-सिद्धान्त संस्कृत साहित्य का सबसे प्राचीन, व्यापक एवं बहुमान्य सिद्धान्त है । ध्वनि की स्थापना से पूर्व अलंकार एवं रीति सिद्धान्तों के अन्तर्गत भी रस की एकान्त उपेक्षा नहीं हुई थी । अलंकारवादियों ने रसवत् अलंकार के रूप में और रीतिकार ने रीति के आधारभूत गुण के पोषक तत्त्व के रूप में उसे शब्दार्थ - काव्य का शोभाधायक धर्म मान लिया था । कुन्तक ने यद्यपि वक्रता को ही काव्य की प्राण चेतना माना, फिर भी रस के प्रति उनके मन में अबाध आकर्षण था - रस को उन्होंने वक्रता की समृद्धि का मुख्य आधार माना । ध्वनि और रस का सम्बन्ध और भी अन्तरंग है क्योंकि दोनों की प्रकल्पना

सहृदयनिष्ठ है । ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में रसध्वनि को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है । भोजराज भी समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बांटते हैं - §1§ स्वभावोक्ति §2§ वक्रोक्ति तथा §3§ रसोक्ति । इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है । विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है । भरत ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया ।

इस प्रकार रस एक व्यापक शब्द है । वह विभावानुभावव्यभिचारि संयुक्त स्थायी - अर्थात परिपाक अवस्था का ही वाचक नहीं है वरन् उसमें काव्यगत सम्पूर्ण भाव-सम्पदा का अन्तर्भाव है । अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भाव-सौन्दर्य का पर्याय है, शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौन्दर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है । काव्य के अनुशीलन से प्राप्त रागात्मक अनुभूति के सभी रूप और प्रकार सूक्ष्म और प्रबल, सरल और जटिल, क्षणिक और स्थायी संवेदन, स्पर्श, चित्तविकार, भावबिम्ब, संस्कार, मनोदशा, शील सभी रस की परिधि में आ जाते हैं ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
1- अलंकारशास्त्र का इतिहास	डा० कृष्ण कुमार, देव वाणी परिषद, दिल्ली, 1982 ।
2- अभिनवगुप्त के साहित्य सिद्धान्त	डा० आभा श्रीवास्तव, नारायण प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1987 ।
3- अलंकार - संग्रह	अमृतानन्द योगी, अड्यार लाइब्रेरी, 1949 ।
4- अलंकार प्रस्थान विमर्श	डा० लक्ष्मी नारायण सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1979 ।
5- अभिनव - नाट्यशास्त्र	पं० सीताराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, वि० सं० 2021 ।
6- अग्निपुराण	व्यास, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 1900 ।
7- अलंकार कौस्तुभ	विश्वेश्वर पण्डित, काव्यमाला - 66 निर्णय - सागर, 1898 ।
8- अलंकार कौस्तुभ	कविकर्णपूर, कलकत्ता संस्करण, 1926 ।
9- अलंकार प्रदीप	पर्वतीय विश्वेश्वर पण्डित, काशी संस्करण, 1923 ।
10- अलंकार-मंजूषा	देव शंकर, आर्य संस्कृति प्रेस, पूना, 1940 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
11- अभिनव भारती	अभिनवगुप्त, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा; 1963 ।
12- [अभिनवगुप्त] ध्वन्यालोक - लोचनटीका	जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी वि0 सं0 2021 ।
13- [अभिनवगुप्त] ध्वन्यालोक - लोचनटीका[द्वितीय भाग]	रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना; 1963 ।
14- आचार्य दण्डी एवं संस्कृत - काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन-	डा0 जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1968 ।
15- आचार्य भरत	डा0 शिवशरण वर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1971 ।
16- आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास	डा0 जयशंकर त्रिपाठी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968 ।
17- आनन्दवर्धनाचार्य विरचित: ध्वन्यालोक	डा0 रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना; 1973 ।
18- औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र हरिहर प्रकाशन, श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, रामनगर, वाराणसी वि0 वि0 2017 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
18अ- आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र	डा0 आनन्द कुमार श्रीवास्तव, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 1990 ।
19- इन्ट्रोडक्शन टू भरताज नाट्यशास्त्र	श्री आद्य रंगाचार्य, पापुलर प्रकाशन बम्बई; 1966
20- एन्शण्ट इण्डियन थियेटर	श्री डी0 आर0 मनकद, चरोतर बुक स्टाल, आनन्द; 1960 ।
21- कवि और काव्यशास्त्र	डा0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय, राका प्रकाशन, इलाहाबाद; 1981 ।
22- काव्यालंकार	श्री रामदेव शुक्ल, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी; 1967 ।
23- काव्यालंकार सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या	डा0 राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ; 1966 ।
24- काव्यशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का विवेचन	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली; 1975 ।
25- काव्यालंकार कारिका	रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1977 ।
26- काव्यादर्श	धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, मेहरचन्द्र लक्ष्मन दास, दिल्ली; 1973 ।

ग्रन्थ ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
27- काव्य का स्वरूप	डा० कमलादेवी, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद; 1987 ।
28- काव्यशास्त्र में रस-स्वरूप	डा० रवि प्रकाश, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1981 ।
29- काव्य-दर्पण	विद्या वाचस्पति पंडित रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना; 1973 ।
30- काव्य समीक्षा [तुलनात्मक विश्लेषण]	डा० विक्रमादित्य राय, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी; 1967 ।
31- काव्यालंकार [श्री भामहा - चार्येणविनिर्मित:]	पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1981 ।
32- काव्यालंकार	भामह, बाल मनोरमा सीरीज, मद्रास; 1956 ।
33- काव्य प्रकाश	मम्मट, बालबोधिनीटीका सहित, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, सप्तम संस्करण, 1965 ।
34- काव्यालंकार [नमिसाधु टीका सहित]	रुद्रट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ।
35- काव्य मीमांसा	राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याभवन, वाराणसी, 1964 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
36- दशरूपक तत्त्वदर्शनम्	रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृत संस्थान, नारी बारी, इलाहाबाद; 750 ।
37- ध्वन्यालोक लोचन	राम सागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास; 1963 ।
38- ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन, गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली; 1952 ।
39- नाट्यशास्त्रम्	श्री बाबू लाल शुक्ल, शास्त्री चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस; वि0 सं0 2029 ।
40- नाट्यशास्त्र (मूल अध्याय - 1-27 का अंग्रेजी अनुवाद)	श्री मनमोहन घोष, मनीषा ग्रन्थमाला, कलकत्ता; 1967 ।
41- नाट्यशास्त्रम् भाग - 4	श्री रामकृष्ण कवि, ओरियण्टल, इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा; 1964 ।
42- नाट्यशास्त्र	भरत, निर्णय सागर प्रेस, 1943 ।
43- नाट्यशास्त्र	भरत, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा ।
44- नाट्य दर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली, विश्वविद्यालय; 1964 ।
45- भक्ति रसामृत सिन्धु	जीव गोस्वामी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; 1963 ।
45 अ- भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्रम्	डा0 रवि शंकर नागर, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, अहमदाबाद, Vol I, 1981, Vol II, 1984

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
46- भरत का नाट्यशास्त्र	रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; वाराणसी, पटना; 1943 ।
47- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त	प्रो० राजवंश सहाय'हीरा' चौखम्बा विद्या - भवन, वाराणसी - 1; 1967 ।
48- भानुदत्त विरचित रसतरंगिणी	उर्मिल शर्मा, परिमल पब्लिकेशन्स शक्ति नगर, दिल्ली; 1988 ।
49- भाव प्रकाशन	डा० मदन मोहन अग्रवाल,(वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन; 1983 ।
50- भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण	श्री वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, प्रयाग; 1967 ।
51- भारतीय साहित्य शास्त्र	पं० बलदेव उपाध्याय, नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी; 1963 ।
52- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान	डा० जगदीश प्रसाद कौशिक, साहित्यागार, जयपुर; 1988 ।
53- भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन	डा० सत्यदेव चौधरी, डा० शान्ति स्वरूप गुप्त अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, 1971 ।
54- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त	प्रो० राजवंश सहाय'हीरा' चौखम्बा विद्या - भवन, वाराणसी; 1967 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
55- भामह विरचित काव्यालंकार	प्रो0 देवेन्द्र नाथ शर्मा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना; 1962 ।
56- भारतीय काव्यांग	डा0 सत्यदेव चौधरी, साहित्य भवन, प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग; 1959 ।
57- [महिमभट्ट] व्यक्ति विवेक	प्रो0 रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1966 ।
58- रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा	डा0 कृष्णदेव झारी, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़; 1965 ।
59- रस-गंगाधर	चिन्मयी माहेश्वरी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर - 4; 1974 ।
60- रस-मंजरी	राम सुरेश त्रिपाठी, संसार प्रिंटिंग प्रेस, अलीगढ़; 1981 ।
61- रस गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ; 1987 ।
62- रस-निरूपणम्	डा0 राजेन्द्र मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद; 1986 ।
63- रस-तरंगिणी	श्री कृष्णदास, जयपुर राजकीय संस्कृत पाठशाला के न्यायशास्त्राध्यापक; 1956 ।
64- रस-कौस्तुभ	डा0 ब्रह्म मित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली; 1987 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
65- रस मंजरी	कवि शेखर पण्डित बद्रीनाथ शर्मा, श्री हरि - कृष्ण निबन्ध भवन, 1960 ।
66- रस-कौमुदी	डा० ए०, एन० जैन, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1987 ।
67- रस-सिद्धान्त और नाटक	डा० सुन्दर लाल कथूरिया, देव वाणी परिषद, दिल्ली, 1985 ।
68- रस और रसास्वादन	डा० हरिद्वारी लाल शर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1985 ।
69- रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन	डा० गणपति चन्द्र गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1971 ।
70- रस-सिद्धान्त	डा० नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; तृतीय संस्करण, 1974 ।
71- रस-सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण	आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1972 ।
72- रस रत्न प्रदीपिका संक्षिप्त इतिहास	अल्लराज, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, 1945 ।
73- रस चन्द्रिका	विश्वेश्वर पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी; 1983 ।
74- रूपक अलंकार सर्वस्व	राघवन, मेहरचन्द्र लक्ष्मन दास, दिल्ली, 1965 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
75- रुद्रट प्रणीत काव्यालंकार	डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली - 6 ; 1965 ।
76- संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	हंसराज अग्रवाल, लाहौर संस्करण, 1947
77- संस्कृत साहित्य का इतिहास	द्वारका प्रसाद, आगरा; 1954 ।
78- संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास	राम बिहारी लाल, कानपुर; 1953
79- संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव	डा० अमरजीत कौर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी; 1979 ।
80- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, वाराणसी, पटना ।
81- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	डा० सुशील कुमार डे, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना; 1973 ।
82- संस्कृत आलोचना	बलदेव उपाध्याय, ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश; 1957 ।
83- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	डा० इन्द्र चन्द्र [अनुवादक] मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966 ।
84- संस्कृत साहित्य का इतिहास	श्री कन्हैया लाल पोद्दार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; वि० सं० 2019 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
85- संस्कृत नाटक	श्री उदयभान सिंह (अनुवादक), मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965 ।
86- संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन	डा० रघुवीर शरण, श्री लाल बहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली; 1973 ।
87- समीक्षा शास्त्र	पं० सीताराम चतुर्वेदी, कृष्णदास अकादमी वाराणसी; 1983 ।
88- समीक्षाशास्त्र	डा० कृष्णनाग 'हंस' ग्रन्थम रामबाग, कानपुर; 1975 ।
89- संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास	अनिरुद्ध जोशी, अजन्ता पब्लिकेशन्स (इण्डिया) जवाहर नगर, दिल्ली - 6, 1984 ।
90- संस्कृत नाट्यकला	डा० रामलखन शुक्ला, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना; 1970 ।
91- संस्कृत काव्य परिभाषाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	डा० कुमारी मृदुला जोशी, क्रडोविजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद; 1986 ।
92- साधारणीकरण और समान्तर-चिन्तन की पूर्वपीठिका	डा० सुलेख चन्द्र शर्मा, देववाणी परिषद, दिल्ली; 1982 ।
93- श्रीभरत मुनि प्रणीत - नाट्यशास्त्रम्	पं० बटुक नाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि० सं० 2036 ।

ग्रन्थ	संपादक, लेखक एवं प्रकाशक
94- श्री धनञ्जय विरचितं दशरूपकम्	डा0 श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ; 1969 ।
95- श्री विश्वनाथ कविराज कृत: साहित्य दर्पण:	श्री शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना, मद्रास; 1977 ।
96- श्रीमदानन्द वर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक	डा0 कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, मेरठ, चतुर्थ संस्करण; 1985 ।
97- श्री मम्मटाचार्य विरचित काव्य प्रकाश:	डा0 श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ; 1960 ।
98- श्रीवाग्भटाचार्य विरचित: अलंकार समुच्चय:	पं0 श्री धर्मानन्द शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना; 1962 ।
99- श्री भरत मुनि प्रणीत सचित्रम नाट्यशास्त्रम्	श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी; 1984 ।
100- शृंगाररस भावना और विवेचन	रमाशंकर जेतली, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ; 1972 ।
101- साहित्य दर्पण	पं0 दुर्गा प्रसाद द्विवेदी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
102- हिन्दी काव्यालंकार - सूत्राणि	डा0 ब्रेवन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी; 1976 ।
103- हिन्दी अभिनव - भारती	आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1960 ।

1. BHOJA'S SRINGARA PRAKASH - V. RAGHAVAN, 7 SRI KRISHNAPURAM STREET, MADRAS - 14, 1963 .

2. HISTORY OF INDIAN LITERATURE VOL. III, PART- 1 - M. WINTERNITZ, MOTILAL BANARASI DASS, DELHI, PATNA, VARANASI, 1963.

3. HISTORY OF SANSKRIT POETICS- P.V. KANE, MOTILAL BANARASI DASS, DELHI, VARANASI, PATNA, 1961.

4. HISTORY OF SANSKRIT POETICS -S.K. DE, MOTILAL BANARASI DASS, DELHI, VARANAS, PATNA, 1960.

5. SOME CONCEPTS OF ALANKARA - SASTRA. - V. RAGHVAN, THE ADYAR LIBRARY AND RESEARCH CENTRE, 1942.

काव्य-ग्रन्थ

1- अभिज्ञान शाकुन्तल — कालिदास, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1950 ।

2- अमरूकशतक — अमरू, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 1961 ।

3- उत्तररामचरित — भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1953 ।

4- कादम्बरी — बाणभट्ट, साहित्य भण्डार, मेरठ ।

5- कुमारसम्भव — कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1955 ।

6- किरातार्जुनीय — भारवि; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1952 ।

7- नागानन्द — हर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1956 ।

8- महाभारत — व्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

9- महाभारत — व्यास, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ।

10- महावीरचरित — भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, 1955 ।

11- माघकाव्य — माघ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1957 ।

12- मालतीमाधव — भवभूति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1936 ।

13- मालविकाग्निमित्र — कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1950 ।

14- मुद्राराक्षस — विशाखदत्त, साहित्य भण्डार, मेरठ ।

15- मृच्छकटिक — शूद्रक, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1968 ।

16- मेघदूत	कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1935 ।
1[illegible]- रघुवंश	कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1935
18- रत्नावली	हर्ष, साहित्य भण्डार, मेरठ ।
19- रामायण	वाल्मीकि निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1929 ।
20- विक्रमोर्वशीय	कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1953 ।
21- वेणीसंहार	भट्टनारायण, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1960 ।
22- ऋतुसंहार	कालिदास, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, वि० सं० 2007 ।
23- हनुमन्नाटक	दामोदर मिश्र, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता 1890 ।

का० प्र०	काव्य प्रकाश
का० प्रदी०	काव्य प्रदीप
का० मी०	काव्यमीमांसा
काम०	कामसूत्र
का० की भू०	कालिदास की भूमिका
का० की ला० यो०	कालिदास की लालित्य योजना
क०	कठोपनिषद
छा०	छान्दग्योपनिषद
तन्त्र०	तन्त्रालोक
तै०	तैत्तिरीय उपनिषद
दश०	दशरूपक
ध्व०	ध्वन्यालोक
ध्व० लो०	ध्वन्यालोकलोचन
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
ना० द०	नाट्य दर्पण
नाग०	नागानन्द
प्रताप०	प्रतापरुद्रीय
पा० अ०	पाणिनी अष्टाध्यायी
प्र० द०	प्रत्यभिज्ञा दर्शन

भ0 ना0 म0	भरतनाट्यमंजरी
भा0 प्र0	भावप्रकाशन
भा0 सा0 शा0	भारतीय साहित्य शास्त्र
भक्तिरसामृत0	भक्तिरसामृतसिन्धु
म0 स्मृ0	मनुस्मृति
म0 स्त्री0 प0	महाभारत स्त्री पर्व
मा0 मा0	मालतीमाधव
मुण्ड0	मुण्डकोपनिषद
मा0 मि0	मालविकाग्निमित्रम्
य0 च0	यशस्तिलकचम्पू
यजु0	यजुर्वेद
याज्ञ0	याज्ञवल्क्य शिक्षा
र0 क0	रसकलिका
रघु0	रघुवंश
रा0 त0	राजतरंगिणी
रामा0	रामायण
र0 गं0	रस गंगाधर
र0 गं0 का0 शा0 अ0	रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन

रस0 प्र0	रसरत्नप्रदीपिका
र0 सि0	रस सिद्धान्त
र0 सि0 का0 क0 वि0	रस सिद्धान्त का क्रमिक विकास
व0 जी0	वक्रोक्ति जीवित
वा0 रा0	वाल्मीकि रामायण
वि0 व0	विक्रमोर्वशीय
वे0 सं0	वेणीसंहार
वैराग्य	वैराग्यशतक
बृ0	बृहदारण्यकोपनिषद
व्य0 वि	व्यक्तिविवेक
बा0 लि0	बायोग्राफिया लिट्रेरिया
प्रि0 आ0 लि0 क्रि0	(प्रिंसिपल आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म)
शा0 प0	शारंगधर पद्धति
एस0 पी0 ओ0 एस0 पी0	सम प्राबलम्स आफ संस्कृत पोइटिक्स
सं0 र0	संगीतरत्नाकर
स0 क0	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा0 कौ0	साहित्यकौमुदी
सा0 द0	साहित्यदर्पण
सि0 कौ0	सिद्धान्त कौमुदी
श्री0 म0 भ0 गी0	श्रीमद्भागवतगीता
शृ0 प्र0	शृंगार प्रकाश

शृ० ति०	शृंगार तिलक
ऋ०	ऋग्वेद